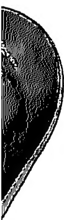
कालिदास : अपनी बात
[भारतीय दृष्टि]


वीणाधर चतुर्भुज शिव

रेवाप्रसाद द्विवेदी
सनातन

कालिदास : अपनी बात
[भारतीय दृष्टि]

रेवाप्रसाद द्विवेदी
सनातन



कालिदास : अपनी बात

(भारतीय दृष्टि)



महामहोपाध्याय

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी



कालिदाससंस्थान, वाराणसी-५

२००४

कालिदासः अपनी बात

कालिदाससाहित्य पर नए तथ्य, पुराने कथ्य
(साहित्यसमीक्षा).

ग्रन्थकार : रेवाप्रसाद द्विवेदी

सम्पादक : डॉ० सदाशिवकुमार द्विवेदी
वरिष्ठ प्रवक्ता,
संस्कृतविभाग, कलासंकाय
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय

प्रकाशनवर्ष : २००४

मूल्य : रु० ३५०.००

प्रकाशक —
सचिव,
कालिदाससंस्थान, (रजि. ४२३/८८–८९)
२८ महामनापुरी, वाराणसी–५
दूरभाष (०५४२) २५७०६८२

मुद्रक :
त्र्यम्बकम् आफसेट प्रिण्टर्स,
श्री रामकृष्ण प्रज्ञा भवन,
८/८७ आर्यनगर, कानपुर
दूरभाष : (०५१२) २५४५५५३, २२९२८१५

KĀLIDĀSA : APANĪ BĀTA

(Author's Own View)

(Oriental Persuasion)

Mahāmahopādhyāya
Ācārya Rewāprasāda Dwivedī

Kālidāsasamsthāna, Vārānasī
2004

Kālidāsa : Apanī Bāta
(Literary Criticism)

Writer : Rewāprasāda Dwivedī

Editor : Dr. Sadāśiva Kumāra Dwivedī
Sr. Lecturer, Dept. of Sanskrit,
Faculty of Arts, B.H.U.

Published in 2004

Price : Rs. 350.00

Publisher :
Secretary,
Kālidāsa Samsthāna, (Reg. 423/88-89)
28, Mahamanapuri, Varanasi-5
Tel. : (0542) 2570682
e-mail : sadashivdwi@yahoo.co.in

Printer :
Trayambakam Offset Printers,
Śrī Rāmakriṣṇa Prajñābhavana,
8/87, Aryanagar, Kanpur.
Tel. (0512) 2545553, 2292815



वीणाधर चतुर्भुज शिव

सम्पादकीय

कालिदाससंस्थान द्वारा इसके संस्थापक पूज्य पिताजी म०म० आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा अद्यावधि की गयी कालिदाससाहित्यविषयक सभी मौलिक स्थापनाओं को संकलित कर **'कालिदास : अपनी बात'** इस ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। पिछले ५० से भी अधिक वर्षों से राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न पत्र—पत्रिकाओं में हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत भाषा में प्रकाशित शोधपत्रों में कालिदाससाहित्य से सम्बन्धित आचार्य द्विवेदी के मौलिक विचार प्रकाशित होते आ रहे हैं। आचार्य द्विवेदी ने इसी अवधि में कालिदास की सातों कृतियों के मूलपाठ को सम्पादित कर उसके दो प्रामाणिक संस्करण 'कालिदासग्रन्थावली'[१] के रूप में प्रकाशित कराने का भी अभूतपूर्व कार्य किया है। कालिदासग्रन्थावली का तीसरा संस्करण भी वे तैयार कर चुके हैं। इसके लिए उन्होंने तीनों नाटकों और ऋतुसंहार सहित तीनों काव्यों के हस्तलेख स्वयं लिखकर तैयार किये हैं और नाटकों की प्राकृत भी व्यवस्थित की है। अनेक स्थानों पर विकीर्ण आचार्य द्विवेदी के कालिदाससाहित्यविषयक मौलिक चिन्तन को संगृहीत कर उसका प्रकाशन कई वर्षों से प्रतीक्षित था। एक लघुकाय ग्रन्थ के रूप में वह प्रस्तुत है इस प्रकाशन में।

आचार्य द्विवेदी कालिदाससाहित्य के जागरूक अध्येता हैं। न वे कालिदास के भक्त हैं न अरोचकी पाठक। साहित्यशास्त्र का प्रौढ़ वैदुष्य है उनके अध्ययन की पीठिका। कालिदाससाहित्यविषयक शोधपूर्ण कार्यों में उनकी दृष्टि नितान्त गवेषणापूर्ण, नवीन, तलस्पर्शी तथा महाकवि की आत्मा का स्पर्श करने वाली है। इस ग्रन्थ में संगृहीत आचार्य द्विवेदी की स्थापनाओं में कालिदाससाहित्य से सम्बन्धित अनेक नवीन तथ्यों को संस्कृतसाहित्यजगत् में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें प्रमुख हैं—

प्राचीन टीकाकारों तथा वर्तमान समालोचकों के मध्य कालिदास अनेक नामों से जाने जाते हैं। इन सभी नामों के प्रचलन की सार्थकता पर आचार्य द्विवेदी ने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। कालिदास का व्यक्तिगत परिचय तथा संस्कृतसाहित्य की सुदीर्घ परम्परा में इस महाकवि को प्राप्त होते आ रहे अभूतपूर्व समादर की इस ग्रन्थ में सन्दर्भपूर्ण प्रस्तुति परिचायक है इस महाकवि की लोकप्रियता की।

---

१. **कालिदासग्रन्थावली** (प्रथम संस्करण १९७६ तथा द्वितीय परिवर्धित संस्करण १९८६), प्रकाशक: प्रकाशनाधिकारी, प्रकाशन विभाग, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी—५

कालिदास के नाम से प्रचलित सात कृतियों में 'ऋतुसंहार' को आचार्य द्विवेदी अन्य छ: कृतियों के रचयिता कालिदास से भिन्न कालिदास द्वारा विरचित मानते हैं। अधिकांश टीकाकारों में मेघदूत 'मेघसन्देश' के नाम से प्रसिद्ध है। उनके अनुसार रामगिरि से अलका तक के मेघमार्ग तथा यक्षी तक पहुँचाये जाने वाले यक्ष के सन्देश, इन दो भागों में इस खण्डकाव्य को महाकवि द्वारा स्वयं विभक्त किए जाने से 'मेघसन्देश' इस नाम को बल मिलता है। आचार्य द्विवेदी की मान्यता है कि कुमारसंभव (अष्टमूर्त्तिमहाकाव्य) में १–८ सर्ग ही कालिदासविरचित हैं, जहाँ संभव शब्द का अर्थ है सुनिश्चित उत्पत्ति। ९–१७ सर्ग की 'तारकवधम्' संज्ञा होनी चाहिए जिसका रचयिता 'शङ्करदेव' नामक कवि है। इस अंश का कविकर्म स्तरीय न होने से इसे कालिदास की रचना नहीं माना जा सकता। रघुवंश (गभीरमहाकाव्य) में चित्रित है मानव की अभूतपूर्व प्रगति। गत्यर्थक 'रघि' धातु से निष्पन्न 'रघु' शब्द प्रगतिशील मानवजाति का द्योतक है। इसमें उस वंश का वर्णन है जिसमें १६ विशेष गुण सुरक्षित थे। मालविकाग्निमित्र में राष्ट्र के अन्त:कलह की शान्ति है मुख्य प्रयोजन कवि का। ललितकलाओं के सन्निवेश से इस नाटक का सम्पूर्ण घटनाचक्र आकर्षक बन गया है। आचार्य द्विवेदी 'अशोक' (तपनीयाशोक या रक्ताशोक) को कालिदास का बोधिवृक्ष मानते हैं क्योंकि तीनों ही नाटकों में नायकों का शोक दूर होता है इसके उल्लेख से। मनुष्य जाति के पुरुष और दिव्य जाति की नारी के मध्य प्रणयबन्ध की कथा है विक्रमोर्वशीय। रोमाण्टिसिज्म के तत्त्व इस नाटक में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। इसके चतुर्थ अंक की दो वाचनाएँ मिलती हैं–नृत्यगीति से रहित शुद्धप्रयोग तथा नृत्यगीति से युक्त चित्रविधि।

अभिज्ञानशाकुन्तल में 'शाकुन्तल' शब्द महाभारत से लिया गया है। इसके नाम की दो परम्पराएँ हैं 'अभिज्ञानशकुन्तल' और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मानने वाली। आचार्य द्विवेदी के अनुसार इस नाटक में अधिकतम दस अभिज्ञान हैं। इस नाटक के सात अंकों में से प्रथम तीन तक है (अभिज्ञान) शकुन्तलम्, ४ और ५ अंकों में है (अभिज्ञान) शाकुन्तलम् और ६ तथा ७वें अंक में अभिज्ञानशाकुन्तलम्। शकुन्तल, शाकुन्तल और अभिज्ञान शीर्षकों के अन्तर्गत इन पर विस्तापूर्वक विचार किया गया है। चतुर्थ अंक तथा उसमें प्राप्त श्लोकचतुष्टय पर भी आचार्य द्विवेदी ने स्वतन्त्र विवेचन प्रस्तुत किया है।

कलिदास की तिथि का निर्धारण उल्लेखों के आधार पर न कि अनुल्लेखों के आधार पर करने के पक्षधर हैं आचार्य द्विवेदी, जिसके पक्ष में हैं पुरातात्विक साक्ष्य भी। आचार्य द्विवेदी कालिदास को २०७० वर्ष पूर्व स्थित मानते हैं। कालिदास न

विक्रमादित्य के समकालीन हैं और न गुप्तकालीन, क्योंकि उनके साहित्य में न विक्रमादित्य का उल्लेख है और न किसी भी गुप्त राजा का। शुङ्गों की तीन पीढ़ियों तथा उनकी ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का उल्लेख कालिदाससाहित्य में होने के कारण कालिदास का समय शुङ्गों के शासन के उत्तरार्द्ध और संवत्प्रवर्तक विक्रमादित्य के पहले का ही है तर्कसिद्ध। आचार्य द्विवेदी के अनुसार कालिदास के स्थितिकाल के लिए कोई निश्चायक हेतु अभी तक प्राप्त नहीं है। अत: इस विषय में हेत्वाभास का ही सहारा लेना पड़ता है। शुङ्गपक्षीय हेत्वाभास बलवत्तर हैं गुप्तवंशीय हेत्वाभासों की अपेक्षा। अत: शुङ्ग और विक्रमादित्य के सन्धिकाल में कालिदास के होने का पक्ष मान्य किया जा सकता है। प्रसन्नता की बात है कि डॉ० गोविन्दचन्द्र जी पाण्डे ने भी यही पक्ष मान्य किया है, जैसा कि उनकी 'भागीरथी' (पृ० १८६) से स्पष्ट है।

शाकुन्तल की इक्की दुक्की प्रति की प्रस्तावना में जो विक्रमादित्य साहसाङ्क शब्द मिलता है उससे आचार्य द्विवेदी इतना ही निष्कर्ष निकालते हैं कि साहसाङ्क विक्रमादित्य के समय शाकुन्तल का प्रयोग हुआ होगा, अत: प्रयोगकर्त्ताओं की ओर से जोड़ दिया गया है यह वाक्य। यदि स्वयं कालिदास ने इसे लिखा होता तो वह शाकुन्तल की सभी प्रतियों में समान रूप से मिलता। दूसरे यह वही विक्रमादित्य है जिसका नाम था विक्रमादित्य और उपाधि थी साहसाङ्क। परवर्त्ती सभी विक्रमादित्यों के नाम चन्द्रगुप्त आदि हैं और केवल उपाधि है विक्रमादित्य।

कालिदासकालीन लिपि ब्राह्मी थी अत: कालिदास ने इसी लिपि में अपने सम्पूर्ण साहित्य को लिखा होगा। प्रान्तीय लिपियों तथा देवनागरी में इस साहित्य को लिखे जाते समय सूक्ष्म अन्तरों को ध्यान में न रखने से कालिदाससाहित्य में पाठान्तरों की संख्या बढ़ गयी। ब्राह्मी लिपि का अभ्यासकर उसकी प्रवृत्ति के आधार पर कालिदाससाहित्य के अनेक पाठों को संशोधित किया है आचार्य द्विवेदी ने। आवश्यकता है हस्तलिखित पाण्डुग्रन्थों के रूप में ग्रन्थागारों में बँधी पड़ी कालिदाससाहित्य से सम्बन्धित विशाल सामग्री के अध्ययन की। यह सहायक सिद्ध होगी कालिदास के अनेक अनुद्घाटित पक्षों के प्रकाशन में। नवीन शास्त्रीय मानदण्डों के आधार पर आचार्य द्विवेदी ने कालिदास के नाट्यप्रयोग की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है।

कला में उपस्थापित विश्व प्रातिभ होता है। उसकी सत्ता शुद्ध भावात्मक है, न द्रव्यात्मक और न हि बाह्य। कविता, चित्र और मूर्त्ति की भावभूमि एक होती है। समकालीन इतिहासविदों के विपरीत आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि कविता के आयाम के व्यापक होने के कारण इसे चित्र और मूर्त्ति का उपजीव्य मानना चाहिए।

कालिदास के जीवन के पूर्वार्ध से सम्बन्धित अनेक कथाएँ प्रचलित हैं जिनमें आरम्भिक वय में उन्हें बुद्धि तथा विद्या दोनों से हीन माना गया। मूर्खता की इस अवस्था से असाधारण महाकवित्व तक के कवि के बौद्धिक विकास के क्रम की कालिदाससाहित्य में उपलब्ध कथानकों से संगति स्थापित कर अपूर्व समालोचना प्रस्तुत की है आचार्य द्विवेदी ने। कालिदास के महाकवित्व में सन्निहित है ऋषितुल्य क्रान्तदर्शित्व तथा युगदर्शित्व।

कालिदास की कविता में पूर्णता का साधक है उनका भाषा पर असाधारण अधिकार। पूर्णता से तात्पर्य ऐसे वक्तव्य से है जो अपेक्षित सभी अवयवों के साथ कथित हो। कालिदास जहाँ अनुभव के कवि हैं वहीं श्रीहर्ष कल्पना के। इसीलिए कालिदास को उपमा प्रिय है और श्रीहर्ष को उत्प्रेक्षा। कालिदास की उपमा का वैशिष्ट्य है प्रस्तुतोभयोपमा।

कालिदास की कविता का सर्वाधिक वैभव वहाँ प्रकट होता है जहाँ इससे अभिव्यक्त अर्थ सहृदय की आँखों के सामने खड़ा हो जाता है, उसके चित्त को पूर्णतः भावित करते हुए। कालिदास के राष्ट्रीय संकल्प 'सर्वः सर्वत्र नन्दतु' के हजारों वर्षों में भी चरितार्थ न हो पाने के मूल में निहित सामाजिक अपरिपक्वताओं की ओर आचार्य द्विवेदी ध्यान दिलाते हैं, जिनको महाकवि ने २१ सौ वर्ष पूर्व पँहचान लिया था। कवि की सत्ता राजसत्ता से ऊपर है। कवि ही संविधान के स्वरूप का निर्धारक है तथा धर्मोपदेशक भी। यहीं पर वर्णित है आत्माहुति का निरुपम दृष्टान्त शरभङ्ग की कथा के रूप में।

कालिदाससाहित्य में प्रतिष्ठित है सभी राष्ट्रीय समस्याओं के सफल समाधान के रूप में 'यम–नियम'–मूलक योगविद्या, जो आत्मा है हमारे देश की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा की। कालिदास के विजेता हिंसक नहीं अपितु धर्मविजयी हैं। वे शस्त्रास्त्रों के संतुलित प्रयोग के पक्षधर हैं। कालिदास अहिंसावादी अवश्य हैं परन्तु वे हिंसा को भी धर्म का स्थान देते हैं, अनिवार्य होने पर। कालिदास का ईश्वरतत्त्व सर्वज्ञ होने के साथ–साथ लोकानुग्रही है। कालिदास के सम्पूर्ण साहित्य में उपलब्ध योगविद्या के प्रतिपादक दृष्टान्तों को अक्षरशः उद्धृत करते हुए आचार्य द्विवेदी ने यहाँ धर्म के निर्विवाद तथा सार्वभौमिक स्वरूप को उद्घाटित किया है।

कालिदाससाहित्य में हरिचन्दन, सन्तानक, मन्दार, पारिजात तथा कल्पवृक्ष इन देववृक्षों का अनेक प्रसंगों में उल्लेख मिलता है। इनमें हरिचन्दन देववृक्ष व पार्थिव वृक्ष दोनों ही रूपों में उल्लिखित है। ये सभी वृक्ष अपने सुगन्धित पुष्पों व छाया के

लिए प्रसिद्ध हैं। इनका उपयोग आभूषणों के रूप में, वेदिका निर्माण में तथा अंशुकादि की सौन्दर्य वृद्धि में होता था। नन्दनद्रुम, देवारण्यद्रुमादि नामों से प्रसिद्ध कल्पवृक्ष का समान धर्म है 'याचकेच्छापूरणत्व'।

कालिदाससाहित्य शृङ्गार या आनन्द का ही साहित्य नहीं है, अपितु इसमें मर्यादा के तटबन्धों के टूटने पर दुष्परिणामस्वरूप शाप का विधान भी है। शाप मिलने, उसे भोगे जाने तथा उससे मुक्ति के ८ प्रसंग सम्पूर्ण कालिदाससाहित्य में प्राप्त होते हैं। यहाँ शापदाता स्वयं ही संयम की शिक्षा के लिए रूखा बनता है न कि क्रूरता से। इस प्रसंग में आचार्य द्विवेदी ने 'मेघदूत में शापावधि और चातुर्मास्य' पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

महाकविकालिदासविरचित 'कुमारसंभव' तथा आचार्य उद्भटकृत 'कुमारसंभव' के मध्य काव्यार्थसाम्य (संवाद) पर इस ग्रन्थ में विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। इसको भावसंवाद तथा प्रबंधसंवाद इन दो शीर्षकों में विभक्त किया गया है। उद्भट और कालिदास के ग्रन्थों में आकारसाम्य न होते हुए भी दोनों की दृष्टि और क्षमता में अन्तर समझने के लिए तुलना के उपक्रम को उपयुक्त मानते हैं आचार्य द्विवेदी। सांख्यकारिका के रचयिता आचार्य ईश्वरकृष्ण कालिदास से भिन्न थे ऐसा अनेक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया गया है।

कालिदास के कथानकों में छिपे अनेक अभिप्रायों को उद्घाटित करते हुए आचार्य द्विवेदी दिलीप के गोचारण वृत्तान्त में नन्दिनी को भौतिक गौ के साथ महाविद्या भी स्वीकार करते हैं जिसका अनुवर्तन उत्कृष्ट लाभ के निमित्त प्रत्येक मानव को करना चाहिए। उनके अनुसार दिलीप के गोचारण का आख्यान भौतिक आख्यान होने के साथ–साथ मानवशरीर में अतिमानवीय शक्तियों के अर्जन का भी आख्यान है।

कालिदाससाहित्य में 'प्रकृति' शब्द चराचरात्मक समस्त विश्व के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसमें समाहित है ब्रह्मतत्त्व से लेकर अल्पप्राण जीव तक का चेतन जगत् तथा परमाणु से लेकर हिमालयपर्यन्त सम्पूर्ण स्थावर जगत्। कालिदास ने स्त्री एवं पुरुष रूपी मानवसृष्टि के अत्यन्त स्वस्थ एवं सुन्दर स्वरूप को प्रस्तुत किया है अपनी कविता में। कालिदास इनके शारीरिक, मानसिक और शैक्षणिक विकास को विधिवत् सम्पन्न करने पर बल देते हैं। कालिदास उस रसतत्त्व के उपासक हैं जो लौकिक व अलौकिक उभयविध है। लौकिक यानी मानवात्मा का आस्वाद और अलौकिक भावी आत्मा में दिव्यता के आधान के अनन्तर होने वाला अनुभवरूप, ब्रह्मानुभव। इसी रस शब्द के लिए वैदिक वाङ्मय में 'मधु' शब्द का विधान है जिसके निर्माण की प्रक्रिया रसनिष्पत्तिप्रक्रिया से मिलती है।

महाकवि कालिदास की कविता से प्रभावित है परवर्ती कवियों का कविकर्म। उभयार्थक शब्दयोजना में कालिदास का साम्य दिखाई देता है अश्वघोष, भारवि, माघ, रत्नाकर, श्रीहर्ष; कुमारदास में। स्वयंवरवर्णन में श्रीहर्ष जहाँ विस्तार के समर्थक हैं वहीं कालिदास संक्षेप में उन भावों को समाहित करने के। रघुवंश के वसन्तवर्णन और मृगयाविहार में भारतीय वन्यजीवन के अनेक चित्र समाहित हैं। परन्तु दशरथ के इस मृगयाक्षेत्र का स्पष्टीकरण जानकीहरण के अध्ययन से होता है। कुमारदास की इस कृति पर कालिदास की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसी प्रकार भास के नाटकों से कालिदास के तीनों नाटक अनेक स्थलों पर समान प्रतीत होते हैं।

कालिदास सनातन वैदिकधर्म के अनुयायी हैं। धर्म के क्षेत्र में वे पुरुषार्थवादी हैं, निर्वाणवादी नहीं। भर्तृहरि के वागर्थसम्बन्धविषयक रहस्यपूर्ण उद्‌गारों को पूरी गम्भीरता के साथ प्रस्तुत कर चुके थे कालिदास अपनी उपमाओं में।

कालिदास अपने साहित्य में चित्र, मूर्ति, नाट्य, वाद्य, वास्तु आदि कलाओं के लिए 'ललितकला' शब्द का प्रयोग करते हैं। कालिदाससाहित्य में ये सभी कलाएँ व्यापक स्तर पर सुलभ हैं। आचार्य द्विवेदी के अनुसार शब्दैकसंवेद्य काव्य भी कला है जिसमें अन्य कलाएँ अलङ्कार बनती हैं। उनके अनुसार चित्र, मूर्त्ति और काव्य तीनों की भावभूमि एक ओर अभिन्न ही हुआ करती है। कालिदाससाहित्य में इनके अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। चित्र का मुख्य अर्थ है अनेक प्रकार के रंगों की योजना। कालिदास ने चित्रकला के अनेक उपकरणों का भी उल्लेख किया है। संगीतकला के अंग नृत्य, गीत और वाद्य तीनों की परम्पराओं का कालिदास को सूक्ष्मज्ञान था। रघुवंश में अयोध्या नगरी का पुनर्निर्माण करने में संलग्न शिल्पी वास्तुशास्त्र के विधान तथा उसके कर्मकाण्ड दोनों से परिचित थे। यहाँ आचार्य द्विवेदी ने वैभवजनित मानवसुलभ दुर्बलताओं (व्यसनों) का भी उल्लेख किया है जो कालिदास के पात्रों में दिखाई देती हैं।

कालिदाससाहित्य के टीकाकार मल्लिनाथ सूरि को भी कालिदास की वाणी अत्यन्त दुर्बोध प्रतीत हुई। उनके समय तक कालिदास भारती दुर्व्याख्या के विष से मूर्च्छित हो चुकी थी। इसी विष से मुक्ति दिलाने हेतु उन्होंने संजीवनी नामक व्याख्या लिखी। आचार्य द्विवेदी ने माना है कि अनुक्रमकोषों के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन के इस युग में आवश्यकता है कालिदास साहित्य में उपलब्ध अनेकार्थक शब्दों की तुलनात्मक समीक्षा द्वारा अर्थनिर्धारण की। कालिदाससाहित्य में १५ बार प्रयुक्त 'उपहार' शब्द उपायन, पूजा, पास पँहुचना तथा आकृति विशेष में रचित विविधवर्ण

के पुष्पों के अर्धहार अर्थ में प्रयुक्त है। इनमें से चतुर्थ अर्थ कोषों में अनुपलब्ध है। इसी प्रकार 'बालातप', 'प्रणय' और 'प्रथम' शब्दों पर भी विद्वान् आचार्य ने कालिदाससाहित्य में उपलब्ध समस्त उल्लेखों के आधार पर तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है। विचार की यह पद्धति प्राचीन कवियों की कविता में निहित अभिप्रायों के सही रूप के उद्घाटन में सर्वाधिक प्रामाणिक सिद्ध होती है।

कलाओं से निष्पन्न रस उपेय भी है और उपाय भी क्योंकि इससे सामाजिक के चैतन्य में उत्पन्न 'आस्वाद' तथा उसको उत्पन्न करने वाली 'आस्वाद्य' (विभावादिरूप) सामग्री भी प्रकाश में आती है। अत: दोनों ही हैं उपास्य कवि और सहृदय के। वही उपाय माना जा सकता है जिससे उपेय सुलभ हो। कला का उपेय एक ही है 'रस' जो आनन्द यानी आस्वाद स्वरूप है। कला प्रस्तुति है द्वैत की, किन्तु उस द्वैत की जो पहुँचाता है या पर्यवसित होता है एकत्व, स्वत्व और अद्वय में। आचार्य द्विवेदी ने यहाँ उपायभूत शकुन्तला द्वारा सही गयी सामाजिक विडम्बनाओं के मध्य विसंगतियों को उकेरा है। आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में कवि द्वारा चित्रित उपायगत सभी विषम परिस्थितियाँ परिणत होती हैं उस आनुकूल्य में जो अपरिहार्य है समाज के सर्वतोमुखी अभ्युदय के निमित्त। कालिदाससाहित्य का इतना सूक्ष्म समाजशास्त्रीय विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

कालिदाससाहित्य के अक्षर–अक्षर से परिचित हैं इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य द्विवेदी। उनका प्रस्तुत अध्ययन अपने सभी निर्णयों में स्वच्छ और स्पष्ट है जैसा की होना चाहिए। उनकी आलोचना पद्धति पारम्परिक होते हुए भी सर्वथा आधुनिक है। इस ग्रन्थ में उनका लक्ष्य महाकवि कालिदास की भारती का शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने के साथ–२ उसमें निहित उन समाधानों का प्रकाशन करना भी है जो आज की राष्ट्रीय व सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में अत्यन्त प्रासंगिक हैं। यहाँ कालिदास के समय के समाज का चित्र ही नहीं प्रस्तुत किया गया है अपितु उसकी रूढ़ियों व परम्पराओं से मुक्त तटस्थभाव से की गयी गम्भीर समालोचना भी उपलब्ध ा है। आचार्य द्विवेदी कालिदाससाहित्य के गम्भीर व महान् अध्येता अवश्य हैं परन्तु उसके अंधभक्त नहीं। शारदापीठ तथा ज्योतिष्पीठ के जगद्गुरुशङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द जी सरस्वती महाराज ने सन् २००३ में आचार्य द्विवेदी को उनकी सुदीर्घ मौलिक संस्कृतकाव्यरचना तथा कालिदाससाहित्यविषयक चिन्तन को ध्यान में रखते हुए **'अभिनव कालिदास'** की उपाधि से विभूषित किया।

'कालिदासभारती' नाम से आचार्य द्विवेदी का एक पृथक् ग्रन्थ भी संस्कृतभाषा में प्रकाशित होने जा रहा है। इसके पूर्व हेमाद्रिकृत **'रघुवंशदर्पण'** का सम्पूर्ण विश्व में सर्वप्रथम सम्पादन उन्होंने किया है। वे मल्लिनाथ की संजीवनी का भी समीक्षापूर्ण सम्पादन अपेक्षित मानते हैं। कालिदाससंस्थान का एक लक्ष्य यह भी है।

इन ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु संस्थान का आर्थिक आधार स्वयं आचार्य द्विवेदी हैं। वे उन्हें मिले पुरस्कारों की राशि व ग्रन्थविक्रय से उपलब्ध राशि से इसे चला रहे हैं। मैं प्रणाम करता हूँ पूज्य पिताजी के चरणों में जिनके आशीर्वाद तथा मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ को सम्पादित करने में मैं समर्थ हो सका।

संस्थान हृदय से आभारी है म.म. डॉ० गोविन्दचन्द्र जी पाण्डे का जिन्होंने कृपापूर्वक 'दो शब्द' लिखकर संस्थान का प्रोत्साहन किया। दिवंगत माताजी द्रुपदकुमारी द्विवेदी के प्रति साश्रु प्रणामाञ्जलि के साथ मैं बड़े भैया डॉ० सर्वज्ञकुमार द्विवेदी के प्रति आभारी हूँ जिनकी प्रीतिपूर्ण सहायता इस संस्थान का मुख्य आधार है। उन्हें प्रणाम।

छोटी बहन डॉ० शोभा मिश्रा तथा बहनोई आयुष्मान् विवेक मिश्र को आशीर्वाद, जिन्होंने इस ग्रन्थ को अपने प्रेस में तत्परतापूर्वक छापा। श्री रमेशकुमार मौर्य के प्रति हार्दिक शुभकामनाएँ जिन्होंने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक इस ग्रन्थ को कम्प्यूटर में कम्पोज किया।

अध्येताओं से इस ग्रन्थ में प्रकाशित आचार्य द्विवेदी की स्थापनाओं पर तटस्थतापूर्वक विचार करने का आग्रह है।

३० अप्रैल, २००४

सदाशिव कुमार द्विवेदी
मानद सचिव, कालिदाससंस्थान,
वाराणसी–५

दो शब्द

सनातन कवि के रूप में प्रसिद्ध, अनेक उत्कृष्ट और मौलिक महाकाव्यों के रचयिता, 'कालिदासग्रन्थावली' के सम्पादक महामहोपाध्याय रेवाप्रसाद द्विवेदी का नाम किसी अन्य परिचय की अपेक्षा नहीं रखता। बहुत से लोग उन्हें 'अभिनव कालिदास' कहते हैं इतना गहरा उनका कालिदास का अनुशीलन और पुनःसृजन है। उनकी लेखनी से कालिदास के विषय में चर्चा का यह ग्रन्थ पाठकों को अवश्य ही आकृष्ट करेगा।

द्विवेदी जी ने कालिदास के नाम, उनकी तिथि, उनके रचित ग्रन्थों की संख्या, उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकार, उनके काव्यों में उपलब्ध वैदुष्य संस्कृति और चिन्तन के तत्त्व, इन सभी और अन्य विषयों पर विचार किया है। उन्होंने कालिदास को शुङ्गकालीन ही माना है, इससे अनेक विद्वान् हर्षित होंगे। ऋतुसंहार कालिदास की रचना नहीं है, यह पढ़कर अनेक खिन्न भी होंगे। यह स्मरणीय है कि महर्षि अरविन्द ने अपनी प्रसिद्ध कृति कालिदास में ऋतुसंहार की विवेचना करते हुए उसको कालिदास की रचना ही माना है। किन्तु द्विवेदी जी ने ऋतुसंहार की कविता को कालिदास के स्तर की नहीं माना है। कालिदास के ग्रन्थों के पाठ का इतना विस्तृत विवेचन किसी और ने नहीं किया है।

द्विवेदी जी ने केवल कालिदास की कविता के मर्मज्ञ हैं अपितु कालिदासीय शोध के भी अपूर्व पण्डित हैं। उनकी यह कृति अवश्य ही सभी अध्येताओं के लिये उपादेय होगी, ऐसा मेरा विश्वास है—

इलाहाबाद — गोविन्दचन्द्र पाण्डे

०६.०२.२००३

लेखकीय

प्रसन्नता की बात है कि 'कालिदाससंस्थान, काशी' 'कालिदास: अपनी बात' ग्रन्थ प्रकाशित कर रहा है। 'अपनी बात' का अर्थ है जो मुझे सूझा। वाङ्मय में विदेशी तर्कशास्त्र से भारतीय तर्कशास्त्र अधिक संगत है। तदनुसार कालिदास 'भरतमुनि के नाट्यशास्त्र' (ई०पू० ३००) के बाद और संवत्प्रवर्त्तक विक्रमादित्य के पहले हुए। विक्रमादित्य का कालिदाससाहित्य में उल्लेख नहीं है और पूरे गुप्तयुग का भी। वस्तुत: गुप्तयुग कालिदाससाहित्य की देन है, अत: गुप्तों ने कालिदास को अपनाया यही मान्य है।

इस बीच कालिदाससाहित्य का नागरी लिपि में अपने हाथ से पुनर्लेखन भी किया और मेघदूत का ब्राह्मीलिपि में भी। हार्वर्डविश्वविद्यालय, अमेरिका में कालिदाससाहित्य के जो हस्तलेख सुरक्षित हैं वहाँ जाकर उनका अनुशीलन किया और उनकी फोटू भी प्राप्त की। वहाँ शाकुन्तल की एक प्रति में विक्रमादित्य साहसाङ्क का भी उल्लेख मिला। इन प्रतियों के आधार पर कालिदास के तीनों नाटकों का भी नया संपादन हो गया। अब कालिदाससाहित्य के हस्तलेखों की पाँचवी पीढ़ी के हस्तलेख भी तैयार हैं।

इस ग्रन्थ के निर्माण में अपने दोनों चिरञ्जीवियों और छोटी कन्या ने भरपूर परिश्रम किया है। हार्वर्ड के हस्तलेख दिखलाए बड़े चिरञ्जीवी डॉ० सर्वज्ञकुमार ने, छोटे चिरञ्जीवी डॉ० सदाशिव ने पुराने छपे लेखों का संग्रह किया और उन्हें कम्प्यूटर पर मुद्रणयोग्य बनाया। छोटी बिटिया डॉ० शोभामिश्रा और जामाता आयुष्मान् विवेकमिश्र ने स्वयं अपने प्रेस में इसका मुद्रण किया। इन सबको हार्दिक शुभाशीर्वाद।

डॉ० गोविन्दचन्द्रजी पाण्डेय ने इस पर आशीर्वाद भी लिखा और लेखक का परिचय कालिदास के गुरु भरतमुनि और नाट्यशास्त्र से करा दिया जिस कारण कालिदास की प्राकृत भी सही हो गई। 'कालिदासभारती' नामक एक पृथक् संस्कृतनिबन्धसंग्रह भी प्रकाशित है। अब देखना है कि हम कालिदास के कितने पास पहुँच पाए।

कालिदासकविते। त्वया जग–
न्मोहितं त्वमपि मूर्च्छिताऽसि तत् ।
संप्रसादमधुना प्रयासि चेद्
धन्यतां श्रयति वै सनातन: ।

२०.०४.२००४

रेवाप्रसाद द्विवेदी

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

अध्याय – १

कविपरिचय १–१२

कालिदास के नाम १

– कालिदास, कालदास, चन्द्रमौलि, देवव्रत, ईश्वरकृष्ण, दीपशिखा ।

कालिदास का परिचय ७

– कालिदास की पत्नी

– कालिदास के माता-पिता - पार्वती-परमेश्वर

समादर ९

महाकवि कौन? ११

अध्याय - २

कालिदाससाहित्य १३–५६

मेघदूत / मेघसन्देश १४

कुमारसंभव : अष्टमूर्त्तिमहाकाव्य १७

– कुमारसंभव कथा (१–८ सर्ग)

– तारकवध (९–१७ सर्ग कुमारसंभव)

कुमारसंभव का अष्टम सर्ग २२

रघुवंश : गभीरमहाकाव्य २३

मालविकाग्निमित्र ३०

कालिदास का बोधिवृक्ष

विक्रमोर्वशीय ३५

अभिज्ञानशाकुन्तल ३७

– कालिदास का शाकुन्तल

शकुन्तलम्, शाकुन्तलम् और अभिज्ञानम्

– चतुर्थ अङ्क

– पाठ की विभिन्न परम्पराएँ

अध्याय - ३

कालिदास की तिथि (२०७० वर्ष पूर्व) ५७—६४

कालिदास ईसा पूर्व में : पुरातात्त्विक साक्ष्य ६०

कालिदास और कीथ ६३

पुनर्विचार ६४

अध्याय - ४

कालिदासकालीन लिपि एवं पाठान्तर ६५—८३

क्रान्ति ७४

नाटकों में नान्दी ७५

कथावस्तु नए प्रतिमानों पर ७६

नायकत्व ७८

कला की सत्ता ८०

अध्याय - ५

कालिदाससम्बन्धी कथाएँ एवं महाकवित्वविकास ८४—९३

कथाबीज ८४

कवित्वलाभ ८८

कवित्वविकास ८८

महाकवित्व ८९

असाधारण महाकवित्व ९०

युगदर्शित्व ९१

अध्याय - ६

कालिदास की काव्यकला ९४—१२०

पूर्णता, गुण ९४

उक्तिवैचित्र्य ९४

कालिदास—काव्यकला में पूर्णता ९५

कालिदास का उपमाशिल्प ९७

मालोपमा

समाधानजनक उपमा

अन्य विच्छित्तियाँ १०४

श्लेष, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, रूपक, विशेषोक्ति, भाविकालङ्कार ।

आत्माहुति ११३
कवि राजसत्ता के ऊपर ११६
व्यक्ति–स्वातन्त्र्य ११९

अध्याय - ७

समस्याओं का सफल समाधान (यम, नियम) १२१–१६२

यम –

अहिंसा १२१

कालिदास–साहित्य में साम्राज्यनीति और युद्ध, साम्राज्यनीति और युद्ध का उद्देश्य, कालिदास के विजेता, युद्ध–परिहार के उपाय, अस्त्रप्रयोग में सन्तुलन ।

सत्य १३३
अस्तेय १३८
ब्रह्मचर्य १३९
अपरिग्रह १४०

नियम–

शौच, सन्तोष, तप १४१
स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान १४२
आसन १४४
प्राणायाम , प्रत्याहार १४७
धारणा, ध्यान १४८
समाधि (योग) – योगाङ्ग, ईश्वर । १४९
योगविद्या : भारतीय अस्मिता की विद्या १६२

अध्याय - ८

कालिदाससाहित्य में देववृक्ष १६३–१७६

हरिचन्दन, सन्तानक, मन्दार, पारिजात, १६३
कल्पवृक्ष १६७

पुष्प, गन्ध, फल, भूषा, वेदी, द्युति, प्ररोह, अंशुक

आभरण १७०

हार हारेतर आभूषण कल्प 'निरुक्ति'

अध्याय - ९

कालिदाससाहित्य में शाप १७७–१९६

नियन्त्रित क्षेत्र, शापदाता का प्रेमी स्वभाव १७८

आश्रम १७९

मेघदूत में शापावधि और चातुर्मास्य १८०

प्रबोधपर्व १८०

चातुर्मास्य १८५

अध्याय - १०

उद्‌भटकृत कुमारसंभव १९७–२१९

भावसंवाद १९९

प्रबन्धसंवाद २०७

कालिदास और ईश्वरकृष्ण २१२

परम्परा, उद्‌भावना, शब्दसाम्य,

भावसाम्य, समकालिकता

बाधक प्रमाण

कालिदाससाहित्य प्राचीन टीकाकारों की दृष्टि में २१७

अध्याय - ११

कुछ अभिप्राय २२०–२३१

दिलीप का गोचारण २२०

अध्याय -१२

प्रकृति-मानव-रसक्षेत्र और कालिदास २३२–२४७

प्रकृति २३२

मानव २३४

रस — मधु २३५

अध्याय -१३

अन्य कवियों पर कालिदास की छाया २४८–२५९

मृगयाक्षेत्र : कुमारदास, नाटकों में प्रभाव २५६

अध्याय -१४

कालिदाससाहित्य में कलाएँ २६०–२८८

चित्रकला — चित्रगत विशेषताएँ २६०

चित्रकला के उपकरण

लिपिरंग, चित्र–मूर्ति

नृत्यकला २७२

नृत्त, नृत्य, गान,

वाद्य – वीणा,

वास्तुकला २७८

मानवीय दुर्बलता २८२

अध्याय -१५

कालिदासभारती २८९—३१६

उपहार २८९

पूजार्थक प्रयोग

बालातप ३०१

प्रणय ३१४

प्रथम ३१६

अध्याय -१६

कला का उपेय ३१७—३२९

कालिदास का आधारभूत साहित्य ३२५

परिशिष्ट ३३१—३४३

कविपरिचय

कालिदास के नाम

महाकवि कालिदास के अनेक नाम हैं कालिदास, कालदास, चन्द्रमौलि, देवव्रत, ईश्वरकृष्ण, दीपशिखा आदि।

(१) कालिदास

कालिदास कालिदास थे महाकाली के दास के रूप में। नामवाचक पद में कालीदास आदि के दीर्घ ईकार ह्रस्व इकार भी बन सकते है [१]। यह काली वह देवी भद्रकाली तो थी ही जिसके वर से कालिदास सर्वशास्त्रविशारद और कवि हुए, किन्तु उनके युग की प्रतीक भी थी। कालिदास के पहले पूरा लोक बड़े घने अन्धकार में छिपा पड़ा था, उल्व में गर्भ के समान।

नोर्ध्वमीक्षणगतिर्नचाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः।
लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्त्तते निशि ।। कुमार० ८.५६

'न कुछ सूझ रहा है ऊपर, न नीचे, न आसपास, न आगे और न पीछे। यह सारा संसार घने अंधकार में ऐसा छिपा पड़ा है कि जैसे गर्भवास की स्थिति में हो।'

नव नन्दों के राज्य की थी यह परिणति। कृषिप्रधान इस राष्ट्र में वर्षा मुख्य साधन थी, जिसका नियन्त्रण किया जाता था यज्ञों के द्वारा। राष्ट्र का शासन बौद्ध नन्दों के हाथ में था, अतः यज्ञकार्य बन्द था। बौद्ध नास्तिक थे, अतः न वे वेद के भक्त थे और न वे परलोक का अस्तित्व स्वीकार करते थे। फलतः ब्राह्मणवर्ग विपन्न था। ब्राह्मण पुष्यमित्र ने नन्दों के अन्तिम शासक बृहद्रथ का वध किया और स्वयं शासक बन अयोध्या में दो अश्वमेध व्याकरण महाभाष्य के निर्माता महर्षि पतञ्जलि के आचार्यत्व में संपन्न किए तो स्थिति में पलटाव आया। कालिदास मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र को यज्ञनिरत कहते हैं और पतञ्जलि के महाभाष्य को उद्धृत करते हैं। युगीन परिवर्त्तन से कालिदास अनवगत नहीं होंगे। काली माँ पार्वती का भी नाम है। कालिदास पर उनकी कृपा का आख्यान प्रसिद्ध है। राजा विक्रमादित्य की विदुषी कन्या विद्योत्तमा का विवाह पण्डितों ने एक मूर्ख से करा दिया। उसकी मूर्खता सिद्ध थी इस घटना से कि वह उसी शाखा को जड़ से काट रहा था जिसके अगले भाग पर स्वयं

---

१. 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' पाणिनि सूत्र ६.३.६३

बैठा था। राजकुमारी को उसके पति की मूर्खता का ज्ञान हुआ तो उसे ऊपर से ढकेल दिया। नीचे थी माँ काली की प्रतिमा, जिसकी जीभ निकली रहती है। गिरते समय उस मूर्ख की भी जीभ बाहर निकली थी। वह भद्रकाली की जिह्वा से कट गई। उसका रक्त भद्रकाली की जीभ पर लगा तो वे प्रसन्न हो उठीं और विद्या का वर देकर अलक्षित हो गई। अब कालिदास की जिह्वा पर सरस्वती का वास था और वे सिद्ध कवि थे। वे पुनः राजकुमारी के पास पहुँचे और दरवाजा खटखटाते हुए बोले 'अनावृतकपाटं द्वारं देहि' 'दरवाजा खोलो' तो राजकुमारी विद्योत्तमा के मुँह से निकला 'अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः' 'यह तो कोई विशिष्ट वाणी है।' बाद में कालिदास ने इन्हीं शब्दों से आरम्भ होने वाले चार काव्य बनाए। 'अस्ति' से आरम्भ होने वाला कुमारसंभव जिसका प्रथम पद्य है –

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।।

'कश्चित्' से आरम्भ होता है मेघदूत। इसका प्रथम पद्य है –

कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकार–प्रमत्तः
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्त्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नान–पुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु।।

'वाक्' से आरम्भ होता है रघुवंश का –

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

इसी प्रकार 'विशेष' शब्द से आरम्भ होता है ऋतुसंहार का। इसके प्रथम पद्य को कुछ पाण्डुप्रतियों में 'विशेष' शब्द से आरम्भ किया गया है –

विशेष–कान्तस्पृहणीयचन्द्रमाः सुखावगाहः क्षतवारिसञ्चयः।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालः समुपागतः प्रिये।।

'विशेषकान्त' के स्थान पर 'विशेषसूर्यः' पाठ भी मिलता है[१]। प्रसिद्ध है 'प्रचण्डसूर्यः।।

'कालि' शब्द 'काल' के पुत्र के अर्थ में भी उसी प्रकार व्युत्पन्न किया जा सकता है जिस प्रकार दशरथ के पुत्र के अर्थ में दाशरथि। काल के पुत्र हैं भगवान् कार्त्तिकेय जिन्होंने तारकासुर का वध किया। इनका एक वाहन मयूर है और एक कुक्कुट। स्वयं कार्त्तिकेय और उनके वाहन मयूर से कालिदास साहित्य भरा पड़ा है। अज स्वयंवर सभा में ऐसे आसन पर बैठा था जो रत्नों से जटित था और जिस पर बिछा

---

१. द्रष्टव्यः ऋतुसंहार का १९९० में प्रकाशित साहित्यअकादमी, दिल्ली का हमारा संस्करण । हमारी दृष्टि में ऋतुसंहार मेघदूत आदि के रचयिता कालिदास से भिन्न कालिदास की रचना है।

बिछा हुआ था बहुत ही उत्तम (कदाचित् नीले) रंग का आस्तरण, अत: उसकी छवि मयूर के पृष्ठ पर विराजमान कुमार कार्त्तिकेय से बहुत दूरी तक मिल रही थी –

परार्ध्य–वर्णाऽऽस्तरणोपपन्नमासेदिवान् रत्नवदासनं स:।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन।। रघु० ६.४

कुक्कुट महाभारत में प्रसिद्ध है और कुमारदास के जानकीहरण में। इसी आधार पर कतिपय विचारक कुमारदास और कालिदास को एक मान जानकीहरण को भी कालिदास की ही अन्यतम कृति मानते हैं [१]।

(२) कालदास

कतिपय हस्तलिखित प्रतियों में कालिदास को 'कालदास' भी लिखा गया है[२]। 'काल' यानी उज्जयिनी के 'त्रिपुर'[३] धाम में विराजित भगवान् महाकालेश्वर। इनकी भक्ति रघुवंश ६.३२ में प्रकट है[४] और मेघदूत में भी। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं को 'काल' और लोकक्षयकारी कहा है –**'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्'** (११.३२)। कालिदास भी इस विराट् चेतना के भक्त हैं –**'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी'** (विक्रमोर्वशीय नान्दीपद्य)।

'काल' का एक अर्थ वर्त्तमान युग भी लिया जा सकता है। वर्त्तमान यानी कवि जिसे जिया करता है। महाकवि कालिदास भी अपने वर्त्तमान के चितेरे हैं। वे अपने राष्ट्रीय संदर्भों से जुड़े हुए हैं। उन्हें हूणों के बर्बर आक्रमणों की पीड़ा सता रही थी और बौद्धों के अनात्मवाद या अनस्तित्ववाद से पीड़ित मानवीय जीवन के प्रति भी उनमें समवेदना थी। भोग और उसके लिए प्रभुसत्ता की तीव्र एषणा ने दो तीन पीढ़ियों तक राजपुत्रों के हाथ पिता को मौत के घाट उतरवाया था। वह भी कालिदास को याद था। नन्दों के अमानवीय[५] शासन की स्मृतियाँ शेष थीं। सेनापति पुष्यमित्र ने नन्दवंश के

---

१. कुमारदास ने भी कुक्कुट को कार्त्तिकेय का वाहन माना है।

२. द्रष्टव्य हमारी कालिदासग्रन्थावली (१९८६) या रघुवंश, साहित्यअकादमी १९९३ में रघुवंश की पुष्पिकाएँ — सर्ग ५,७–११,१३,१४,१६–१९ कालिदास के स्थान पर कालदास पाठ गुजरात की पाटन की प्रति तथा कलकत्ते की ए–१ तथा ए–२ प्रतियों में मिलता है।

३. उज्जयिनी में भगवान् महाकालेश्वर का धाम निश्चित ही त्रिपुरधाम है। इसमें तीन उतार हैं। १. पहला सड़क से पहली सीढ़ी का २. दूसरा सीढ़ी के बाद के ओंकारेश्वर मन्दिर वाले मैदान के नीचे पुष्करिणी तक का और ३. तीसरा बाई ओर चलकर सीढ़ी से नीचे उतरकर बाई ओर बढ़कर पुन: बाई ओर गर्भगृह का, जिसमें भगवान् महाकालेश्वर का ज्योतिर्लिङ्ग विराजमान है।

४. **असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौले:।**
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान्।।

५. अमानवीय इसलिए कि शकटार आदि को परिवार सहित भूगर्भ में यातनापूर्ण कैद में रखा गया। द्रष्टव्य हमारा 'शकटारम्' – खण्डकाव्य, कालिदाससंस्थान, वाराणसी से २००० में प्रकाशित।

आ... शासक 'बृहद्रथ' को मौत के घाट उतारा और कर्मवाद तथा वेदमूलक देववाद को पुन: महत्त्व दिया। फलत: पूरे राष्ट्र में प्राणों का संचार हुआ। कविता, कला और जीवन में शृङ्गार लौटा। जिजीविषा बनी युगीन प्रवृत्ति और मानव ने अपनाया वह मार्ग जिसमें मुक्ति तो थी, किन्तु भुक्ति की अनुजा के रूप में अर्थात् 'भुक्तिमुक्ति'—कृत् मार्ग को ठहराया गया धर्म के रूप में। धर्म को लक्षण भी दिया गया—**'यतोऽभ्युदयो नि:श्रेयसहेतु: स धर्म:,** न कि **'यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:'**[1]। यह ऐसा धर्म था जो किसी भी युग में किसी भी क्षण किसी को भी अमान्य नहीं था, अत: जिसे 'सनातन' और 'वैदिक सनातन' धर्म कहा गया था। इस धर्म में पुरुषार्थ माने गए चार 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष'। महाकवि कालिदास इसी पुरुषार्थ—चतुष्टय के उद्गाता बने। वे उद्गाता बने 'धर्म+अर्थ+काम' के संतुलन तथा समन्वय के। ऐसा संतुलन और ऐसा समन्वय जिसमें कोई किसी का बाधक नहीं बन पाता—

न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ।। रघु० १७.५७।।

तीनों से ऊपर मोक्ष। दशरथ के यहाँ परम आत्मा चार शरीरों में प्रकट हुआ। वे चारों शरीर ऐसे लगे जैसे 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' ही हों।—

स चतुर्धा बभौ व्यस्त: प्रसव: पृथिवीपते: ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक् ।। रघु० १०.८४।।

बौद्ध मार्ग में पुरुषार्थों का कोई महत्त्व न था। बुद्धवचन 'धम्म—पद' माने गए, किन्तु जहाँ निर्वाण का श्मशान ही सर्वस्व हो वहाँ धर्म केवल सामाजिक समझौता ही बनकर रह जाता है। वह अर्थ या स्पृहणीय वस्तु या पुरुषार्थ नहीं बन पाता। कालिदास ने बौद्ध मार्ग का उल्लेख तक नहीं किया। अवश्य ही वे 'काल यानी उनके अपने समय के दास या पुजारी थे, युगद्रष्टा कवि थे।

(३) चन्द्रमौलि

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कल्पना की है[2] और लिखा है कि 'कालिदास' महाकवि की उपाधि थी जैसे देवव्रत की उपाधि भीष्म। नाम था 'चन्द्रमौलि'। इसका आधार था कुमारसंभव का निम्नलिखित पद्य—

अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि! तवास्मि दास: क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज क्लेश: फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।।

(कुमार० ५.८६)

---

१. धर्म का यह लक्षण हेमाद्रिभट्ट ने रघुवंश पर 'रघुवंशदर्पण' नामक अपनी टीका में पद्य ८.१६ में दिया है, सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक काशी प्रसाद जायसवाल शोधसंस्थान, पटना ।

२. 'पुनर्नवा' नामक उपन्यास में ।

'हे अवनताङ्गि? मैं आज से तेरा क्रीतदास हूँ तपों के द्वारा खरीदा', ज्यों ही चन्द्रमौलि शिव ने ऐसा कहा पार्वती का तपोजनित क्लम छूट गया। फल से क्लेश पुनर्नवता ला देता है।'

जैसे 'देवव्रत' का मुख्य नाम प्रयोग में छूट गया और 'भीष्म' उपाधि ही नाम के रूप में प्रसिद्ध हो गई अथवा जैसे गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त के मुख्य नाम पिछड़ गए और उनको दी गई 'विक्रमादित्य' उपाधि ही प्रसिद्ध हो गई वैसे ही 'चन्द्रमौलि' नाम पीछे रह गया और उपाधि कालिदास ही व्यवहार में प्रसिद्ध हो गयी प्रस्तुत महाकवि के सन्दर्भ में। कल्पना में कुछ सार है।

(४) देवव्रत

आधुनिक संस्कृत कवि प्रो० राजेन्द्र मिश्र ने अपनी संस्कृत नाटिका 'विद्योत्तमा'[१] में कालिदास को देवव्रत नाम से पात्र बनाया है। उनका आधार है सरगुजा के रामगढ़ की वे दो गिरिगुफाएँ जो एक दूसरे से लगी हुई हैं। प्रथम है नाट्यशाला सी और द्वितीय है साधारण शिलावरण सी। दूसरी गुफा में नाम खुदा है रूपदक्ष देवदत्त का जो अपनी प्रेयसी 'सुतनुका' के पास वहाँ वाराणसी से जाता आता था। रूपदक्ष को नाटकीय पात्रों की रूपसज्जा करने में कुशल व्यक्ति माना गया है, यद्यपि उसका एक अर्थ नाट्यदक्ष भी किया जा सकता है, क्योंकि संस्कृत में रूप रूपक का प्रसिद्ध पर्याय है और नाट्यशाला वहाँ लगी ही हुई है। डॉ० राजेन्द्र मिश्र की भी कल्पना दूर तक सार्थक लगती है।

(५) ईश्वरकृष्ण

इस देश में एक परम्परा ऐसी भी है जिसमें सांख्यकारिका के निर्माता ईश्वरकृष्ण[२] को कालिदास और कालिदास को ईश्वरकृष्ण कहा जाता रहा है। निम्नलिखित उद्धरण, उनके साथ दिए सन्दर्भों से स्पष्ट है कि कालिदास की रचनाओं से लिए गए हैं, किन्तु उनके निर्माता को घनश्याम नामक टीकाकार ने उत्तररामचरित की टीका में ईश्वरकृष्ण कहा है—

१. गङ्गा प्रपातान्तविरूढशष्पम्	रघुवंश २.२६
२. शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य	रघुवंश ५.५६
३. तस्मिन् विप्रकृताः काले तारकेण	कुमारसंभव २.५
४. न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः	कुमारसंभव ४.५

---

१. Eastern Book Linkers : इलाहाबाद से प्रकाशित ।

२. इस परम्परा में विश्वास रखते थे प्रो.माइनकर: Kalidasa : His Art and thoughts, 1962

(६) दीपशिखा

उत्तम रचनाशिल्प के आधार पर भी कवियों की उपाधियाँ संस्कृत में प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य में कमलिनी का पराग आकाश में फैला तो भारवि ने कल्पना की कि मानों आकाश में सुवर्ण का पत्र फैल गया हो—

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसंभवः परागः ।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ।।

—किरातार्जुनीय ५.३९

इस उक्ति के सौन्दर्य पर मुग्ध सहृदयों ने भारवि को 'आतपत्र भारवि' उपाधि से संमानित किया।

'शिशुपालवध' महाकाव्य में पदार्थनिदर्शना के शिल्प द्वारा रैवतक पर्वत में दोनों पार्श्वों में लटके दो बड़े बड़े (सुनहले) घण्टाओं से सुशोभित काले रंग के हाथी की शोभा देखी सूर्योदय के समय एक ओर उदित होते सूर्यबिम्ब और दूसरी ओर अस्त हो रहे चन्द्रबिम्ब को देख —

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ, हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारित—वारणेन्द्र—लीलाम् ।।

—शिशुपालवध ४.२०

इस उक्ति के आधार पर माघकवि को 'घण्टामाघ' कहा गया।

'हरविजय' महाकाव्य में सूर्यास्त और चन्द्रोदय के समय सूर्य और चन्द्र के दो बिम्ब दिखाई दिए तो कविवर रत्नाकर ने कल्पना की कि संध्याकाल में भगवान् शिव के ताण्डव को संगति देने हेतु मानों आकाशलक्ष्मी दो कांस्यताल लेकर उपस्थित हुई—

अस्तावलम्बि—रविबिम्बतयोदयाद्रि—चूडोन्मिषत्सकलचन्द्रतया च सायम् ।
संध्याप्रणृत्तहरवाद्य—गृहीतकांस्यतालद्वयेव समलक्ष्यत नाकलक्ष्मीः ।।

—हरविजय १९.५

इस उक्ति के आधार पर 'रत्नाकर' को तालरत्नाकर उपाधि मिली। उसी प्रकार कालिदास को रघुवंश के निम्नलिखित पद्य के आधार पर 'दीपशिखा—कालिदास' उपाधि से संमानित किया गया—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ।। रघु०६.६७।।

'रात्रिकाल में सञ्चारिणी दीपशिखा सी इन्दुमती स्वयंवरसभा में जिस जिस राजा के सामने पहुँचकर आगे बढ़ती वह राजमार्ग पर खड़े प्रासाद सा चमचमाकर म्लान पड़ जाता।'

इसी आधार पर 'दीपशिखा'—शीर्षक के साथ कुछ पत्रिकाएँ भी निकलीं।

कालिदास के मातृगुप्त, भर्तृमेण्ठ, प्रवरसेन, घटकर्पर, और कुमारदास नाम भी प्रसिद्ध हैं ।

कालिदास का परिचय

२१०० से २०७५ वर्ष पहले हुए कालिदास कुण्डली के निर्माता ज्यौतिषी तो थे, परन्तु उन्होंने अपनी कुण्डली नहीं बनाई और न यह लिखा कि उनका जन्म किस माता की कुक्षि से किसके यहाँ किस तिथि को किस इष्टकाल में हुआ था। उनका [१] वर्ण क्या था और गोत्र क्या। यह भी नहीं लिखा कि किस सौभाग्यवती के साथ हुआ था उनका पाणिग्रहण और उसकी कुक्षि चली या नहीं।

कालिदास की पत्नी

स्व० श्रीमती कमलारत्नम् कालिदास की पत्नी का नाम 'कमला' मानती थीं— **'प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः'** (मेघ० ३१) को आधार बनाकर। किंवदन्ती के आधार पर कालिदास की पत्नी का नाम **'विद्योत्तमा'**[२] था। किसी ने **'उमा'** नाम भी माना है।

कालिदास के माता पिता : पार्वती—परमेश्वर

जहाँ तक कालिदास के माता—पिता का संबन्ध है उनका भी कोई उल्लेख कहीं नहीं मिलता। स्वयं कालिदास भी इस विषय में चुप हैं। यदि कल्पना ही करनी है तो हमारी दृष्टि में कालिदास की पूज्य माता का नाम 'पार्वती' था और पूज्य पिता का नाम 'परमेश्वर'। रघुवंश के मङ्गलपद्य को इस कल्पना का आधार बनाया जा सकता है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

ऐसा मानने पर रघुवंश का यह प्रथम पद्य सार्थक भी सिद्ध होगा। अन्यथा यह पद्य असंगत है, क्योंकि कथावस्तु संबन्धित है सूर्यवंश से, अतः उचित होता यहाँ स्मरण सूर्य का, अथवा इसी वंश में अवतीर्ण भगवान् विष्णु का। १९६२ में त्रिवेन्द्रम संस्कृतमहाविद्यालय के वृद्ध प्राचार्य ने बतलाया था कि यह पद्य रघुवंश की कुछ पाण्डुप्रतियों में नही भी मिलता। वैसे हमने रघुवंश की लगभग ३०० प्रतियाँ देखीं, उनमें से एक भी प्रति ऐसी नहीं मिली जिसमें यह पद्य न हो।

यदि उक्त पद्य को हटा दिया जाए तो पहला पद्य होगा **'क्व सूर्य०'** इत्यादि।

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कालिदास को क्षत्रिय मान लेना चाहते थे।

२. डॉ० राजेन्द्र मिश्र ने 'विद्योत्तमा' नाम की एक उत्तम संस्कृत नाटिका भी छपवा दी है।

इसमें जो विषमता प्रतिपादित है उसकी पूर्वभूमिका में सूर्यवंश पर काव्य लिखने की प्रतिज्ञा अपेक्षित है, जो यहाँ नहीं है। वह मिलती है पाँचवें 'सोऽहमा०' पद्य में। रघुवंश का आरम्भ उसी को प्रथम पद्य के रूप में रखकर किया जाए तो यह होगा श्लोकक्रम—

एष आजन्मशुद्धाना	००००	प्रचोदित:	।। १—६ ।।
क्व सूर्यप्रभवो	००००	सागरम्	।। ७ ।।
मन्द: कवियश:	००००	वामन:	।। ८ ।।
अथवा कृतवा	००००	मे गति:	।। ९ ।।
तं सन्त:	००००	श्यामिकापि वा	।। १० ।।
वैवस्वतो मनु	००००	छन्दसामिव	।। ११ ।।

निश्चित ही रघुवंश का आरम्भ अपने माता—पिता के नाम की [1]मुद्रा के साथ किया है कवि ने।

किन्तु यह उत्प्रेक्षामात्र है। सही उत्तर है कि कवि ने काव्यनिर्माण के लिए अनिवार्य 'शब्द' और 'अर्थ' की प्रतिभा प्राप्त करने के उद्देश्य से किया चयन पार्वती और परमेश्वर का। यह कवि ने इसी पद्य के द्वितीय चरण में कह भी दिया। इस प्रकार मीमांसा के नियम के अनुसार तात्पर्य—विषयीभूत अर्थ भी यहाँ शब्दत: कथित हो गया। रही बात कवि के माता—पिता, पत्नी आदि की, तो कवि स्वयं उस पर कुछ भी नहीं कहना चाहता, क्योंकि वह काव्य को कवि के व्यक्तित्व से बाँधना उचित नहीं मानता। स्वयं कालिदास का ही नाम केवल सर्ग के अन्त की पुष्पिकाओं में मिलता है वह भी केवल नाममात्र, उसके पीछे आगे की अपने दु:ख दर्द की कोई बात नहीं।

कालिदास व्यक्तिनिरपेक्ष और वस्तुमात्रसापेक्ष समालोचन के पक्षधर हैं। साहित्यसृष्टि का यही है मेरुदण्ड भारतभूमि में। संस्कृत के किसी भी काव्यशास्त्री ने कवि के जीवनवृत्त पर दृष्टि नहीं डाली। कला से संप्रसूत रस की अनुभूति में कहाँ का कवि और कहाँ के उसके ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि के घेरे। फिर क्या परिचय और क्या जीवन। काव्य में ही समाया रहता है कवि। काव्य ही है कवि की चैतन्यमूर्त्ति। वह होती है केवल चिन्मयी और समस्त परिवेषों से मुक्त। कालिदास यानी रघुवंश, कालिदास यानी कुमारसंभव, कालिदास यानी मेघदूत, कालिदास यानी मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तल।

---

१. भास के स्वप्नवासवदत्तम् के प्रथम पद्य 'उदयनवेन्दु' में 'उदयन, वासवदत्ता, वसन्तक' ये नाममुद्राएँ ही हैं। इसे मुद्रालङ्कार माना गया है। 'वागर्थाविव' में भी ऐसा ही मुद्रालंकार माना जा सकता है।

कुछ विद्वान् नाटककार कालिदास को कवि कालिदास से भिन्न मानते हैं। उनकी कल्पना है कि नाटककार कालिदास प्रथम विक्रमादित्य के समय ई० सन् के पहले हुए तथा कवि कालिदास ई० सन् की चतुर्थ शताब्दी में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साथ। ऋतुसंहार आदि के रचयिता कालिदास इसके पश्चात् कभी हुए[१]।

इस कल्पना में 'ऋतुसंहार' के रचयिता को मेघदूत आदि के रचयिता से भिन्न मानना ठीक है, क्योंकि ऋतुसंहार में कालिदास का वह शिल्प नहीं है, जिसके लिए उनकी शेष रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, किन्तु नाटककार कालिदास को रघुवंश आदि के रचयिता कालिदास से भिन्न मानना संभव नहीं, क्योंकि नाटकों और कुमारसंभव आदि काव्यकृतियों की 'भाषा, भाव, प्रवृत्तियाँ' सर्वथा अभिन्न हैं। कुछ अन्तर तो प्रत्येक श्लोक और प्रत्येक वाक्य की रचना में रहता है। यदि उतने से अन्तर के आधार पर रचनाकारों में भिन्नता मानी जाए तो रघुवंश के १५०० पद्यों के निर्माता १५०० कालिदास मानने होंगे, और तीनों नाटकों के रचयिता भी तीन कालिदास। इसी प्रकार तीन काव्यों के कवि भी तीन कवि मानने होंगे। क्यो? इसलिए कि प्रत्येक वाक्य नई बात लिए हुए प्रकट होता है।

कालिदास साहित्य में न तो उल्लेख है विक्रमादित्य का, न उनके द्वारा चलाए गए संवत्सर का और न उनके बाद के कुषाण, सातवाहन, गुप्तवंशीय किसी राजा का। इन अनुल्लिखित राजाओं के साथ कालिदास को जोड़ना तर्कशुद्ध नहीं हो सकता।

समादर

कालिदास नाम से जिस साहित्यकार को हम २०७० वर्षों की अवधि से जानते और पढ़ते चले आ रहे हैं उसका हमने कितना आदर किया यह तथ्य भी गवेषणीय है। हमने इस महाकवि को न तो आदि कवि वाल्मीकि के समान महर्षि का दर्जा दिया और न महामुनि वेदव्यास के समान महामुनि का। हमने इस कवि को दिया स्थान महाकवि का। कबसे? आज से नहीं, अपितु ध्वनिनामक सौन्दर्य सिद्धान्त के प्रथम ग्रन्थकार आनन्दवर्धन हुए तबसे अर्थात् नवम शताब्दी से। आनन्दवर्धन ने पहली बार 'महाकवि' परिभाषा को आदर दिया और कहा कि कवियों की विशाल परम्परा बहुत बड़ी है, किन्तु इसके अन्तर्गत महाकवि के रूप में मान्य केवल दो या तीन कवि हैं अथवा मिल सकते हैं पाँच छः ही, अधिक नहीं—

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्य—प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥

---

१. डॉ० रमाशंकर तिवारी का ग्रन्थ 'नाटककार कालिदास और काव्यकार कालिदास'। प्रकाशक— परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सन् २००१।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैस्ततो नेह प्रतन्यते ।।
सोऽन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।।
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धाऽवयवतिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।
काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।
सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।

—ध्वन्यालोक १.२—६

'काव्य कहलाता है वह अर्थ जिसे सहृदजन सराहें। उस (अर्थ) के होते हैं दो भेद (१) वाच्य और (२) प्रतीयमान ।।२।।

इनमें से जो वाच्य अर्थ है वह प्रसिद्ध (सुविदित और अलंकृत) है उपमादि के रूप में[१]। उसका विश्लेषण अनेक प्रकारों से 'काव्यलक्षण' ग्रन्थ के निर्माता[२] (दण्डी, भामह, वामन और उद्भट) आचार्यों ने कर रखा है, अतः इस ग्रन्थ में उनका फैलावा हम नहीं कर रहे हैं। ।।३।।

किन्तु जो प्रतीयमान अर्थ है वह एक अलग ही वस्तु है। वह मिलती है वाणी में महाकवियों की। वह अङ्गों से पृथक् हुआ करती है, उत्तम अङ्गों वाली ललनाओं में लावण्य के समान (जैसे मोती में पानी) ।।४।।

वह (प्रतीयमान) अर्थ ही है काव्य (शरीर में प्राण लाने वाली) आत्मा। दृष्टान्त! रामायण का आरम्भ। उसमें क्रौञ्च के जोड़े के वियोग से जो व्यथा हमें होती है वैसी ही महर्षि वाल्मीकि को हुई थी। इसका प्रमाण? प्रमाण यह कि वे 'मा निषाद प्रतिष्ठाम्' इत्यादि श्लोक बोल उठे। उनकी व्यथा ही बन उठी कविता। और उस व्यथा के लिए वहाँ व्यथा, दुःख, पीड़ा, क्लेश, करुणा, शोक आदि शब्द नहीं मिलते, जिससे उसे वाच्य कहा जा सके। फलतः वह व्यथा विशुद्ध रूप से प्रतीति का विषय अथवा प्रतीयमान अर्थ है ।। ५।।

वह होता है अलोकसामान्य। लोकभाषा में नहीं मिलता वह। क्यों? इसलिए

१. यहाँ आनन्दवर्धन ने 'उपमा आदि' को काव्यरूप कहा, काव्य धर्म नहीं।
२. दण्डी के ग्रन्थ का नाम ही है काव्यलक्षण । काव्यादर्श उसका प्रसिद्ध नाम है।

कि वह तो महान् कवियों की सरस्वती का अलोकसामान्य निष्यन्द है, जो एक अत्यन्त विशिष्ट, अत एव अलोकसामान्य प्रतिभा को अभिव्यक्ति देती जो उसी वाणी के भीतर अक्षर अक्षर में स्फुरित होती अनुभव में आती रहती है ॥ ६॥

प्रश्न : महाकवि कौन ?

अच्छा बतलाइए कौन हैं वे कवि, जिन्हें आप महाकवि पद पर बिठलाना चाह रहें हैं और कह रहे हैं उनकी संख्या दो तीन से अधिक नहीं अथवा बड़ी उदारता कर पाँच या छ: बतला रहे हैं आप?

आनन्दवर्धन ने १.६ कारिका (सरस्वती) की वृत्ति में स्पष्टरूप से कहा 'कालिदास' आदि। उनकी वृत्ति है—

सरस्वती।। *तद् वस्तुतत्त्वं निष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति, येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे 'कालिदास'—प्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते ॥*

—ध्वन्यालोककारिका १.६ वृत्ति।।

अभिप्राय यह कि कालिदास तो महाकवि हैं ही, अन्य कोई हो या न हो।

अभिनवगुप्त ने इस अंश पर जो लोचन लिखा वह भी अतीव वैदग्ध्यपूर्ण है। वह इस प्रकार का है—

येनेति। *अभिव्यक्तेन स्फुरता प्रतिभाविशेषेण निमित्तेन महाकवित्वगणनेति यावत्।*

स्पष्टरूप से उस विशिष्ट प्रतिभा के दर्शन इन दोनों आचार्यों ने कालिदास में किए और एक स्वर से उन्हें 'महाकवि' पद पर प्रतिष्ठित किया। बाद में कालिदास के लिए महाकवि शब्द चल पड़ा। पाँच छ की गणना करते समय कालिदास, भारवि, माघ, रत्नाकर, शिवस्वामी और प्रवरसेन (सेतुबन्ध) के नाम लिए जा सकते हैं, जो आनन्दवर्धन के पहले हो चुके थे। बाद के कृती कवि हैं श्रीहर्ष जिनका नैषधीयचरित परवर्त्ती कविता का प्रतिमान बना और हिन्दी के रीतिकालीन उत्प्रेक्षाकवियों को जिसने अत्यधिक प्रभावित किया।

विदेशी साहित्यशास्त्र में मूल्याङ्कन की जो रेखाएँ हैं, उनमें भी कालिदास को प्रथम स्थान पर ही रखा जाएगा, क्योंकि भारतीय संस्कृति के महत्तम मूल्य भी कालिदाससाहित्य में गम्भीर रूप से सुरक्षित हैं।

१. व्यक्तिविवेक, हमारा अनुवाद, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, पृष्ठ—४५५ ।

१. अभिनव के पश्चात् ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट ने भी कालिदास को **'महाकवि'** ही कहा[१] वह भी दोष दिखलाते हुए – *'ता एता दोषजातयो महाकवीनामपि दुर्लक्षाः'* और उदाहरण दिया महाकवि कालिदास के रघुवंश से 'उमावृषाङ्कौ' इत्यादि पद्य (रघु० ३.२३)।

२. **भगवदनुग्रहपवित्रवाक्**
अभिनवगुप्त ने कालिदास को 'भगवदनुग्रहपवित्रवाक्' (जिसकी 'वाक्' शक्ति भगवदनुग्रह से पवित्र हो चुकी है) कहा है।[१] उन्होंने कालिदास को

३. **'कविकुलचक्रवर्त्ती'** भी कहा।[२]

४. **'कविकुलगुरु'** के रूप में 'यस्याश्चौर'[३] इत्यादि पद्य में कालिदास प्रसिद्ध ही हैं। इसी पद्य में

५. **'कविताकामिनीविलास'** भी कहे गए हैं।

६. कुमारसंभव के टीकाकार नारायण ने कालिदास को केवल **'कवीश्वर'** भी कहा है[४]।



---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय–६, बड़ौदा संस्करण, अभिनवभारती, पृष्ठ ३०७।

२. नाट्यशास्त्र, अध्याय–६, बड़ौदा संस्करण, अभिनवभारती, पृष्ठ ३१०।

३. जयदेव, प्रसन्नराघव १.२२।

४. कुमारसम्भव, नारायण, विवरण टीका,

कालिदाससाहित्य

महान् कवि और महान् नाटककार कालिदास को संसार जिस कारण स्मरण करता है वह है उनका अमर साहित्य। इक्कीस शताब्दियों पहले का महाकवि कालिदास आज भी हमारे सामने है अपने 'वाङ्मय'—शरीर में। कालिदास के समय लिपि का प्रयोग होने लगा था और उसका अभ्यास ध्यानपूर्वक किया जाता था। उस समय की लिपि थी ब्राह्मी, वह भी लगभग अशोक के समय की।

कालिदास ने दो भाषाओं में साहित्य दिया —

१. संस्कृत भाषा में और

२. प्राकृत में जिसमें अपभ्रंश भी जोड़ दी गई।

काव्य केवल संस्कृत में हैं और नाटकों में प्राकृत का भी प्रयोग है। संस्कृत भी कालिदास साहित्य में वह है जो रामायण तथा महाभारत तक विकसित है, जिसमें पाणिनिव्याकरण का प्रयोग कुछ छूट के साथ किया गया है। कालिदास की प्राकृत संस्कृत का प्राकृतीकरण सा है। कालिदास की असंदिग्ध रचनाएँ हैं—

१. एक खण्डकाव्य मेघदूत — शृङ्गार के १११ मन्दाक्रान्ता।

२. दो महाकाव्य (क) कुमारसंभव (१—८ सर्ग) युगीन रचना,
(ख) रघुवंश (१—१९ सर्ग) प्रगतिशील मानव की कथा

३. तीन नाटक (क) मालविकाग्निमित्रम् १—५ अङ्क, ऐतिहासिक नाटक,
(ख) विक्रमोर्वशीयम् १—५ अङ्क, प्रेमकथा तथा
(ग) अभिज्ञानशाकुन्तलम् १—७ अङ्क, राष्ट्रीय सन्दर्भ ।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित रचनाएँ भी कालिदासकृत मानी जाती हैं—

(१) ऋतुसंहार (षड्ऋतुवर्णन)

(२) शृङ्गारतिलकम् (शृङ्गारकाव्य)

(३) नलोदय (यमककाव्य)

(४) श्रुतबोध (छन्द:शास्त्र) तथा

(५) ज्योतिर्विदाभरण (ज्यौतिषशास्त्र)।

इनमें से ऋतुसंहार का 'संहार' शब्द वैसे ही समुच्चयवाचक है जैसे वेणीसंहार का 'संहार' शब्द। इसीलिए इस काव्य को कहीं कहीं ऋतुवर्णन काव्य भी कहा गया है और कहीं कहीं ऋतुसमुच्चय भी। इसका आरम्भ ग्रीष्म ऋतु से होता है। वर्षा, शरद्,

हेमन्त, शिशिर तथा वसन्त' यह है इसमें ऋतुओं का क्रम। यही क्रम है अथर्ववेद में और रघुवंश के उन्नीसवें सर्ग में। वसन्तवर्णन के अन्त में १२ पद्य और जुड़े मिलते हैं।

यह रचना अवश्य ही उस कालिदास की नहीं है जिसको प्रतिष्ठा प्राप्त है मेघदूत आदि के कवि की, क्योंकि इसकी भाषा अशुद्ध भी है और ग्राम्य भी। कालिदास का प्रिय अलङ्कार है अर्थान्तरन्यास। वह इसमें नहीं है। उपमा तो है, परन्तु अधिक कलापूर्ण नहीं। संस्कृति तो इसे छू भी नहीं गई है। न इसमें धर्म है, न दर्शन, न यज्ञयागादि, न ईश्वर और न भक्ति। शरद् और वसन्त के वर्णन कुछ अधिक सुन्दर हैं, किन्तु हेमन्त प्राय: नगण्य है।

ऋतुसंहार में केवल वर्णन है, कथा नहीं, अत: इसके अनुच्छेदों का नाम 'वर्णना' मिलता है। संस्कृतभाषा के ग्रन्थों का मुद्रण ऋतुसंहार के विलियम जोन्स के बंगाली लिपि के संस्करण से आरम्भ होता है। उस संस्करण में भी अनुच्छेदों का नाम 'वर्णना' ही है। हमने भी अपनी कालिदासग्रन्थावली (१९८६) में 'वर्णना' शब्द ही दिया है और १९९० में साहित्यअकादमी से मुद्रित ऋतुसंहार में भी वर्णना शब्द ही अपनाया है, यद्यपि अन्य सभी संस्करणों में अनुच्छेदों को 'सर्ग' भी कहा गया है, जो कथानक के अंशों के लिए उपयुक्त हो सकता है।

यह रचना मांसल शृङ्गार से व्याप्त है, अत: यह किसी बालकवि की रचना नहीं कही जा सकती। इसकी न्यूनताएँ कविकर्म की न्यूनताएँ हैं। अवश्य ही मेघदूत आदि के रचयिता से ये कालिदास और ही हैं। इसी प्रकार ज्योतिर्विदाभरण आदि के कालिदास भी। मान्य रचनाओं में एक है खण्डकाव्य दो महाकाव्य तीन नाटक हैं। इन सबमें प्रक्षेप भी हैं।

(१) मेघदूत / मेघसन्देश :

मेघदूत को दक्षिणावर्त्तनाथ, अरुणगिरिनाथ तथा नारायण ने मेघसंदेश कहा है और मल्लिनाथ आदि ने मेघदूत ही। पक्ष दक्षिणावर्त्तनाथ का ही मान्य है, क्योंकि कवि ने स्वयं इस कृति के दो भाग माने हैं और कहा है–

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
संदेशं मे तदनु जलद! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।। मेघ० १३।।

'मित्र! मेघ पहले अपनी यात्रा के अनुरूप जो मार्ग हो सकता है मैं उसे बतलाए देता हूँ। उसे सुन लो। संदेश बाद में कहूँगा।' अर्थात् मेघदूत का एक वक्तव्य है रामगिरि से अलका तक सुखद मार्ग और दूसरा 'सन्देश'। इस शब्दयोजना से काव्य के जिस नाम को बल मिलता है वह मेघसन्देश ही है। हमारी कालिदासग्रन्थावली के

दोनों संस्करणों में मेघदूत शब्द ही अपनाया गया है, क्योंकि इस समय यही नाम प्रसिद्ध है। यद्यपि मेघसन्देशम् शब्द भी मेघदूतम् के नीचे दे दिया गया है।

इस रचना की एक कठिनाई इसकी समाप्ति की है। हमने इसकी समाप्ति दो विभिन्न छन्दों में से १११ का पूर्वार्ध और ११३ का उत्तरार्ध जोड़कर इस प्रकार की है—

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते
शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः।
इष्टान् देशान् विचर जलद! प्रावृषा संभृतश्री—
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।।

छपी पुस्तकों में से साहित्यआकादमी संस्करण में **'आंश्वास्यैवम्'** इत्यादि पूर्ण पद्य प्रक्षिप्त मानकर टिप्पणी में रखा गया है। अन्य संस्करणों में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के बीच आठ चरणों के पूरे दो श्लोक दे दिए गए हैं, जिनमें प्रथम दो चरण आश्वास्यैवं के उत्तरार्ध के रूप मे जुड़े मिलते हैं और अन्तिम ७—८ चरण अगले उत्तरार्ध के पूर्वार्ध के रूप में। 'साभिज्ञान, प्रातःकुन्द, कच्चित् सौम्य, प्रत्यादेशान्न, निश्शब्दोऽपि, प्रत्युक्तं हि, एतत् कृत्वा तथा सौहार्दाद्वा' ये आठ चरण कोष्ठक देकर हमने मूल में ही छपा दिए हैं, जिससे पाठक अपनी ओर से अन्यथा निर्णय भी ले सके। हमारी दृष्टि में ये प्रक्षिप्त इसलिए हैं कि मेघ से यह भी प्रार्थना कर दी गई कि प्रिया का सन्देश मेरे पास भी पहुँचाना, जबकि संदेश भेजने में हेतु बतलाया गया था प्रिया के प्राणों की रक्षा—**'दयिताजीवितालम्बनार्थी'**। दूसरे, पहले तो पूछा गया कि हे मित्र! मेरा यह बन्धुकृत्य क्या तुमने समझ लिया और स्वीकार कर लिया, फिर स्वयं ही समाधान दे दिया गया कि उत्तर के शब्दों में नहीं, अपितु अभीष्ट कार्य पूर्ण करने में सचेष्ट होते हैं सत्पुरुष।' धीरता शब्द का प्रयोग कालिदास स्वयं अनसुनी या उपेक्षा करने के अर्थ में करते हैं। मालविकाग्निमित्र में प्रथम अङ्क के मिश्रविष्कम्भक की सातवीं उक्ति में बकुलावलिका कौमुदिका से कहती है 'तू इतनी धीर कैसे हो गई कि पास से निकल रही है, पर इधर दृष्टि नहीं दे रही।' स्पष्ट ही धीरता को अवज्ञा के अर्थ में प्रयुक्त माना जाएगा यहाँ? फिर 'प्रत्यादेश' का अर्थ क्या लिया जाए यहाँ ? 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' अर्थात् निषेध अर्थ में मेघदूत में ही आया है प्रत्यादेश—**'प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्'** (९३) किन्तु टीकाकारों ने इसे उत्तर अर्थ में लिया। इस प्रकार के दो पक्षों में 'निषेध के कारण धीरता' का पक्ष संगत तो है किन्तु 'उत्तर दोगे तभी मैं तुम्हें धीर यानी मित्रकार्य करने हेतु उद्यत समझूँगा' यह भी एक अर्थ खींचा जा सकता है जो वस्तुतः विघ्न है। इसके आगे का वचन दीनता से परिपूर्ण है जो दिव्ययोनि की प्रकृति के विरुद्ध है। इतना ही नहीं, निर्णयसागरीय संस्करण, चारित्रवर्धन टीकायुक्त चौखंभा संस्करण तथा साहित्य अकादमी संस्करण के अन्त में अन्य कुछ पद्य भी जुड़े मिलते

हैं, जिनमें मेघ यक्षपत्नी को दिव्यभाषा (संस्कृत) में यक्ष का संदेश सुनाता और यक्षी का संदेश भी रामगिरि पहुँचकर यक्ष को सुना देता है। यह सब भावकचेतना का प्रसाद है, महाकवि कालिदास का कविकर्म नहीं। मेघदूत में जुड़े इस प्रकार के प्रक्षिप्त पद्य निम्नलिखित हैं—

	मात्लिनाथ	चारित्रवर्धन	साहित्याकादमी	कालिदासग्रन्था—२
१. अक्षय्यान्तः	मू. उ.८	मू. उ.८	प्रक्षिप्त	मू. संख्यारहित
२. अध्वक्ला	प्र.१७–१८टि.			
३. अन्वेष्टव्या	प्र. २५ टि.	प्रक्षिप्त	प्रक्षिप्त	प्रक्षिप्त
४. अम्भोबिन्दु	प्र.२०—२१टि.	प्रक्षिप्त	प्रक्षिप्त	प्रक्षिप्त
५. आनन्दो	प्र. किन्तु व्याख्यात २.२ उत्तरार्ध	प्रक्षिप्त	प्रक्षिप्त	प्रक्षिप्त
६. आश्वस्यै	मू.	मू.	प्रक्षिप्त	मू. पूवर्धिमात्र
७. इत्थम्भूत	प्रक्षिप्त	प्रक्षिप्त	प्रक्षिप्त	प्रक्षिप्त
८. इष्टान् देशान्	मू. (५२ उत्त टि)	मू.	मू.	मूल उत्तरार्ध १११
९. एतत् कृत्वा	मू.	मू.	मू. १११	प्र. (पूर्वार्ध १११)
१०. कच्चित् सौम्य	मू. ५२ उ.	मू.	मू.	मू. किन्तु प्रक्षिप्त
११. तं संदेशं	प्र.	मू.	प्रक्षिप्त	प्रक्षिप्त
१२. तस्माद्द्रेः	प्र. ५२ उ. मे.		प्र. १८	
१३. धारासिक्त	प्र. ४२ पद्य	प्र.	प्र.	प्र.
१४. पत्रश्यामा	प्र. ३१ प्र. व्याख्यात	प्र.	प्र.	प्र.
१५. प्रद्योतस्य	मू. ३१—३२	प्र.	प्र.	मू. संख्यारहित
१६. मन्दाकिन्याः	मू.	प्र.	प्र.	प्र.
१७. यत्रोन्मत्त	मू. प्रक्षिप्त व्याख्यात	प्र. व्याख्यात	प्र.	प्र.
१८. श्रुत्वा वार्त्ता	प्र. ५२ उ.टि.	मू.	प्र.	प्र.
१९. स्निग्धाः सख्यः	प्र. २५ उ.		प्र.	प्र.
२०. हारॉस्तारान्	प्र. ३१ व्याख्यात		प्र.	प्र.
२१. हेमाम्भोज	मू.	मू.	मू.	मू. संख्यारहित

(प्र. = प्रक्षिप्त, मू. = मूल, उ. = उत्तरमेघ)

इन पद्यों में से 'धारासिक्त.' इत्यादि पद्य को भोजराज ने शृङ्गारप्रकाश में उद्धृत किया है [१]। 'प्रद्योतस्य' पद्य को हमने उज्जयिनी के सहृदयों के अनुरोध से मूल में ले लिया है, किन्तु उसकी संख्या हटा दी है। ऐसे ही अन्य पद्य हैं १,६,१०,१५ और

२१। मल्लिनाथ ने भी क्रमाङ्क '४,५,१४,१५,१७,२०' को प्रक्षिप्त माना, किन्तु व्याख्या की है। अन्य टीकाकार हैं दक्षिणावर्त्तनाथ, वल्लभदेव, सरस्वतीतीर्थ, भरतमलिक आदि। इनकी टीकाएँ छपी हैं और महत्त्वपूर्ण भी हैं। इनमें मेघदूत के 'इत्याख्याते' पद्य (९८) 'गत्युत्कम्पा' पद्य (७०) तथा 'वासश्चित्रं' पद्य (७२) नहीं मिलते[२]।

(२) कुमारसंभव : अष्टमूर्त्तिमहाकाव्य

यह महाकवि कालिदास का प्रथम महाकाव्य है [३]। इसके दो भाग हैं। इनमें से प्रथम भाग में १—८ सर्ग हैं और द्वितीय भाग में ९—१७ सर्ग। प्रथम भाग निश्चित रूप से महाकवि कालिदास की ही कृति है। द्वितीय भाग के रचयिता के रूप में नाम तो कालिदास का ही मिलता है, किन्तु आगे उद्धृत १२.५४ पद्य से संकेत मिलता है कि इसकी रचना उत्कल के संत कवि 'शङ्करदेव' ने की है। दोनों भागों में कथासूत्र एक ही है, अत: आठवें सर्ग के बाद के सर्गों के साथ संख्या ९—१७ जोड़ी गई है और दोनों भागों को एक ही शीर्षक 'कुमारसम्भव' के अन्तर्गत रख दिया गया है। वस्तुत: प्रथम आठ सर्गों के लिए ही 'कुमारसंभव' संज्ञा उपयुक्त है। आगे के सर्ग काव्योचित घटनाओं से युक्त नहीं माने जा सकते। उस भाग का नाम होना चाहिए 'तारकवधम्'। बहुत कम हस्तलेख ऐसे हैं जिनमें दोनों भाग लिखित हों। प्रकाशित संस्करणों में हमने हमारी कालिदासग्रन्थावली के दोनों संस्करणों में इस भाग को परिशिष्ट में भी नहीं दिया है, यद्यपि साहित्यअकादमी से छपे संस्करण में इन दोनों ही भागों को समान आदर के साथ छापा गया है। इस भाग के हटाने से कुछ सहृदयम्मन्य अंग्रेजीविद् हमारे ऊपर बरस पड़े हैं। किन्तु हम उनकी सतृणाभ्यवहारिता को प्रणाम करते हैं। कुमारसंभव के उत्तरार्ध के रूप में हमने इसी वर्ष 'कुमारविजयम्' (१—१२ सर्ग) नामक स्वरचित महाकाव्य प्रकाशित करा दिया है[४]।

प्रथम भाग में 'संभव' शब्द का अर्थ है सुनिश्चित उत्पत्ति। दूसरे भाग के लिए संभव—शब्द की निरुक्ति सोचनी होगी।

कुमारसंभव कथा (१-८ सर्ग) :

कुमार यानी कार्त्तिकेय उनकी आवश्यकता आ पड़ी तारकासुर के वध के लिए। उसके लिए संयमियों में अग्रणी शिव के साथ पार्वती का विवाह आवश्यक था।

---

१. ज्योशेर संस्करण भाग—४ पृ० ७२०

२. मेघसन्देशम् Ed. प्रो. उन्नी, १९८७ भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली तथा वाराणसी।

३. डॉ० रामजी उपाध्याय कुमारसंभव को रघुवंश के बाद की रचना मानते हैं।

४. कुमारविजयम्, रेवाप्रसादद्विवेदी, प्र.कालिदाससंस्थान, २८ महामनापुरी, वाराणसी—५

देवताओं ने उसके लिए कामदेव को नियुक्त किया। वह चला। उसके साथ उसका मित्र वसन्त भी चला। उसने वनस्थली को इतना उद्दीपक बना दिया कि शिवजी के आश्रम के तपस्वियों के मन डोलने लगे। परन्तु नन्दी ने निषेध किया तो काममित्र मधु का संपूर्ण वैभव चित्रलिखित सा निर्जीव हो गया। काम व्याकुल था। उसी समय वसन्त ऋतु परमसुन्दरी पार्वती के शृङ्गार के रूप में समाधिस्थ शिव के पास पहुँचा तो शिव ने भी उसी समय आँखें खोलीं। पार्वती का सौन्दर्य उन्हें छू गया। उनका संयमजन्य धैर्य डोला, क्योंकि उसी समय काम ने संमोहन बाण चलाना आरम्भ कर दिया। शिव ठहरे वशी, अत: अपने चित्त का पुन: निरोध कर उसका हेतु खोजने हेतु दिशाओं में दृष्टि डाली और पाया कि काम शरवर्षा कर रहा है, तो उन्हें क्रोध आ गया और उनके तृतीयनेत्र से अग्निज्वाला निकली जिसमें काम का स्थूल शरीर भस्म हो गया। शिव स्वयं अन्तर्हित हो गए। पार्वती मर्माहत थीं। पिता की आज्ञा से उन्होंने घोर तपश्चर्या की। उसी बीच एक तेजस्वी ब्रह्मचारी हाथ में आषाढ दण्ड लिए पार्वती के पास जा पहुँचा। वह बड़ा वाचाल था। उसने जाना कि पार्वती शिव को पति के रूप में प्राप्त करने हेतु तपस्या कर रही हैं तो वह हँसा और शिव के अघोर वेष का वर्णन कर कहा कि वे कैसे भा गए तुम्हें। छोड़ो इस दुराग्रह को और वर लो किसी उत्तम देव को। पार्वती को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने शिव की विभूतियों का वर्णन किया और देखा कि ब्रह्मचारी वटु के ओंठ फरक रहे हैं और वह पुन: कुछ कहने जा रहा है तो पार्वती ने सखी से कहा रोको इसे और कहा अथवा मैं ही यहाँ से चली जाती हूँ। और वे चल पड़ीं। किसी ने उन्हें पीछे से पकड़ लिया। देखा कि वे स्वयं शिव हैं और कह रहे हैं कि 'पहले तो मैं तुम्हें छोड़ अन्तर्हित हो गया था, परन्तु तुमने इतना तप किया है कि 'आज से मैं तुम्हारा दास हूँ'। पार्वती का तपोजन्य क्लेश दूर हुआ। वे बोलीं मेरे दाता हैं मेरे पिता गिरिराज हिमाचल। उनसे अनुज्ञा ले ली जाए। शिव जी ने दिव्य सप्तर्षियों का स्मरण किया और उन्हें गिरिराज के नगर ओषधिप्रस्थ पार्वती के पाणिग्रहण के लिए भेजा। वे स्वीकृति लेकर पुन: शिवजी के पास पहुँचे। स्वीकृति की सूचना पर विवाह मुहूर्त्त खोजा जो ३ दिनों बाद चौथे दिन मिला। बरात पहुँची। विधिवत् विवाह हुआ। परन्तु कवि को शिव की प्रवृत्ति से डर था। संभव है विवाह के बाद भी ये समाधि में डूब जाएँ। उसने शिव से कौतुकागार की एकान्त लीला तक कराई और लिखा कि शिव पार्वती के साथ दिनरात संगमलीन थे। अब हुआ उसे पूरा विश्वास कार्त्तिकेय की विधिवत् उत्पत्ति यानी संभव का। आठ सर्गों की इस कथा में 'कुमार का सम्यक् भव संभव हो गया, अब उसकी क्षीण शंका भी नहीं थी तो कुमारसंभवम् महाकाव्य आठवें सर्ग के साथ पूर्ण हो गया और कवि ने अपनी लेखनी को विराम दिया। किन्तु,

तारकवधम् (९–१७ सर्ग कुमारसंभवम्)

उसमें ९–१७ सर्ग जोड़ दिए गए जिनकी रचना स्तरीय नहीं है, जहाँ तक कविकर्म का सम्बन्ध है। इतने पर भी कुछ विचारकों ने कल्पना की कि इस अंश का निर्माण प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने किया, क्योंकि वे अच्छे कवि भी थे, किन्तु कुमारसंभव के ही निम्नलिखित पद्य से लगता है कि इस अंश की रचना उत्कल के सन्त शङ्करदेव ने की है–

अहो अहो देवगणाः सुरेन्द्रमुख्याः शृणुध्वं वचनं ममैते।
विचेष्टते शङ्कर एष देवः कार्याय सज्जो भवतां सुताद्यैः॥ कुमार० १२.५४॥

'अहो अहो! इन्द्रादि देवो! सुनो मेरी बात–'आपके कार्य के लिए यह शंकर देव ही सचेष्ट है अपने पुत्र आदि के साथ।'

जो हो, ९–१७ सर्ग के श्लोक और उनका कथासंविधानक कुमारसंभव के ही प्रथम १–८ सर्गों से मेल नहीं खाता। सप्तम सर्ग में जिस कुहवर को कवि कौतुकागार (७.९४) कहता, उसी के लिए नवम सर्ग में वह 'संभोगवेश्म' जैसा भद्दा शब्द गढ़ता है (९.१) अगले पद्य में तो श्लीलता और शिष्टता को भुला दिया गया और कहा गया–'कबूतर गुटुरगूँ गुटुरगूँ कर रहा था। उसकी यह ध्वनि कैसी थी, जैसी 'अच्छे सुपुष्ट कान्त और वैसी ही कान्ता के संभोग की आवाज होती है।' पता नहीं कबूतर की कण्ठध्वनि मैथुनध्वनि से कैसे मेल खाती है। यह हुआ द्वितीय पद्य। तृतीय पद्य में कबूतर के अर्धविस्फारित पंखों के लिए विस्फारित के स्थान पर 'ईषद् विशृङ्खल' शब्द का प्रयोग है। चतुर्थ पद्य में कबूतर को फेनपिण्ड की उपमा दी है–'रति और काम दोनों ने सुधा के तालाब में खूब धींगामुस्ती की तो उसमें उत्पन्न हो गया नया नया फेनपिण्ड, कपोत उसी जैसा था। उसे देख चन्द्र को मौलि में धारण किए शिव खूब प्रसन्न हुए।' यहाँ होनी चाहिए थी उत्प्रेक्षा, परन्तु बनकर रह गई उपमा। फिर 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'नदि' धातु का प्रयोग प्रसन्न होने के अर्थ में नहीं होता। प्रणाम करने के अर्थ में अथवा प्रशस्तिप्रदान आदि के अर्थ में ही 'अभिनन्दन'–शब्द प्रचलित है। यहाँ इसका प्रयोग केवल प्रसन्न होने अर्थ में है–'तं वीक्ष्याभ्यनन्दत्' वाक्य से यही अर्थ निकलना चाहिए, किन्तु प्रतीत हो रहा है कि शिवजी ने कपोत का अभिनन्दन किया। शिव ने कपोतवेषधारी अग्नि को जब पँहचान लिया तो वह डरते डरते अपने रूप में प्रकट हुआ' इस आशय के षष्ठ पद्य में 'त्रसन्' पद का प्रयोग है जो 'त्रस्यन्' होना चाहिए, क्योंकि 'त्रस्' धातु दिवादि की धातु है। **त्रसन्बलत्कम्पकृताञ्जलि** (९.६) कैसी अभिव्यक्ति, जिसमें 'बलत्' व्यर्थ और 'कम्प' भी निरर्थक। ऐसा प्रयोग कालिदास साहित्य में कहीं नहीं। 'अध्युवाच' क्रियापद में 'अधि' केवल पादपूर्त्यर्थक है। इसके आगे के पद्य में तो एक प्रकार से नग्नता को भी लज्जित होना पड़ा–

त्वया प्रियाप्रेमवशंवदेन शतं व्यतीये सुरतादृनाम्।
रहःस्थितेन त्वदवीक्षणार्त्तो दैन्यं परं प्राप सुरेन्द्रः।। कुमार० ९.८।।

अर्थ है—हे भगवन्! आप तो वश में हो गए प्रियाप्रेम के। यहाँ तक कि सुरत करते सौ ऋतु बीत गई हैं।'

देखिए यह कैसी उक्ति है—

स शङ्करस्तामिति जातवेदोविज्ञापनामर्थवतीं निशम्य।
अभूत् प्रसन्नः परितोषयन्ति गीर्भिर्गिरीशा रुचिराभिरीशम्।। कुमार० ९.१२।।

इसमें 'तामिति' शब्द का 'इति' अनपेक्षित है। उत्तरार्ध में 'गिरीशाः' 'गिरामीशा' इस प्रकार केवल यौगिक अर्थ में अपनाया गया है, जबकि है यह रूढ, वह भी शिव अर्थ में ही। **'गिरीशा रुचिराभिर्गीर्भिरीशं परितोषयन्ति'** गिरीश यानी शिव ईश यानी शिव को परितुष्ट करते हैं' यह कोई समर्थक वाक्य नहीं हुआ। इसे होना था **'परितोषमेति गीर्भिर्गिरीशो रुचिराक्षराभिः'**—ऐसा कुछ।

'रङ्गभङ्ग—शब्द संस्कृत में उस अर्थ में नहीं प्रयुक्त होता जिस अर्थ में वह हिन्दीभाषी क्षेत्र में प्रयुक्त होता है। 'मजा किरकिरा' होना है रङ्गभङ्गशब्द का प्रमुख अर्थ। यहाँ यह इसी अर्थ में प्रयुक्त मिलता है—

युगान्तकालाग्निमिवाविषह्यं परिच्युतं मन्मथरङ्गभङ्गात्[1]।
रतान्तरेतः स हिरण्यरेतस्यथोर्ध्वरेतास्तदमोघमाधात् ।। कुमार० ९.१४।।

ध्यान देने की बात है कि यही घटना रघुवंश में प्रस्तुत की गई है, किन्तु वहाँ शिष्टता सुरक्षित है—

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः।। रघु० २.७५।।

दशरथ की चारों धर्मपत्नियाँ गर्भवती हुईं तो वहाँ भी कालिदास अत्यन्त शिष्टता के साथ इस कथ्य को प्रकट कर गए—

ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसम्भवः।
सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः।। रघु १०.५८।।

'रेतस्' और 'रतान्तरेतस्' दोनों प्रयोग अश्लीलता की कोटि में पहुँचे लगते हैं। 'ऊर्ध्वरेता' का रेतस् स्खलित नहीं होता। यहाँ शिव को ऊर्ध्वरेता भी कहा गया और बतलाया गया अधोरेता, क्योंकि उनका वीर्य स्खलित हो गया। फिर रत का अन्त हुआ ही कहाँ, उसमें तो विघ्न आ गया। इस प्रकार यह उक्ति ग्राम्य कोटि की उक्ति है।

---

१. रङ्गभङ्ग शब्द इसी अर्थ में पुनः कुमारसंभव १०.१२ आदि में दिया गया है।

कालिदास की शिष्टता इसमें नहीं है।

१०.४८ पद्य में 'अभिनन्दति' के स्थान पर 'अभिनन्दयति' प्रयोग अशुद्ध है। ऐसी ही अन्य त्रुटियों के कारण कुमारसंभव में जुड़े इस अंश का लेखक किसी अन्य व्यक्ति को माना ही जाना चाहिए, जिसमें संस्कृतभाषा और भावाभिव्यक्ति क्षीण और ग्राम्य जैसी थी।

अभिप्राय भी इस अंश में पूर्ववर्ती अंश से भिन्न हैं। तृतीय सर्ग में समाधि—स्थ शिव का शान्तमुद्रा में वर्णन है तो इस अंश के द्वादश सर्ग में घोर मुद्रा में अष्टम पद्य से इक्कीसवें पद्य तक १३ पद्यों के सुदीर्घ कुलक द्वारा। दो पद्यों में देखिए कैसा बन्ध है शब्दों और भावों में—

पाणिस्थित—ब्रह्मकपालपात्रं वैकुण्ठकङ्कालकरालकायम्।
नरास्थिखण्डाभरणं रणान्तमूलं त्रिशूलं कलयन्तमुच्चैः।। कुमार० १२.१६।।
पुरातनीं ब्रह्मकपालमालां कण्ठे वहन्तं पुनराश्वसन्तीम्।
उद्गीर्णवेदां मुकुटेन्दुवर्षत्सुधाभरौघाप्लवलब्धसंज्ञाम्।। कुमार० १२.१७।।

यहाँ द्वितीयान्त पदों का अन्वय १२.८ में निकल चुकी 'आलुलोके' क्रिया से है। ऐसे शिव के दर्शन का प्रभाव इन्द्र पर क्षोभ के रूप में प्रस्तुत किया गया—

तथाविधं शैलसुताधिनाथं पुलोमपुत्रीदयितो निरीक्ष्य।
आसीत् क्षणं क्षोभपरो नु कस्य मनो न हि क्षुभ्यति धामधाम्नि।।
— कुमार० १२.२२

यहाँ 'क्षोभ' के स्थान पर 'त्रास' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त होता। इसी प्रकार क्षुभ्यति के स्थान पर 'त्रस्यति' शब्द का। तभी **'धामधाम्नि'** भाव भी समुचित ठहरता—'आसीत् क्षणं त्रासपरो, न कस्य मनोमृगस्त्रस्यति धामधाम्नि' ऐसी योजना भी की जा सकती थी यहाँ। शिव—दर्शन का प्रभाव इन्द्राणी पर कोप के रूप में दिखाई दिया—

दृष्ट्वा सहस्रेण दृशां महेशमभूत् कृतार्थोऽतितरां महेन्द्रः।
सर्वाङ्गजातं तदथो विरूपमिव प्रियाकोपकरं विवेद ।। कुमार० १२.२४।।

इसके उत्तरार्ध में पाठान्तरों की भरमार है, क्योंकि मूलभूत बिम्ब धूमिल है। यह अपने आप में कविकर्म की कमी है।

इन्द्र पर परमशिव ने दो प्रकार से अनुग्रह किया एक तो प्रीति से और दूसरे सुधावर्षी दर्शन से। क्या मतलब? कदाचित् यह कि शिव के मन में इन्द्र के दर्शन से प्रेम जागा फिर अमृतवर्षी दृष्टिपात किया इन्द्र पर उन्होंने। दृष्टिपात के लिए विलोकनशब्द का प्रयोग किया और उसका विशेषण दिया **'सुधासारनिधारिणेव'** या **'सुधासार—विधारिणेव'** या **'सुधासारविसारिणेव'**। सभी अस्वाभाविक, अतएव पाठान्तरों से परिपूर्ण।

नीचे दिए श्लोक की पदावली कितनी अस्वाभाविक है। देवेन्द्र शिव से कह रहे हैं कि तारकासुर ब्रह्मदेव के वरदान से हम सभी को तृणतुल्य मान रहा है—

विधेरमोघं सुवरप्रसादमासाद्य सद्यस्त्रिजगज्जिगीषुः।
सुरानशेषानहकप्रमुख्यान् दोर्दण्डचण्डो मनुते तृणाय॥ १२.४६॥

यहाँ 'सुवरप्र०' के स्थान पर 'स वरप्र०' बना लिया गया है, किन्तु 'सु'—उपसर्ग के प्रयोग की आदत ही है इस कवि की। इसीलिए वह १२.३१ में 'सुभक्तिभाजां गणानाम्' ऐसा प्रयोग करता है और १३.४७ में 'सुदेवतानाम्' प्रयोग। 'अहकप्रमुख्य' शब्द भी व्याकरण प्रक्रिया से गढ़ा गया प्रयोग है जो पूरे कालिदास साहित्य में केवल यहीं मिलता है, 'स मत्प्रधानानमरानशेषान्' भी पाठ बनाया जा सकता था यहाँ। 'अहं' के साथ 'अकच्' जोड़कर 'अहक' शब्द बनाना फिर 'प्र+मुख्य' शब्द उसमें बिठाना कालिदास की व्युत्पत्ति के लिए कलंक है। १४.२ में 'अध्यरुक्षत्' के लिए 'अध्यरोहयत्' लिखा गया है। इन सब कारणों से हमारी यह मान्यता ठीक ही है कि—'कुमारसंभवम्' शीर्षक के अन्तर्गत दो विभिन्न कृतियाँ मिला दी गई हैं (१). कुमारसंभवम् और (२) तारकवधम्। इनमें से कुमारसंभव १—८ सर्गों की रचना है और (३) तारकवधम् ९—१७ सर्गों की। इन क्षेत्रों में कथासूत्र संबद्ध है अत: 'तारकवधम्' के लिए १—९ संख्या नियत न कर १—८ के आगे की ९—१७ संख्या ही निश्चित की गई। दोनों रचनाएँ भिन्न—भिन्न लेखकों के द्वारा निर्मित हैं [१]।

कुमारसंभव का अष्टम सर्ग

कुमारसंभव के कुछ संस्करण ऐसे भी हैं जिनमें अष्टम सर्ग नहीं है। कुछ पाण्डुग्रन्थ भी ऐसे हैं, किन्तु इस सर्ग के स्वतन्त्र हस्तलेख भी मिलते हैं, आठवीं शताब्दी के वामन में इसके उद्धरण भी। और कविता इसी सर्ग में अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँची हुई मिलती है, अत: यह सर्ग सर्वथा अत्याज्य है। कुमार का संभव भी इसी सर्ग में चित्रित होता है, इसलिए इसके विना यह काव्य अपूर्ण होगा।

(३) रघुवंश : गभीरमहाकाव्य

रघुवंशम् महाकवि कालिदास का द्वितीय महाकाव्य है। इसमें १९ सर्ग हैं और सूर्यवंश के दिलीप (खट्वांग) से अग्निवर्ण तक का वर्णन है। इनमें (१—८ तक) 'रघु' के वर्णन तक मानव की असाधारण प्रगति चित्रित है, जिसमें मानव को इन्द्र से

---

१. डॉ० सदाशिवकुमार द्विवेदी का पीएच्.डी. ग्रन्थ — **'A textual study of Kumarasambhava Manuscripts'**, Publisher-S.S.University, Varanasi.

इस सभी असंगतियों को दूर कर हमने स्वयं ११ सर्गों और ९०४ पद्यों में 'कुमारविजयमहाकाव्य' बनाया जो कालिदाससंस्थान, वाराणसी से १४.८.२००२ को प्रकाशित भी है।

अधिक बलशाली, किन्तु वैराग्यपूर्ण योगाभ्यास से अव्ययपुरुषत्व को प्राप्त बतलाया गया है। इसका नाम है रघु। **रघु शब्द 'गति' अर्थ की 'रघि' धातु से निष्पन्न संज्ञा है, जिसका अर्थ है प्रगतिशील।** उसके पूरे वंश को रघु और राघव कहा गया है। इसमें निम्नलिखित सोलह विशेष गुण सुरक्षित थे—

१. जन्मशुद्धि
२. फलोदयपर्यन्त कर्मरति,
३. समुद्रपर्यन्त कर्मरति,
४. स्वर्ग तक रथ की गति,
५. विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान,
६. याचकों को मनचाही मात्रा में दान,
७. जैसा अपराध वैसा दण्ड,
८. समय रहते सचेत हो जाना,
९. अर्थसंग्रह दान के लिए,
१०. सत्य के लिए मितभाषण,
११. विजय यश के लिए,
१२. प्रजा (सन्तति और जनता के लिए गार्हस्थ्य अपनाना),
१३. शैशव में विद्याभ्यास,
१४. यौवन में विषयेच्छा अर्थात् सर्वविध अभ्युदय और भोग,
१५. वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति तथा
१६. अन्त आने पर शरीर 'योग' से छोड़ना।

रघु में इनमें से जन्मशुद्धि, फलोदय तक कर्म में निरत रहे आना, समुद्रपर्यन्त शासन, विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान, याचक को अभीष्टपूर्त्ति, अर्थसंग्रह दान के लिए, प्रजा के लिए सन्ततिमार्ग या गृहमेध, शैशव में विद्याभ्यास, यौवन में विषयेच्छा, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति और योग से शरीर का परित्याग इन ११ विशेषताओं का स्पष्टरूप से चित्रण किया गया है। स्वर्ग तक रथमार्ग भी रघु में चित्रित है। यथापराध दण्ड, यथाकालप्रबोध, सत्याय मितभाषण तथा विजय यश के लिए विस्तारपूर्वक वर्णित नहीं हैं, किन्तु रघु के व्यक्तित्व में इनका अभाव नहीं माना जा सकता। इसीलिए 'रघु' को ही इस वंश का नायक माना गया और महाकवि ने अपनी काव्यकृति को रघुवंश नाम से ही प्रख्यापित किया।

रघुवंश के नायक रघु की जन्मशुद्धि को महाकवि ने रघु के पिता दिलीप के वर्णन से ही बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ प्रतिपादित करना शुरू कर दिया है। दिलीप को सन्तति नहीं थी। वे रानी सुदक्षिणा के साथ गुरु वसिष्ठ के पास गए। गुरु ने ध्यान से

जान लिया कि दिलीप को कामधेनु का शाप है कि उसकी सन्तति की उपासना के विना उन्हें सन्तति नहीं होगी। वसिष्ठ की बछिया कामधेनु की ही सन्तति थी अत: उसी की उपासना निश्चित हुई। प्रात:काल उसे चराने ले जाते थे स्वयं दिलीप। सायंकाल भी वे नन्दिनी के लिए दीपक लगाते और उसे प्रणाम कर उसके सो जाने पर सोते, किन्तु उठते भी उसके उठते ही[१]। यह क्रम २१ दिनों तक चला। बाईसवें दिन एक शेर ने नन्दिनी को दबोच लिया। दिलीप ने शेर पर छोड़ने हेतु बाण निकालना चाहा, किन्तु जीवन में पहली बार वे बाण निकालने में असफल हुए। उनका हाथ बाण के पिछले भाग में ही चिपक गया । सिंह ने कहा — 'देखो। सामने है देवदारु। इसे माता पार्वती ने लगाया और पाला पोसा है। अत: भगवान् शिव इसे अपना पुत्र मानते हैं। एक बार एक जंगली हाथी ने इससे सिर खुजला लिया, जिससे इसकी छाल उपट गई और माता पार्वती को बड़ा दु:ख हुआ । तबसे भगवान् शंकर ने मुझे इसकी रक्षा सौंप रखी है और भोजन के लिये नियत कर दिया है वह प्राणी जो इस सीमा में आ पहुँचे। यह गाय यहॉ आ पहुँची है, अत: यह मेरे लिये भक्ष्य है। दिलीप विस्मित थे, किन्तु चाहते थे कि गुरुधन नन्दिनी की रक्षा हो जाए। वे इस कार्य में लगे थे वंश की रक्षा के लिए, किन्तु उन्होंने उसे छोड़ा और तैयार हो गए आत्माहुति देने हेतु[२]। उन्होने सिंह से कहा भगवान् शिव का आदेश मुझे भी मान्य है, परन्तु आपकी सीमा में मैं भी आ पहुँचा हूँ, मेरे शरीर से भूख बुझा लीजिए, किन्तु इस गाय को छोड़ दीजिए, क्योंकि यह है गुरुजी के यज्ञकार्य में आवश्यक सामग्री की आपूरक । शेर बोला 'तुम तो राजा हो। एक नहीं एक करोड़ गाय सुलभ करा देना गुरूजी को।' दिलीप ने पुन: कहा 'यह गाय कामधेनु है। इसकी पूर्ति अन्य गायों से भी संभव नहीं हैं, तुमने तो भगवान् शिव के प्रभाव से इसे दबा लिया है। मेरी आपसे इतनी बातचीत हुई तो मैं आपका सम्बधी बन गया हूँ। कृपया मुझ सम्बन्धी की यह प्रार्थना न तोड़िए। सिंह ने स्वीकार कर लिया दिलीप को खाना और नन्दिनी को छोड़ना। तत्काल दिलीप का चिपका हाथ छूट गया और उन्होंने अपने वचन के विरुद्ध न जाते हुए सिंह को अपना समर्पण कर दिया। वे सिर झुका कर सिंह के समक्ष बैठ गए । वे सोच रहे थे कि सिंह का पंजा मुझ पर अब पड़ेगा, तब पड़ेगा कि आवाज सुनाई 'वत्स उठ'। दिलीप उठे। वहाँ अब शेर न था । वहाँ थी

१. इसलिए यह मानना तर्कशुद्ध है कि नन्दिनी गाय भी थी, विद्या भी और प्रतिभा भी। सोया व्यक्ति जागता है प्रतिभा या बुद्धि के जागने के बाद ही जबकि उपासना में उपासक को पहले जागना चाहिए।

२. यही आख्यान है कालिदास के विषय में इस किम्वदन्ती का मूल कि वे जिस शाखा पर बैठे थे उसी को जड़ से काट रहे थे। उनकी यह प्रवृत्ति लोक के धरातल पर भले ही मूर्खता हो परन्तु साधना और समर्पण के धरातल पर तो सिद्धि का सोपान है। इसी से उन्हें विद्योत्तमा या उत्तम विद्या ने वरण किया और कविप्रतिभा से संपन्न बनाया।

वत्सल नन्दिनी। उसने कहा 'तेरी परीक्षा के लिए यह माया मैने ही रची थी । मैं प्रसन्न हूँ, वर माँग।' दिलीप ने वंशकर्ता और अनन्तकीर्तिवाला पुत्र माँगा। नन्दिनी ने कहा — 'दोंना बनाकर मेरा दूध दुह लो और पी जाओ, तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा।' किन्तु,

यह थी दिलीप की **द्वितीय परीक्षा**। प्रथम की अपेक्षा यह और कठिन थी, किन्तु दिलीप सावधान थे। उन्हें अधिकारमर्यादा का ध्यान था। वे रुके और विनयपूर्वक बोले 'माँ! तुम्हारे दूध का प्रथम अधिकारी है तुम्हारा वत्स। बचने पर अधिकार है यज्ञकर्म का। उससे बचने पर उसके अधिकारी है गुरूजी वसिष्ठ। यदि बचे और गुरूजी आज्ञा दें तो मै तुम्हारा दूध पीना चाहूँगा, वह भी अनुग्रहपूर्वक दान दी गई वस्तु के रूप में नहीं, अपितु रक्षित पृथ्वी के षष्ठांश के समान अपनी अधिकृत वस्तु के रूप में'। नन्दिनी और अधिक प्रसन्न हुई और दिलीप के साथ आश्रम लौट आई। प्रिया सुदक्षिणा ने नन्दिनी की पूजा की । दिलीप ने उस दिन की सिद्धि से उसे अवगत कराया ।

गुरु वसिष्ठ की आज्ञा हुई और दिलीप ने अपने मूर्तयश से शुभ्र नन्दिनी के दुग्ध का पान किया। राजधानी लौटने पर महारानी सुदक्षिणा गर्भवती हुईं । गर्भ का विधिवत् पालन हुआ और शुभ मुहूर्त में रानी ने तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया । यह थी रघु की जन्मशुद्धि ।

अब देखिये इसका प्रभाव :—

पुत्र का नाम भावी प्रगतिशीलता के आधार पर **'रघु'** रखा गया । आगे चलकर रघु वेदविद्याओं तथा शत्रुओं के अन्त तक पहुँचने वाला था। उसने विभिन्न विद्याएँ प्राप्त कीं किन्तु अस्त्रविद्या प्राप्त की स्वयं दिलीप से जो पूरी पृथ्वी पर प्रमुख धनुर्विद्याविद् भी थे। विद्याओं के साथ—साथ उनके मन्त्रों को भी ग्रहण किया रघु ने।

रघु जब युवक हुए तो दिलीप ने राजकुमारों सहित रघु की रक्षा में सौवें अश्वमेध का अश्व छोड़ा । वह देखते—देखते अलक्षित हो गया। उसी समय उपस्थित दिखाई दी नन्दिनी । उसकी गुमातर से आँखे धोते ही दिखाई दिया कि पूर्वदिशा में एक रथ जा रहा है और अश्वमेध का अश्व उसी के पीछे बँधा है। हजार संख्या के निर्निमेष नेत्रों से रघु ने पहचान लिया कि वह देवराज इन्द्र था। युद्ध हुआ और यहाँ तक कि इन्द्र ने रघु पर वज्र भी छोड़ दिया। किन्तु आश्चर्य, कि रघु उसके प्रहार की पीड़ा से एक क्षण में ही मुक्त हो, उठ खड़े हुए और धनुष पर बाण चढ़ाने लगे। देवराज इन्द्र ने पैंतरा बदला और कहा 'पुत्र! तुम्हारे पराक्रम से मैं प्रसन्न हूँ। मेरे पर्वतों को ढहा देने वाले वज्र को पहली बार तुम्हीं ने विफल किया है। वर माँगों, किन्तु अश्व को छोड़कर।' रघु की आँख खुल गई और उसने पाया कि स्वर्ग में भी दीनता है तो उसने अपवर्ग का मार्ग चुन लिया। उसने इन्द्र से प्रार्थना की 'इस वृतान्त को आप ही अपने संदेशवाहक से पिताजी के पास भिजवा दीजिए, क्योंकि वे यज्ञशाला में शिव के रूप

में बैठे है, वहाँ मनुष्य नहीं जा सकता।' सौवाँ अश्वमेध छोड़कर दिलीप और सुदक्षिणा मुनियों के आश्रम में जा बसे। रघु ने दिग्विजय की और उससे प्राप्त सम्पूर्ण संपत्ति विश्वजित् यज्ञ में दान कर दी, उनके अपने लिये शेष रखे मिट्टी के पात्र। उनके लिये एक उल्लेखनीय अवदान बन गया कि 'पूरे भारत की दिग्विजय से प्राप्त सम्पत्ति का कण—कण उन्होनें दान में दिया था। रघु के पुत्र अज के स्वयंवर में पिता रघु की कीर्ति का जब गान किया गया तो यही कहा गया कि 'महाराज इक्ष्वाकु के वंश में हुए महाराज ककुत्स्थ, ककुत्स्थ इसलिए कि जब वे दानवों से देवों की ओर से युद्ध करने गए तो भगवान् शिव के समान वृष के ककुद पर सवार होकर लड़े, वृषभ बने स्वयं देवराज इन्द्र । तब से इक्ष्वाकु वंश 'ककुत्स्थवंश' कहलाने लगा और उत्तर कोसल के सभी शासक स्वयं को गौरव के साथ 'काकुत्स्थ' कहते हैं। महाराज ककुत्स्थ को इन्द्र ने अपने आधे आसन पर बिठलाया और सम्मानित किया था । उनके विशाल वंश में हुए महाराज दिलीप[1] (खट्वाङ्ग) जिन्होंने इन्द्र की ईर्ष्या को आदर दिया और 'एकोनशतक्रतु' अर्थात् निन्यानवे यज्ञ पूरे कर विराम ले लिया । उनका यश अत्यन्त विस्तृत था। वे जब पृथ्वी के शासक थे तब वस्त्राभूषणों से अलंकृत महिलाएँ यदि रास्ते में ही सो जाती थीं तो उनके आँचल को छूने का साहस वायु को भी नहीं होता था, उनके आभरणों के हरण की बात ही क्या। उनके पुत्र हुए महाराज रघु जिन्होंने पहले तो बंङ्ग, केरल, अपरान्त होते हुए पश्चिमी वंक्षुनद तक पारसीक, हूण और कम्बोजों को जीता फिर हिमालय के पर्वतीय गणों को जीतते हुए पूर्ण की दिग्विजय यात्रा। उससे जो सम्पत्ति प्राप्त हुई थी उसका एक एक कण विश्वजित् नामक महायज्ञ में दान कर दिया। स्वयं के निर्वाह के लिए शेष थे उनके पास मिट्टी के पात्र—

पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता।
चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद् विभूतिम्।। रघु. ६.७६।।

रघु का यश अकूत, पर्वतों पर आरूढ, समुद्रों को लाँघ कर अवस्थित, नागलोक (पाताल) में प्रविष्ट और स्वर्ग—लोक तक पहुँचा हुआ है, और लगातार फैलता ही जा रहा है—

आरूढमद्रीनुदधीन् प्रतीर्ण भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयाऽलम्।। रघु. ९.७७।।

इतना ही नहीं कालिदास की मान्यता है कि जहाँ कहीं उज्ज्वल सफेदी दिखाई दे रही है वे सब रघु के यश की ही हैं विभूतियाँ :—

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु ।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ।। रघु. ४.१९।।

---

१. इक्ष्वाकुवंश में दूसरे दिलीप का एक नाम खट्वाङ्ग था।

रघु की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी धर्म के दोनों अंगों की प्रतिष्ठा । दो अङ्ग अभ्युदय और निश्श्रेयस। रघु योगाभ्यास में लगे और अज उन राज्यों को जीतने में जो तब तक जीते नहीं गए थे। इस प्रकार पुत्र अज में प्रतिष्ठित था धर्म का अभ्युदय —पक्ष और पिता रघु में अपवर्ग—पक्ष यानी पुनर्जन्म से मुक्ति । दोनों ने अपने—अपने क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त की—

इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः।। रघु. ८.२३।।

रघु के वंश में यही क्रम कुछ पीढ़ियों तक चला। इसका सीधा अर्थ था आरम्भिक वय में अभ्युदय पथ पर चलना और ढलते वय में अपवर्ग पथ पर। इस क्रम में अभ्युदय बना अनिवार्य और अपवर्ग बना उसका फल। अभिप्राय यह कि अभ्युदय ऐसा स्पृहणीय है जो अपवर्ग भी दिलाए और अपवर्ग भी ऐसा स्पृहणीय हो जो अभ्युदय से प्राप्त हो अर्थात् जिसका साधन अभ्युदय बने। कहा जाता है गजनी का लुटेरा सोमनाथ मन्दिर ध्वस्त कर भारत से रत्नराशि बटोर कर ले तो गया, परन्तु मरते समय उसके प्राण उसी में अटके रहे, निकल नहीं रहे थे । अन्त मे उन रत्नों को बिछा दिया गया जिन पर लोट पोट होते —होते वह मर सका । इससे अभ्युदय की आसक्ति स्पष्ट हुई । बुद्ध लोकमार्ग से भाग खड़े हुए और महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए, किन्तु उनसे अभ्युदय की सिद्धि नहीं हो सकी। इसी कारण धर्म के लिए प्रसिद्ध सूत्र में परिवर्तन हुआ। पहले सूत्र था 'यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिः स धर्मः' = 'धर्म वह जिससे अभ्युदय की भी सिद्धि हो और निश्श्रेयस की भी। इसमें दोंनो वैकल्पिक थे। केवल अभ्युदय देने वाला भी धर्म— धर्म और केवल निश्श्रेयस देने वाला भी। परिवर्त्तित सूत्र में अभ्युदय को निश्श्रेयस की सीढ़ी बना दिया गया। यह सूत्र है—**'यतोऽभ्युदयो निःश्रेयसहेतुः स धर्मः'**[१]। यही बना भारतीय सनातन धर्म का सिद्धान्तसूत्र, क्योंकि पुराकथाओं और महत्तम प्रतिभाओं से प्रसूत साहित्य में जो चरित्र प्रस्तुत किए गए उनमें इन दोनों का समन्वय स्पष्ट है। इसीलिए सनातन धर्म को 'भुक्तिमुक्तिकृद् धर्म' कहा जाता रहा है।

रघु के जीवन में कवि ने शृङ्गार को स्थान नहीं दिया। केवल इतना ही कहा कि रघु को पति के रूप में प्राप्त कर नरेन्द्रों की कन्याएँ वैसी लगी जैसें दक्षप्रजापति की कन्याएँ चन्द्र को पति के रूप में प्राप्त कर । तम को दूर करने की शक्ति चन्द्रमा

---

१. यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्ग—महोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ।। रघु० ८.१९।।
इस पर हेमाद्रि का दर्पण—'धर्मो हि द्विविधः प्रवर्त्तको निवर्त्तकश्चेति यथाह कणादः 'यतोऽभ्युदयो निःश्रेयसहेतुः स धर्मः' इति।

में जिस प्रकार रहती है उसी प्रकार रघु में भी थी—

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं[१] विवाहदीक्षां निरवर्त्तयद् गुरुः।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः।। रघु० ३.३३।।

यहाँ 'तमस्' पद को कामजनित आवेग के लिए भी माना जा सकता है। रघु की पट्टमहिषी का नाम कदाचित्[२] प्रभावती था। रघु ने अज को राज्य दिया और योग समाधि से शरीर छोड़कर वे तम से परे अवस्थित अव्ययपुरुष को प्राप्त हो गए।

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।। रघु०८.२४।।

यह था रघुवंश का चरम उत्कर्ष । इसके आगे काव्य, पुरुष की क्षीणता की ओर बढ़ता दिखाई देता है। इनमें प्रमुख हैं दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र रावणारि राम। ये चार भाई थे, जो चारों विष्णु के अंशावतार थे। कदाचित्, राम विष्णु के आधे अंश थे और शेष तीन आधे के अंशावतार, किन्तु थे चारों ही अंशावतार।

चारों भाइयों को दो—दो पुत्र हुए। इन सबको राज्य के कुछ कुछ भाग दिए गए, किन्तु राजकीय कोष का मुख्य अधिकारी सभी भाइयों ने राम के ज्येष्ठ पुत्र कुश को चुना। कुशावती थी उसकी राजधानी। एक रात उसे उसके शयनकक्ष में, जिसके दरवाजे बन्द थे, एक स्त्री दिखाई दी जो वेश से प्रोषितपतिका लग रही थी। विस्मित कुश ने उसे सही समझा और 'शुभे' संबोधन के साथ पूछा—

का त्वं शुभे! कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति।। रघु०१६.८।।

'शुभे! तुम कौन हो? किसकी पत्नी हो और मेरे पास आने का तुम्हारा प्रयोजन क्या है' बतलाओ, पर यह ध्यान में रखते हुए कि रघुवंशियों का मन परस्त्रीविमुख हुआ करता है।'

यह स्त्री अयोध्या की अधिदेवता या चेतना थी। राम के गोलोकधाम चले जाने के बाद वह उजाड़ दी गई थी। उसने अपना परिचय दिया और अपनी दुर्दशा कुश को सुनाई। कुश ने सबेरे मन्त्रियों के साथ विचार किया और कुशावती श्रोत्रियों को देकर वे अयोध्या पहुँच गए। अयोध्या का पुनर्निर्माण कराया गया और ग्रीष्म में सरयू में विहार करते समय उन्होंने पाया कि भगवान् राम को विजय दिलाने वाला वह कड़ा उनके हाथ में नहीं है, जो महर्षि अगस्त्य से मिला था उनके पिता श्रीराम को और

१. गोदान = मुण्डन। गो = केश, दान = कर्त्तन।

२. रघुवंश ५.२६ 'ब्राह्मये' पद्य की हेमाद्रिकृत दर्पणनामक टीका की पूना के भण्डारकर शोधसंस्थान में रक्षित पाण्डुप्रति क्रमांक १६१ में 'प्रभावती' नाम दिया गया है। जो इतिहासविद् कालिदास को वाकाटकवंश की प्रभावती गुप्ता से संबद्ध मानते हैं उनके लिए यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

श्रीराम से उन्हें। उसका महत्त्व ऐतिहासिक था। कुश को उसकी चिन्ता हुई। गोताखोरों ने उसे सरयूजल में खोजा, परन्तु वह मिला नहीं। तब यह सोचा गया कि सरयू के उसी कुण्ड में 'कुमुद'– नाम का एक नाग रहता है, कदाचित् कड़ा उसी ने ले लिया है। कुश ने नागों का विनाशक सौपर्ण बाण धनुष पर चढ़ा लिया, त्यों ही सरयू जल से कुमुद प्रकट हुआ। उसके साथ उसकी छोटी बहिन कुमुद्वती भी थी। उसने कहा 'इसी बच्ची ने यह कड़ा उठा लिया था। कड़ा आपकी सेवा में मेरी इस छोटी बहिन के साथ प्रस्तुत है।' कुश ने सौपर्ण अस्त्र लौटा लिया। कुमुद्वती से कुश को 'अतिथि' नामक पुत्र प्राप्त हुआ, जिसने राजा के लिए निर्धारित नियमों का दृढ़ता के साथ पालन किया। उसके राज्य में सुख और समृद्धि पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। अतिथि का विवाह राजा नैषध की पुत्री से हुआ। पिता ने उससे उत्पन्न पुत्र का नाम निषध ही रखा, क्योंकि उसमें निषधपर्वत से कम दृढ़ता नहीं थी। अतिथि ने निषध को राज्य दिया और शुभ कर्मों के फल के रूप में प्राप्त स्वर्गलोक सिधार गया। निषध का पुत्र हुआ नल, उसका पुत्र हुआ नभस्, नभस् का पुत्र पुण्डरीक, उसका पुत्र क्षेमधन्वा, उसका पुत्र देवानीक, उसका पुत्र अहीनगु, उसका पुत्र पारियात्र, उसका पुत्र शिल, उसका पुत्र उन्नाभ, उसका पुत्र वज्रणाभ उसका पुत्र शङ्खण, उसका पुत्र ध्युषिताश्व, उसका पुत्र विश्वसह, उसका पुत्र हिरण्यनाभ, उसका पुत्र कौसल्य, उसका पुत्र ब्रह्मिष्ठ, उसका पुत्र पुष्य, उसका पुत्र या पुष्करपत्राक्ष, उसका पुत्र ध्रुवसन्धि, उसका पुत्र सुदर्शन और सुदर्शन का पुत्र हुआ कुश की अन्तिम सन्तान **अग्निवर्ण**। अग्निवर्ण उतना ही असंयमी और कामी था जितने संयमी और निष्काम थे महाराज रघु। वह राजयक्ष्मा से चल बसा, पुत्र का मुख देखे विना ही। इस प्रकार रघु के वंश की कुशशाखा समाप्त हो गई। उसकी किसी रानी को गर्भ था। रघुवंश का उत्तराधिकार उसी गर्भ को दे दिया गया, तदर्थ गर्भवती रानी का राज्याभिषेक कर दिया गया।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित रघुवंश की ८३१ क्रमांकीय पाण्डुप्रति में इसके आगे एक श्लोक और मिलता है–

अथ दुहितरमस्याश्चित्रकान्ताय राज्ञे
द्रविण–हरि–गजेन्द्र–क्ष्मा–समेतां निधाय।
अनुययुरचिरेण स्वामिनं शुद्धधर्माः
सुरसरिति विहाय स्वं वपुर्मन्त्रिणोऽपि।।

अर्थात्– *रानी ने पुत्री को जन्म दिया। मन्त्रियों ने उसका विवाह चित्रकान्त नामक राजा से कराया और राज्य भी उसी को सौंप दिया। इसके पश्चात् धर्मनिष्ठ मन्त्रीजन भी गंगा में शरीर छोड़ अपने स्वामी (अग्निवर्ण) के पास पहुँच गए। (उत्पन्न कन्या का नाम श्लोक में नहीं है)।*

यह श्लोक प्रक्षिप्त है, तथापि इससे यह तो स्पष्ट है कि अग्निवर्ण की गर्भवती रानी को भी पुत्र सन्तान नहीं हुई। 'प्रो० प्रभुदयालु अग्निहोत्री ने लिख दिया है कि रानी ने तब तक राज किया जब तक उसका पुत्र युवक होकर राज्यगद्दी पर समासीन नहीं हो गया।' इसमें उन्होंने प्रमाण कोई नहीं दिया।

रघुवंश में उन्नीसवें सर्ग के आगे भी ६ सर्ग थे ऐसा प्रवाद है, किन्तु वह प्रवाद ही है। 'वंश समाप्त तो काव्य भी समाप्त' यही मानना तर्कसंगत है। यदि उन्नीसवें सर्ग में समाप्ति का लक्ष्य न होता तो अट्ठारहवें सर्ग में लगभग २३ रघुवंशियों की तालिका प्रस्तुत न की जाती। पच्चीस सर्गों की सूचना श्रीलंका के किसी संग्रहालयाध्यक्ष ने दी थी, जिनकी पत्नी ने यह घोषणा की कि अन्त में उनका मस्तिष्क विक्षिप्त हो गया था और वे निराधार सूचनाएँ भी दिया करते थे। रघुवंश में २०—२५ सर्गों की सूचना भी विक्षिप्तावस्था की ही सूचना होगी[१]।

रघुवंश के कतिपय पाण्डुग्रन्थों में उन्नीसवें सर्ग के अन्त में लिखा मिलता है—
'संपूर्णमिदं रघुवंशाख्यं महाकाव्यम्।'

रघुवंश का एक नाम [२]'गभीर'—महाकाव्यम् भी मिलता है।

(४) मालविकाग्निमित्र

यह कालिदास के अपने समय की वैसी ही कृति है जैसी हमारी कृति 'सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम्'।[३] पाँच अंकों में इस नाटक में राष्ट्र के अन्त:कलह की शान्ति है प्रयोजन। एक ओर अग्निमित्र की विदिशा दूसरी ओर नन्दों का पुष्पपुर। दोनों के बीचों बीच विदर्भ। विदर्भ में दो भाइयों में उत्तराधिकार की लड़ाई। दोनों में यज्ञसेन का साला मौर्यों का सचिव था, अत: वह माधवसेन से बलवत्तर था। माधवसेन ने भी स्वयं को शक्तिशाली बनाने हेतु अपनी बहिन मालविका का विवाह अग्निमित्र से कर दिया। अग्निमित्र के आदेश से विदर्भ का राज्य माधवसेन और यज्ञसेन दोनों को दे दिया गया। कलह समाप्त हुई। ललितकलाओं की सहायता से घटनाचक्र आरम्भ से अन्त तक आकर्षक बना रहता है। बीच में वसन्त का वैभव प्रस्तुत कर कालिदास इस कृति को और अधिक आकर्षक बना ले जाते हैं।

इस नाटक में कहीं—कहीं वक्ता और संवादों की संख्या तीन तीन ही है, परन्तु कहीं प्रथम संवाद द्वितीय वक्ता से कहलाया गया तो तृतीय संवाद प्रथम या

---

१. यह सूचना उज्जैन में 'The Unsolved Problems of Kalidasa literature' विषय पर हुई संगोष्ठी में सन् १९८३ में श्रीधर वासुदेव सोहोनी से प्राप्त हुई।

२. रघुवंश, साहित्यअकादमी संस्करण १९९३ का अन्त।

३. दशाङ्कनाटक, १९७७ के आमचुनाव पर आधारित (समवकारकोटि), प्र.कालिदाससंस्थान,१९९६.

द्वितीय वक्ता से। कहीं–कहीं एक एक पद्य में नौ नौ महत्त्वपूर्ण पाठान्तर हैं, और कहीं वक्तव्य ही बदला मिलता है। हमारे संस्करण में हमसे दशरूपकावलोक में उद्धृत पद्य 'हस्तैरन्तर्निहित' छूट गया, फिर लेख लिखकर उसे उज्जयिनी के कालिदास समारोह में स्पष्ट किया गया। इसी प्रकार 'आदाय कर्णकिसलयम्' पद्य का जो पाठ वामन की काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में मिला वही सर्वोत्तम था और वही मालविकाग्निमित्रम् के जयपुर संग्रहालय की प्रति में सुलभ हुआ। हमने अपनी कालिदासग्रन्थावली के द्वितीय संस्करण में उसे स्थान दिया। वह पाठ विद्वद्वर प्रो० अय्यर के द्वारा संपादित और साहित्यअकादमी से छपे संस्करण में भी सुलभ नहीं था। यह पाठ है–

आदाय कर्णकिसलयमियमस्मै चरणमरुणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादन्योन्यमवञ्चितं मन्ये॥ ३.१६॥

पहला पाठ था–

आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये॥

दोनों में कितना अन्तर और भावबोध कितना परिवर्त्तित।

नान्दी पद्य में हमारे द्वारा स्वीकृत 'एकैश्वर्यस्थितोऽपि प्रणतबहुफलो, पुरस्ताद्' इस पाठ के स्थान पर मुद्रित पाठ था **'एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः परस्ताद् यतीनाम्'** जिसकी न कोई संगति थी और न अनुरूपता। दूसरा पाठ मिला तो अपेक्षाएँ शान्त हो गईं। प्रणत भक्तों को स्वयं चेतन ईश फल देता है, न कि उसका जड़ ऐश्वर्य। अतः **'प्रणतबहुफलत्व'** ईश से संबन्धित रहना चाहिए था, अतः उसमें 'ए' के स्थान पर 'ओ' की मात्रा स्वीकार की गई जो पाण्डुग्रन्थों से भी समर्थित है। ऐसा करने से पाठ में प्रथम चरण के साथ द्वितीय चरण की रचनागत एकरूपता भी आ गई, जिसके अभाव में उस उक्ति में प्रक्रम टूट रहा था, अतः महिमभट्ट ने जिसे प्रक्रमभङ्ग और मम्मट ने भग्नप्रक्रमत्व कहा, वह दोष बन रहा था। उससे रक्षा भी हो गई। अन्यथा द्वितीय चरण में भी कहना होता **'देहे सम्मिश्रकान्तोऽप्य०'**। 'पुरस्तात्, के स्थान पर सर्वत्र पाठ छपा है 'परस्तात्' अर्थात् 'परे अवस्थित' अर्थात् ऐसे कि जिनको यतिजन भी विषय नहीं बना पाते। इस भाव से 'शिव' का संयमित्व प्रकट नहीं होता। वह प्रकट होता 'यतिजनों में जिनकी गणना सबसे पहले की जाती है, यद्यपि उनमें संयम टूटने का प्रबल कारण 'कान्तासंमिश्रदेहत्व' अर्थात् 'अर्धनारीश्वरत्व' विद्यमान है। संयम का एक कारण संसार को धारण करने पर भी 'कर्तृत्वाभिमान का न होना' भी है। प्रथम चरण में शिव के 'ऐश्वर्य' पर सन्देह प्रस्तुत हुआ था उनके कृत्तिवासस्त्व' से। उसका उत्तर हुआ प्रणतबहुफलत्व से। शिव का ईश्वरत्व प्रणत भक्तों में दिखाई देता है। महिम्नःस्तोत्र में इसका एक दृष्टान्त है 'बाणासुर', जिसने त्रैलोक्य का शासन परिजनों

को दे डाला था और दूसरा दृष्टान्त है 'रावण', जिसने अपने सिरों को कमलपुष्प के समान शिवजी को समर्पित किया था और अपार भुजबल प्राप्त किया था। शिव सिद्ध योगी हैं यह हुआ सिद्ध इन तीन विशेषताओं से। प्रथम विशेषण से 'अपरिग्रह' की सिद्धि, योगसूत्र के अनुसार जिसका फल है ऐश्वर्य की सिद्धि, किन्तु संयम का उसके बाद भी 'अक्षुण्ण' बने रहना प्रकट हुआ कृत्तिवास विशेषण से अर्थात् समग्र ऐश्वर्य के रहने पर भी जो शिव वस्त्र तक धारण नहीं करते। अपरिग्रहसिद्धि और उससे बनी ऐश्वर्यसिद्धि के आगे शिव में प्रकट किया गया कामविजय। कान्ता इतने पास कि अर्धनारीश्वर बने हुए हैं शिव, परन्तु मन में विषयवासना का लेश भी नहीं। इतना बड़ा संयम और इसीलिए अन्य सभी यतियों में अग्रणी। वे तो विकारहेतु उपस्थित होने पर कदाचित् विकृत भी हो जाते हैं, किन्तु शिव विकारहेतु स्त्री से मिश्रित होते हुए भी मन में भी निर्विषय। कवि ने स्वयं कहा–'पार्वती का सान्निध्य समाधियोग में बाधक था तथापि उन्होंने पार्वती की शुश्रूषा स्वीकार की, क्योंकि संयम में स्थिरता या धीरता की कसौटी यही है कि 'विकार हेतु उपस्थित हो और विकार न आवे'–

प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।। कुमार० १.५९।।

यहाँ धीर–शब्द उपनिषदों से लिया गया है–

१. तं धीरा सह कवयो वदन्ति ।
२. कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैच्छत् ।

आदि प्रयोग प्रसिद्ध ही हैं। किन्तु धीरत्व का यह बिन्दु क्लीबत्व नहीं है। आवश्यक होने पर धीर या योगी भी प्रजनन की क्षमता प्रकट करता दिखाई देता है। तारकवध केवल शिव की सन्तान से संभव था तो देवताओं की प्रार्थना पर, उन्होंने सन्तानोत्पत्ति का विधान भी स्वीकार किया। वीतराग शिव सप्तर्षिमण्डल के समक्ष कहते हैं–'आप जानते हैं कि मैं प्रवृत्ति की ओर उन्मुख किसी अपने स्वार्थ से नहीं होता, जैसा कि मेरी आठ–आठ मूर्त्तियों से प्रमाणित है, किन्तु देवताओं ने मुझसे सन्तानोत्पत्ति की प्रार्थना की है, अतः मुझे पार्वती की आवश्यकता है, क्योंकि मेरा तेजोमय अंश भूतों में जल धारण कर सकता है या स्त्रीजगत् में पार्वती। –

विदितं वो यथा स्वार्था न मे काश्चित् प्रवृत्तयः।
ननु मूर्त्तिभिरष्टाभिरित्थंभूतोऽस्मि सूचितः।। कुमार० ६.२६।।
सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्वानिव चातकैः।
अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रति याचितः।। कुमार० ६.२७।।
अत आहर्त्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने।
उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम्।। कुमार० ६.२८।।

देवताओं का कष्ट सुन प्रजापति ब्रह्मा पहले ही कह चुके थे कि दो ही दो के बीज वहन कर सकती हैं शम्भु का बीज वह (पृथिवी रूपी पार्वती) या मेरा बीज शिव की जलमूर्ति।

उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम्।
सा वा शम्भोस्तदीया वा मूर्त्तिर्जलमयी मम।। कुमार० २.६०।।

यहाँ 'तदीया मूर्त्तिः' का अन्वय 'सा' के द्वारा निर्दिष्टा पार्वती से भी होगा। पार्वती शिवा हैं अर्थात् शिव ही स्त्री–लिङ्ग धारण किए हुए हैं उनके रूप में, और यदि उलट कर तन्त्रागमों की भाषा में कहा जाय तो पार्वती ही परा भट्टारिका हैं । वे स्वेच्छा से 'पुरुष–लिङ्ग' धारण कर महाशिव के रूप में प्रकट हो जाती हैं [१]। राधा और कृष्ण के विषय में भी ऐसी ही अवधारणाएँ विवेकी विचारकों में बनी हुई हैं [२]। 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्' = अर्थात् 'प्रजापति ने सबसे पहले सृष्टि की जल की और उसमें अपना बीज छोड़ा' यह पुराकथा प्रसिद्ध ही है।

हन्त शिवः शिवायै शिवः शिवा किञ्च शिवः शिवाय ।।
नमः शिवायाथ नमः शिवायै नमः शिवाभ्याञ्च[३] नमः शिवाभ्याम् ।
नमः शिवाभ्यामथ सन्ततं हि साहित्यभाग्भ्यां समवायभाग्भ्याम् ।।
पृथक्स्थिताभ्यामपृथक्स्थिताभ्यां शृङ्गारशान्ताद्भुतरौद्रभुग्भ्याम् ।
भयानकाभ्यां च जुगुप्सिताभ्यां कारुण्यभाग्भ्यामथ हासिताभ्याम् ।।
वीरैरनेकैः परिवारिताभ्यां विनायकैस्ताण्डवतोषिताभ्याम् ।
विषाणि पीत्वापि सुधाम्बुवर्षैर्विश्वस्य सौस्थ्याय समुद्यताभ्याम् ।।
शिवः शिवां प्रेप्सति मूर्त्तियुक्तां सपीतये चापि सजग्धये च ।
शिवा शिवं चेप्सति तासु तासु कलासु मूर्त्यैव युतं युवानम् ।।

स्वातन्त्र्यसम्भव १२.४८–५१।

इसीलिए जो सर्वथा स्वतन्त्र और मुक्त हैं वे भी लीला के लिए पुनः शरीर धारण करते और अवतार लेते दिखाई दे सकते हैं। इनका स्वातन्त्र्य ऐसा सम्बन्ध है जिसमें अनुयोगी भी शिव होते और प्रतियोगी भी शिव, जो कठिन है, किन्तु उसी प्रकार अत्यन्त सरल भी जिस प्रकार मृणाल का एक–एक खण्ड चोंच में दबाए

---

१. 'तदीया मूर्त्तिः' का अन्वय मल्लिनाथ, अरुणगिरिनाथ और नारायण ने अपनी टीकाओं में पार्वती के साथ नहीं किया।

२. काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के मालवीय भवन में श्रीभागवतप्रवचन में स्वामी करपात्रीजी ने ये उद्गार व्यक्त किए थे।

३. शिवया युतः शिव इत्येकौ शिवौ ताभ्याम्, शिवेन युता शिवेत्यपरौ शिवौ ताभ्याम्, अयुतसिद्धाभ्यां चेति विवक्षा।

दूर–दूर बैठे चक्रवाक और चक्रवाकी का जोड़ा–

स्वातन्त्र्याय नमस्तस्मै यत्राऽनुप्रतियोगिनौ।
शिवौ मृणालसूत्रस्य यथा चक्राह्वदम्पती।। स्वातन्त्र्यसंभवम् १.३।।

मालविकाग्निमित्र में 'ईश' से प्रार्थना हुई थी कि वे समाज की कलह जनक तामसी वृत्ति अर्थात् क्रोध, द्वेष आदि को दूर कर दें। उसी को दुहराया गया और अन्तिम भरतवाक्य में ईति–विगम आदि की आशंसा की गई। ईतियाँ छः होती है। (१) अतिवृष्टि (२) अनावृष्टि (३) टिड्डियों का दल (शलभ) (४) चूहे (५) तोते और (६) लगे पड़ोस के राजा। विदर्भ में अन्तिम ईति सक्रिय थी। वहाँ राज्य के अधिकार की लड़ाई भाई भाई के बीच ही चल रही थी। वह शान्त हुई अग्निमित्र से मालविका के विवाह से। शुङ्गों का युग प्रीति का युग था, अतः शान्त था।

कालिदास का बोधिवृक्ष

मालविकाग्निमित्र का बोधिवृक्ष खोजना है। हमारी दृष्टि में वह है 'अशोक' यानी 'रक्ताशोक' या 'तपनीयाशोक'। कवि ने इसके चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं–

१. रक्ताशोक की कान्ति ने कामिनियों के ओठों पर लगे राग को और लाल बना दिया है (माल. ३.५)[१]।
२. आलक्तक लगे चरणपल्लव से यह नवयौवना दोनों पर पादप्रहार कर सकती थी दोहद की अपेक्षा लिए अकुसुमित अशोक पर या आर्द्रापराधी अतः सिरझुकाए उपस्थित प्रिय पर (माल ३.१२)[२]।
३. मालविका इस अशोक से कान के लिए लाल किसलय लेकर इसे अपना लाल चरण दे रही है। दोनों का विनिमय एक सा है। दोनों में से किसी को घाटा नहीं।। ३.१६।।[३]
४. मित्र अशोक! अरे तुझे इतना बड़ा पुरस्कार मिला। तुझे बजते नूपुर से शब्दायमान, नूतनतम कमल से कोमल इस चरण से छुआ गया। और क्या चाहिए। इतने पर भी तू यदि मुकुलित न हो तो कहना होगा कि ललित कामी के प्रिय दोहद चरणस्पर्श की कामना तेरी व्यर्थ है ।। ३.१७।।[४]

---

१. रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः। माल० ३.५
२. नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।
अकुसुमितशोकं दोहदापेक्षया वा प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम्।। माल० ३.१२।।
३. आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमरुणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादन्योन्यमवञ्चितं मन्ये।। माल० ३.१६।।
४. **अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावितः।**
अशोक! यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम्।। ३.१७।।

मालविकाग्निमित्र ही नहीं, अन्य दो नाटकों विक्रमोर्वशीयम्[1] तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'[2] का भी बोधिवृक्ष अशोक ही है उसी के आने पर नायकों का शोक हटता है।

(५) विक्रमोर्वशीय

पाँच अङ्कों का नाटक है। इसे सट्टक भी कहा गया है। नाटक का आरम्भ 'केशी'—नामक राक्षस द्वारा 'उर्वशी' नामक दिव्य सुन्दरी के हरण की घटना से होता है। नान्दीपद्य में शिव की ही स्तुति है। उन्हें यहाँ 'स्थाणु'—नाम से स्मरण किया गया है। उनकी महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि 'सभी उपनिषदों में उसी को रोदसी (ब्रह्माण्ड) में व्याप्त बतलाया गया और उसी में 'ईश्वर'—यह संज्ञा अक्षरशः संगत मिलती है। इसीलिए मुमुक्षु साधक प्राणायामादि के द्वारा उसी को अपने भीतर ही खोजते रहते हैं। यह स्थाणु तो है, किन्तु स्थिरभक्तियोग से सुलभ भी हो जाता है। वह आपको निश्श्रेयस प्रदान करे।'

नाटक में मनुष्य जाति के पुरुष और देवजाति की नारी उर्वशी के प्रणयबन्ध की कथा है। उसके आरम्भ में दार्शनिक रहस्य 'ईश्वर' का स्मरण उसकी समग्र विभूतियों के साथ किया गया। अभिप्राय यह कि परमसत्ता की स्निग्ध छाया में सृष्टिचक्र अपने समस्त सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत है। इसके विरोधी केशी को समाप्त कर दिया जाता है। उर्वशी दिव्य विलासिनी और क्रूर हृदय की काम—परायण नारी थी। यहाँ वह प्रणयपाश में आबद्ध और पुत्रवती माता है। उसने पुरुवंश को 'आयु'—नामक वीर पुत्र प्रदान किया है। अब वह इन्द्र के दरबार में लौटने हेतु विवश है, किन्तु उसके मन में परिताप है। देवलोक उसके इस मातृत्व का आदर करता है और उसे उसके प्रिय पुरूरवा के साथ ही रहने की अनुज्ञा दे देता है। इस प्रकार नारीजीवन की पूर्णता जननीभाव में दिखलाई जाती है। एक अन्य उद्घोष को यहाँ दृष्टान्त से समर्थन दिया जाता है। वह उद्घोष है **'न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'**= 'मनुष्य से अधिक उत्कृष्ट कुछ नहीं। देवदानव—सृष्टि में मनुष्य ही श्रेष्ठ है।'

जिसे पश्चिमी आलोचक रोमेण्टिसिज्म नाम देते हैं वह तत्त्व विक्रमोर्वशीय में गहरे में उभरा है। उर्वशी के मोहक रूप पर पुरूरवा कल्पना करता है कि 'इस रूप को बूढ़ा मुनि नारायण कैसे बना सकता, इसके निर्माण में प्रजापति बना होगा प्रिय कान्ति से युक्त चन्द्र, या शृङ्गाररसी काम अथवा उसका मित्र पुष्पाकर मास चैत्र। मुनि नारायण

---

१. **रक्ताशोकप्रसवसमरागो मणिरयम्;** विक्रमोर्वशीय ४.३४ **रक्ताशोकमुपोढ०** विक्रमोर्वशीय २.७

२. **अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् यावत् त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि** —शाकुन्तल ७.१२.३ पृष्ठ ६४३।

की रुचि तो विषयों से लौट चुकी है और उनकी चेतना वेद रटते–रटते जड़ीभूत हो चुकी है।'–

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तप्रभः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ विक्र० १.१०॥

इस कल्पनापूर्ण उक्ति ने भारत के पूरे काव्यशास्त्र में स्थान पाया। इसे काव्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने उद्धृत किया। प्रकृति भी इस नाटक में उद्दाम रूप में प्रस्तुत मिलती है।

इसके चतुर्थ अंक की दो वाचनाएँ हैं। एक केवल शुद्ध प्रयोग के लिए उपयोगी जिसमें नृत्यगीत नहीं है और दूसरी वह जिसमें नृत्य और गीति को भी स्थान दिया गया है, जिसे नाट्यशास्त्र में चित्रविधि का प्रयोग कहा जाता है। इस प्रयोजन से चतुर्थ अंक में गीतियों का निवेश किया गया है जिनकी संख्या ३१ है और भाषा संस्कृत से भिन्न प्राकृत तथा अपभ्रंश है। इसी अंक में संस्कृत के श्लोक भी ४३ हैं, फलतः चतुर्थ अंक में पद्यों की संख्या ७४ हो जाती है। अकेला पुरूरवा उर्वशी की खोज में इन्हें गाता और उन्मत्त रूप में घूमता दिखाया जाता है। यह अंक उबाऊ न हो जाए इस उद्देश्य से इसमें बीच–बीच में चर्चरी, खण्डधारा आदि गीतियों को जोड़ दिया गया है। हस्तलिखित ग्रन्थों में से बहुत कम में मिलती हैं ये गाथाएँ। प्रसिद्ध टीकाकार काटयवेम में ये गाथाएँ नहीं हैं। कुछ हस्तलेखों में इन गाथाओं के केवल प्रतीक ही लिखे मिलते हैं, जिससे लगता है कि ये गाथाएँ प्रसिद्ध थीं। इनको गढ़ा गया है भरत के नाट्यशास्त्र के अध्याय ३२ के ध्रुवागान के आधार पर। इस अध्याय में भी हंस आदि पर प्राकृत में लिखित गीतियाँ दी गई हैं। इन सभी गाथाओं को स्वयं कालिदास ने लिखा होगा यह कहना कठिन है। जो अभिप्राय गाथाओं में प्रस्तुत किए जाते हैं उन्हीं पर अन्त में संस्कृत पद्य भी दिया मिलता है। अतः ये पुनरुक्त ठहरती हैं। महाराष्ट्र से छपे संस्करणों में स्वयं पण्डित ने मूल में इन गाथाओं को स्थान न देकर, इन्हें परिशिष्ट में एक अन्य चतुर्थ अंक छाप कर उसमें स्थान दिया है, किन्तु साहित्य अकादमी से प्रकाशित संस्करण में उसके विद्वान् संपादक एच०डी० वेलणकर ने इन्हें मूल में ही छापा है और हमने भी, किन्तु हमने इन गाथाओं के ऊपर 'प्रक्षेपः' शब्द दे रखा है। रंगनाथ की टीका इन गाथाओं पर भी है। पञ्चम अंक में नायक नायिका का मिलन कराने वाली लाल रंग की संगमनीय मणि को मांस पिण्ड समझकर एक गिद्ध उठा ले जाता है। आश्रम में विद्याभ्यास कर रहा पुरूरवा का पुत्र आयु उस पर बाण चलाता है। वह गिर जाता है। इसी आश्रम–विरुद्ध कार्य पर आश्रम से आयु

को उसकी माता के पास पहुँचा दिया जाता है। माता पहले तो प्रसन्न होती है, परन्तु तुरन्त ही अश्रुपात करने लगती है। यह इसलिए कि पुत्रमुखदर्शन तक ही उर्वशी को पुरूरवा के पास रहने की आज्ञा थी। इसी समय नारद जी इन्द्र का संदेश लेकर आते हैं और उर्वशी को पुरूरवा के ही साथ रहे आने की सुविधा प्रदान करते हैं। पुत्र आयु को राज्य देकर पुरूरवा तृतीय आश्रम में प्रवेश करते हैं। भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है— **परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम्।**

सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्।। ५.२४।।

आगे एक शुभाशंसा पद्य भी है—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु।।

'सभी कठिनाइयाँ पार करें, सभी का भला हो, सभी की कामनाएँ पूर्ण हों और सभी सर्वत्र खुश और प्रसन्न रहें।'

कवि की समाजदृष्टि इससे स्पष्ट है।

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विक्रमोर्वशीय अन्य दो नाटकों मालविकाग्निमित्र और शाकुन्तल की अपेक्षा अधिक उद्धृत है।

(५) अभिज्ञानशाकुन्तल

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' विश्वसाहित्य में गिना जाने वाला नाटक है। इसमें सात अंङ्क हैं। शाकुन्तल का कथानक महाभारत से लिया गया है। महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में दुष्यन्त से भेंट कण्वाश्रम की 'शकुन्तला' नामक अतीव प्रदीप्त अंगों वाली तेजस्विनी, किन्तु रूपवती कन्या से होती है। स्वयं दुष्यन्त भी अग्नि के समान प्रदीप्त शरीर का युवक। परस्पर में आसक्त दोनों गान्धर्व विवाह कर लेते हैं। दुष्यन्त राजधानी लौट जाता है। शकुन्तला को कण्वाश्रम में ही पुत्र होता है। जब वह लगभग आठ वर्ष का हो जाता है तब उसके साथ शकुन्तला दुष्यन्त के पास पहुँचती है। दुष्यन्त उसे अपनी पत्नी स्वीकार नहीं करता। तब शकुन्तला उसे लम्बी फटकार लगाती और पुत्र तथा धर्मपत्नी का शास्त्रोक्त महत्त्व विस्तारपूर्वक जतलाती है। वह यह भी कहती है कि मैं तो कहीं भी जीवन बिता लूँगी, इस अपने पुत्र को ही तुम स्वीकार कर लो। किन्तु दुष्यन्त उसके लिए भी तैयार नहीं तो शकुन्तला यह कह चलने को उद्यत हो जाती है कि मैं भी तुझे इस योग्य नहीं समझती कि तेरे साथ रहूँ।

अनृते चेत् प्रसङ्गस्ते श्रद्दधासि न चेत् स्वयम्।
आत्मनो हन्त गच्छामि त्वादृशे नास्ति संगतम्।। महाभारत, आदिपर्व ६९.२६।।

किन्तु सुन मेरा जो पुत्र है यही होगा 'शैलराज से लेकर समुद्र—पर्यन्त पृथिवी' का पालनकर्ता —

ऋतेऽपि त्वयि दुष्यन्त! शैलराजावतंसकाम्।
चतुरन्तामिमामुर्वी पुत्रो मे पालयिष्यति।। आदिपर्व ६९.२७।।

इतना कह शकुन्तला चलने लगी।

तभी तक आकाशवाणी हुई और कहा गया 'दुष्यन्त! यह पुत्र तेरा ही है, तेरे ही अंश से शकुन्तला में यह आया था। तू ही है इसका पिता। शकुन्तला का कहना सत्य है—'**त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला**।' आदिपर्व ६९.३०।

शकुन्तला को दुष्यन्त ने स्वीकार कर लिया, किन्तु इस स्पष्टीकरण के साथ कि मैं भी जान रहा था कि शकुन्तला का कथन सत्य है, किन्तु यदि मैं शकुन्तला के ही कहने पर इसे स्वीकार कर लेता तो लोक इस पर शङ्का करता और इसकी सच्चाई प्रकाश में न आती—

अहमप्येवमेवैनं जानामि स्वयमात्मजम्।
यद्यहं वचनादेव गृह्णीयामिममात्मजम्।
भवेद्धि शङ्का लोकस्य नैवं शुद्धो भवेदयम्।। आदिपर्व ६९.३६।।

दुष्यन्त ने पुत्र का नाम भरत रखा और उसे युवराज बना दिया—

दुष्यन्तश्च ततो राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत्।। आदिपर्व ६९.४४।।

शकुन्तला को भी राजा ने सम्मानपूर्वक अपने यहाँ स्थान दिया और उसे समझाया कि 'हम दोनों का सम्बन्ध परोक्ष में हुआ था और यह पुत्र भी परोक्ष में ही हुआ। अतः मैंने लोक के सामने इस पर पूरा विचार करवा लिया और अब इसे राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया। तुमने कोप में मुझसे जो अप्रिय वचन कहे उन्हें मैंने क्षमा कर दिया, तुम मेरी प्रणयिनी हो'। —आदिपर्व ६९.४०—४२।

स्मरणीय है कि महाभारत के इस प्रसङ्ग में कण्व के आश्रम की अपार वनश्री का वर्णन किया गया है और बतलाया गया है कि वहाँ बहुत बड़ी संख्या में रहते थे तपस्वी। दुष्यन्त मृगया के लिए बहुत बड़ी सेना के साथ निकलता और एक वन से दूसरे वन और दूसरे से तीसरे वन में पहुँचता है तब मिलता है उसे महर्षि कण्व का आश्रम। वह आश्रम में पहुँचता और आवाज लगाता है कि 'है कोई यहाँ'। तब स्वयं शकुन्तला आती और बतलाती है कि 'आश्रम के प्रधान कण्व समिधा लेने निकले हैं वे आते ही होंगे, कहिए आपको क्या चाहिए'। वह राजा दुष्यन्त को फलमूल भेंट करती और उनका आश्रमोचित सत्कार करती है। दुष्यन्त शकुन्तला की रूपमोहिनी से प्रभावित हो शकुन्तला से उसके माता—पिता और जन्म की बात पूछता है, तो वह एक

प्रगल्भ बालिका के समान सब सुना देती है। दुष्यन्त को विदित हो जाता है कि वह विश्वामित्र की कन्या है, जो क्षत्रिय थे। अत: शकुन्तला से विवाह करने का प्रस्ताव करता है। उसे शकुन्तला मान लेती है। गान्धर्व विवाह का अनुमोदन महर्षि कण्व भी कर देते हैं। इसी बीच शकुन्तला गर्भवती हो जाती है और दुष्यन्त हस्तिनापुर पहुँचकर उसको लिवा लाने हेतु सेना भेजने का वचन देकर हस्तिनापुर पहुँच जाता है, किन्तु अपने वचन का पालन नहीं करता। शकुन्तला को पुत्र होता है और कण्व उसे पालते पोसते हैं। लगभग आठ वर्ष का होने पर कण्व उसे शकुन्तला के साथ हस्तिनापुर भेज देते हैं। आगे की घटना बतलाई जा चुकी है।

कालिदास का शाकुन्तल

कालिदास ने इस आख्यान के आरम्भ की वन्य विभूति और आश्रम के विस्तार को छोड़ दिया। आश्रम में उसे पौधे सींच रही तीन तपस्विकन्याएँ दिखाई देती हैं जिनमें एक शकुन्तला भी है। शकुन्तला पर भौंरा टूटता है तो वह त्राहि त्राहि चिल्लाती है, दुष्यन्त पहुँच जाता है। उसके पहुँचते ही भ्रमर को भुला दिया जाता है। वस्तुत: वह दुष्यन्त का कामी मन था। वह तीनों कन्याओं के साथ बातचीत करता है। और जान लेता है कि शकुन्तला क्षत्रियपुत्री है। शकुन्तला भी दुष्यन्त पर आसक्त हो जाती है। राक्षसों से यज्ञ की रक्षा के लिए दुष्यन्त को आश्रम में चार दिन रहना पड़ता है। फिर वह गर्भवती शकुन्तला को शीघ्र ही बुलाने का आश्वासन दे राजधानी लौट जाता है। विरहपीडित शकुन्तला अतिथि दुर्वासा की आवाज नहीं सुनती तो वे यह शाप देकर लौटने लगते हैं कि 'तू जिसके ध्यान में आए अतिथि की अवज्ञा कर रही है, जा, वह तुझे याद दिलाने पर भी याद नहीं करेगा'। सखियाँ उन्हें यह कहकर मनाती हैं कि यह इसका प्रथम अपराध है। इसे क्षमा किया जाए, तो दुर्वासा यह कहकर लौट जाते हैं कि मेरा वचन अन्यथा नहीं होगा, परन्तु 'अभिज्ञान, आभरण' आदि दिखलाने पर दुष्यन्त की स्मृति लौट आएगी।' शकुन्तला जब दुष्यन्त के पास पहुँचती तो दुष्यन्त परस्त्रीस्पर्श के पातक के भय से उसे अस्वीकार कर देता है। उसके हाथ में दुष्यन्त की नामांकित अँगूठी थी। वह उसे दुष्यन्त को दिखलाना चाहती थी, क्योंकि सखियों ने शकुन्तला को समझा रखा था कि यदि वह राजा तुझे पँहचानने में कठिनाई का अनुभव करे ते यह अँगूठी उसे दिखला देना। दुर्भाग्य से वह अँगूठी उसकी उँगली में नहीं थी। उसकी इस कठिनाई पर दुष्यन्त ने उस पर तो व्यंग्य किया ही, उसकी माता मेनका को भी नहीं छोड़ा। शकुन्तला खीझ उठी और उसने दुष्यन्त को तृणच्छन्न कूप सा कहा। वह अपने भाग्य को कोसती हुई भुजाएँ फेंक फेंककर रोती है। पुरोहित कहता है महाराज सिद्धादेश करने वालों ने कहा है कि 'आपको पहली बार ही चक्रवर्त्ती राजा के लक्षणों से युक्त पुत्र होगा। यदि इसका बालक चक्रवर्त्ती के लक्षणों

से युक्त हो तो इसे अभिनन्दन कर अपने रनिवास में आदरपूर्वक रखें, नहीं तो अपने पिता के यहाँ इसका लौटना निश्चित ही है।' शकुन्तला को लेकर पुरोहित कुछ ही कदम चले थे कि आकाश से एक ज्योति स्त्री रूप में उतरी और शकुन्तला को उठाकर आकाश में उड़ गई। पुरोहित चिल्लाया 'गजब हो गया, गजब हो गया'। राजा ने कारण पूछा और जब उसे विदित हुआ कि आकाश से एक ज्योति स्त्रीरूप में उतरी और शकुन्तला को उठाकर आकाश में उड़ गई तो उसने कहा 'हमने उसे अस्वीकार कर ही दिया था। छोड़ें इसे और विश्राम करें।' किन्तु दुष्यन्त पर्याकुल है। हुआ यह कि शकुन्तला को उसकी जिस माता ने जन्म देते ही छोड़ दिया था और पक्षियों ने उसे बचाया[१] था, वही आज आकाश से उतरी और अपनी असहाय, किन्तु आसन्नप्रसवा शकुन्तला को उठाकर ले गई। वह मेनका थी। ये सभी घटनाएँ कविप्रतिभाप्रसूत हैं।

इस प्रकार कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के तीन भाग हैं शकुन्तला, शाकुन्तल तथा अभिज्ञान। विश्व ने इनमें से कतिपय सहृदयों ने खोज की प्रयोजन की और कुछ ने सौन्दर्यमात्र की।

शकुन्तल, शाकुन्तल और अभिज्ञान

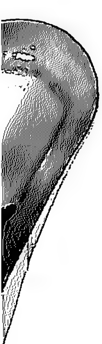
महाकवि कालिदास विश्वविख्यात नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का प्रथम अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ता के न्यायाधीश सर् विलियम जोन्स ने १७८९ में प्रकाशित किया तो आज से दो सौ **पन्द्रह वर्ष** पूर्व पश्चिमी विश्व में धूम मच गई। १७९१ में इस अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद जर्मनी भाषा में प्रकाशित हुआ तो उसे पढ़कर तत्कालीन जर्मनी महाकवि गेटे विस्मयविभोर हो उठे। उन्होंने इस नाटक पर जो उद्‌गार प्रकट किया वह भी शाकुन्तल के ही समान अमर हो गया। उन्होंने कहा था—'यदि मुझसे पूछा जाए कि—

१. वसन्त के मँहकते फूल और ग्रीष्म के मधुर फल एक साथ कहाँ मिल सकते हैं,

२. कहाँ मिल सकता है भूगोल के सौन्दर्य पर निछावर स्वर्गीय सौन्दर्य, और

---

१. महाभारत में शकुन्तला शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—
जनयामास स (विश्वामित्रो) मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम्, जातमुत्सृज्य तं गर्भमगच्छक्रसंसदम्
तं वने विपिने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले, दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्तात् पर्यवारयन्
पर्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजाम्।
उपस्प्रष्टुं गतश्चाहमपश्यं शयितामिमाम्, निर्जने विपिनेऽरण्ये शकुन्तैः परिवारिताम्।
आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्ययोजयम्।। १.६६.८–१२ महाभारत
'शकुन्तला' की व्युत्पत्ति में कुछ विद्वानों ने वैदिक 'लन्' प्रत्यय माना है, जो ह्रस्वार्थक है। तदनुसार 'छोटी चिड़िया' हुआ अर्थ शकुन्तला—शब्द का।



३. कहाँ होगा सुलभ चित्त को मोहक तृप्ति प्रदान करने वाला रसायन

तो इन तीनों प्रश्नों के उत्तर में मेरी ओर से एक शब्द कह देना पर्याप्त होगा 'शाकुन्तल'। इन सभी उद्गारों की व्याख्या करते हुएं सहृदय मनीषियों ने अंग्रेजी में ग्रन्थ भी प्रकाशित किए हैं।

जर्मनी भाषा में ही शाकुन्तल का द्वितीय अनुवाद १८४४ में 'ओटो वाटलिङ्क' ने 'बान' से प्रकाशित किया और अभिज्ञानशाकुन्तल को अपनी भाषा में 'रिङ्गशकुन्तला' कहा जो हृदयस्पर्शी और कोमल अभिधान था।

इन दोनों अनुवादों में शाकुन्तल की भिन्न भिन्न वाचनाओं को अपनाया गया। प्रथम १७८९ के अनुवाद में अपनाई गई थी शाकुन्तल की बंगीय वाचना और १८४४ के अनुवाद में अपनाई गई थी नागर वाचना।

शकुन्तलम्

१८५५ में लन्दन के प्रसिद्ध विद्वान् सर मॉनियर विलियम्स ने शाकुन्तल का नया अंग्रेजी अनुवाद छपवाया। 'न्यूयार्क' नगर से इसकी १८९८ तक आठ आवृत्तियाँ छप चुकी थीं। मॉनियर विलियम्स ने इस नाटक को अंग्रेजी में 'शकुन्तला : लॉस्ट रिंग' कहा था। १८९४ में 'न्यूयार्क' से ही 'ए.एच्. एड्ग्रेन ने शाकुन्तल का दूसरा अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया और उसे 'शकुन्तला : दी रिकव्हर्ड रिङ्ग' कहा। स्पष्ट ही यह 'लास्ट रिंग' की प्रतिक्रिया थी। स्पष्ट ही अभिज्ञानशाकुन्तल के रूप में प्रस्तुत समस्या नाटक के एक एक पक्ष को लेकर प्रकाशित किए गए ये अनुवाद। मॉनियर वि० के 'लास्टरिंग' अनुवाद में प्रधानता दी गई समस्या को और एडग्रेन के 'रिंग रिकव्हर्ड' अनुवाद में समाधान को। इन सभी अनुवादों में नाटक को 'अभिज्ञान–शकुन्तलम्' नाम दिया गया। पिनकाट ने १८७६ में कण्व लक्ष्मण सिंह का हिन्दी अनुवाद संपादित कर अंग्रेजी टिप्पणियों के साथ लन्दन से प्रकाशित किया था। उसका शीर्षक भी अभिज्ञानशकुन्तल था। यही शीर्षक था रिचर्ड पिशेल के १८७७ में प्रथम वार कील (KIEL) से और दूसरी बार १९२२ में हार्वर्ड से प्रकाशित संस्करण में। बेल्जियम से १९५४ में छपे कालिदासलेक्सिकन के प्रथम भाग में ए. शार्पे ने भी इस नाटक को 'अभिज्ञानशकुन्तला' नाम से ही छपाया। साहित्य अकादमी दिल्ली से १९८३ में छपे शाकुन्तल को भी 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' शीर्षक ही दिया गया।

उक्त संस्करणों में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' को कहा गया 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' ही। १९२० में लन्दन से छपे अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में कवीन्द्र रवीन्द्र ने गेटे का उद्गार देते हुए शकुन्तला को ही महत्त्व दिया। उन्होंने शकुन्तला के तपस्विनी स्वरूप को भी महत्त्व दिया था। अभिज्ञान अर्थात् 'निसानी' से याद आई शकुन्तला पर

लिखित नाटक हुआ 'अभिज्ञानशकुन्तलम्'। इस नाम के साथ छपे पाठ में पहली विशेषता तो यह है कि नान्दी पद्य में 'प्रत्यक्षाभि: प्रसन्न:' पढ़ा जाता है और तृतीय अंक में प्रथम मिलन में ही नायक (दुष्यन्त) के साथ नायिका (शकुन्तला) देरी तक अठखेलियाँ करती दिखाई जाती है। यह हुई शाकुन्तल की बंगीय या पूर्वी वाचना।

शाकुन्तलम्

शाकुन्तल की दूसरी वाचना वह है जिसमें नाटक का नाम है 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'। शाकुन्तल शब्द कवि ने महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से उठाया है। वहाँ शकुन्तला के गर्भ से उत्पन्न बालक को 'शाकुन्तल' कहा गया था। यह वाचना सामान्यत: नागर–वाचना कही जाती है। इसकी विशेषता यह है कि नान्दीपद्य में 'प्रत्यक्षाभि: प्रपन्नाँस्त०' पढ़ा जाता है। वैसे हमारी कालिदासग्रन्थावली (१९८६) को छोड़कर सभी मुद्रित संस्करणों और पाण्डुग्रन्थों में मिलता है 'प्रपन्नस्त०' पाठ। कालिदास की समकालीन ब्राह्मी लिपि में दीर्घ आकार की मात्रा और अनुस्वार के चिह्नों को पढ़ना कठिन है, अत: 'प्रपन्नस्त' बचा रहा। यह पाठ अर्थ की दृष्टि से प्रसन्न पाठ की अपेक्षा दुरूह था। परन्तु हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है यही पाठ। इसी पाठ पर राघव भट्ट की विशद टीका है और अन्य टीकाकारों की भी। ईश रक्षा तब करता है जब भक्त उसकी शरण में जाए। यह अभिप्राय 'प्रपन्नांस्त०' पाठ में ही सुलभ हो पाता है। वैसे 'प्रपन्न:' और 'प्रसन्न:' दोनों को छोड़ देने पर भी वक्तव्य अर्थ में कोई कमी नहीं आती, अत: भारतीय साहित्यशास्त्र इन्हें निरर्थक मानता है। 'प्रपन्नान्' पाठ मानने पर यह बन जाता है विशेषण व:='आप सब' का, अत: सार्थक ही नहीं अपरिहार्य भी बन जाता है।

इस (नागर) परम्परा में नायकनायिका ज्यों ही मिलने को होते हैं गौतमी पहुँच जाती है। इसके बाद दुष्यन्त शकुन्तला से 'गान्धर्व'–विवाह करने में सफल हो जाता है। अब शकुन्तला में शाकुन्तल (शकुन्तलापुत्र) भी आ चुका है। इष्टि–रक्षा के लिए ठहरा था दुष्यन्त आश्रम में। वह चार दिनों में पूरी हो गई तो आश्रमवासियों ने दुष्यन्त को बिदा कर दिया। वह भी हस्तिनापुर लौट गया। महर्षि कण्व प्रवास से अब लौटे। आकाशवाणी से उन्हें विदित हुआ कि उनकी पोषित पुत्री शकुन्तला पराई हो चुकी है और वह माता बनने वाली है तो उन्होंने अपना भाग्य सराहा और गर्भवती शकुन्तला को पतिगृह भेज दिया। दुर्वासाशाप से दुष्यन्त शकुन्तला को पँहचान नहीं पाया और गर्भवती होने के कारण उसने पर–स्त्री–स्पर्श को पातक समझ उसे छोड़ दिया। यह हुआ दोनों का ही प्रत्याख्यान या परित्याग, शकुन्तलारूपी विवाहिता पत्नी का और उसके गर्भ में पल रहे स्वयं के भावी उत्तराधिकारी पुत्र शाकुन्तल का भी।

अभिज्ञानम्

दुष्यन्त जब लौटने को था तब प्रिय शकुन्तला ने पूछा था कि 'कितने दिनों में देंगे आप खबर।' उसकी आँखें डबडबाई थीं। उत्तर में दुष्यन्त ने स्वयं की अँगूठी शकुन्तला की उँगली में डालते हुए कहा था–'इस पर मेरा नाम अंकित है। इसका एक एक अक्षर एक एक दिन पढ़ना। अन्तिम अक्षर तक पहुँचते पहुँचते मेरा लिबौआ (लड़की को लेने जाने वाला व्यक्ति) यहाँ आ पहुँचेगा।' यह अवधि लगभग आठ दिनों की बनती थी। किन्तु दुष्यन्त की यह ढीली अँगूठी रास्ते में पड़े गङ्गाप्रवाह के शचीतीर्थ को प्रणाम करते समय शकुन्तला की उँगली से खिसक गई। वह इतनी ढीली थी कि उसके खिसकने का शकुन्तला को तनिक भी भान नहीं हुआ। सखियों ने शकुन्तला को सावधान करते हुए कहा था कि 'इस अँगूठी को दिखला देना यदि पहुँचने के बाद दुष्यन्त तुझे पँहचानने में कठिनाई का अनुभव करे।' परन्तु समय पर अँगूठी शकुन्तला की उँगली में नहीं थी। वह मिली तब जब शकुन्तला अलक्षित हो गई और अलक्षित भी इस प्रकार से हुई कि उसे खोजना मनुष्य शक्ति से परे था। उसे उसकी वही माता उठा कर ले गई थी जिसने जन्म देते ही इस पुत्री को छोड़ दिया था और जो अन्तरिक्ष में स्थित मारीच–आश्रम में रहती थी। अब आरम्भ होता है शाकुन्तल में 'अभिज्ञान'। अभिज्ञान यानी निसानी, याद और पँहचान। पँहचान भी ऐसी जैसी न्यायपालिका या धर्माधिकरण या कोर्ट में मान्य है। ऐसे अभिज्ञान इस नाटक में अनेक हैं। इनकी अधिकतम संख्या दस है। ये हैं –

१. दुष्यन्त के द्वारा विस्मृत शकुन्तला की याद दिलाने वाली अँगूठी।
२. मारीच आश्रम में शकुन्तला की दृष्टि इस अँगूठी पर पड़ती है तो वह उसे पँहचान लेती है और दुष्यन्त से कहती है 'यह है वह अँगूठी जिसे मैं दिखलाना चाहती थी, किन्तु उस समय यह मेरी उँगली में नहीं थी (शाकु०अंक७.२५.२)। यह हुई शकुन्तला के द्वारा अँगूठी की पँहचान
३. तपस्विनी शकुन्तला परित्यक्ता का जीवन बिता रही थी। सिर पर केवल एक चोटी, शरीर पर केवल दो धूसर वस्त्र, चेहरा कुम्हलाया हुआ। कौन पँहचान सकता था इसे जिसने आरम्भिक जीवन में देखा था इसका अद्‌भुत रूप और अपरिमित लावण्य। परन्तु तनिक ध्यान देते ही पँहचान लिया उसे प्रिय दुष्यन्त ने। उसके मुख से निकला 'यह तो मुझ निष्ठुर की शुद्धशीला प्रिया शकुन्तला ही है'।
४. दुष्यन्त भी पुत्र और पुत्रवती पत्नी के परित्याग के अनुताप में विवर्ण हो चुका था। किन्तु शकुन्तला ने उसे क्षण भर में ही पँहचान लिया।
५. सबसे कठिन पँहचान थी सर्वदमन भरत की। विवाह हुआ ऐसा जिसमें

विवाहित दम्पती के अतिरिक्त कोई साक्षी नहीं। प्रसव हुआ अन्तरिक्ष में अत: यह कहना भी संदिग्ध कि शकुन्तला के गर्भ से यही बालक उत्पन्न हुआ। यह भी कहना संदिग्ध कि यह बालक शकुन्तला के गर्भ में दुष्यन्त के अंश से उत्पन्न हुआ। इस बालक की दुष्यन्त पुत्र के रूप में पँहचान इसलिए भी आवश्यक थी कि उसके विना इसे दुष्यन्त के राज्य का अधिकारी नहीं माना जा सकता था। इन प्रश्नों के उत्तर में दो प्रमाण प्रस्तुत हुए। एक तो बालक की हथेली में चक्रवर्त्ती के सामुद्रिक चिह्न। ऋषियों ने प्रथम अंक में ही दुष्यन्त को चक्रवर्त्ती पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद दिया था (१.१२), विदाई के समय महर्षि कण्व ने भी आशीर्वाद दिया था कि 'तुझे शीघ्र ही वैसा ही पुत्र प्राप्त होगा जैसा प्राची को प्राप्त होता है सूर्य' अर्थात् चक्रवर्त्ती और अन्त में महर्षि मारीच के दर्शन करने गए दुष्यन्त, शकुन्तला और उनके पुत्र को देख मारीच ने भी कहा था यही होगा भावी चक्रवर्त्ती (शाकु० ७.३२.४ पृ० ६५५ कालिदासग्रन्थावली—२) चक्रवर्ती बनने के लिए शरीर में जो बल और दृढ़ता आवश्यक होती है वह भी कवि ने सिंहशावक के दाँत गिनने की घटना प्रस्तुत कर स्पष्ट की दुष्यन्त ने इस बालक को 'किसी महान् तेज का अंश बतलाया था। उपमा दी थी स्फुलिंग की जो धधकने के लिए केवल ईंधन की अपेक्षा रखता है (शाकु० ७.१५)।

६—८. दूसरा प्रमाण था 'अपराजिता' नामक औषधि। महर्षि मारीच ने सर्वदमन भरत के हाथ में एक औषधि (जड़ी) बाँध दी थी जिसे जमीन पर गिरने पर स्वयं भरत उठा सकता था या उसके माता—पिता। सिंह शिशु को खींचते समय यह औषधि गिर पड़ी थी। तपस्विनियों ने देखा कि सर्वदमन के हाथ में वह औषधि नहीं है तो वे सब विषण्ण हो गईं। तभी तक दुष्यन्त ने कहा 'यह रही वह औषधि' और उसे उठाने हेतु झुका तो तपस्विनियों ने 'अलम्, अलम्' कहना शुरू किया और कहा 'मत उठाओ मत उठाओ इसे।' किन्तु तभी तक दुष्यन्त ने उसे उठा ही लिया। तापस्विनियाँ विस्मित थीं। दुष्यन्त ने पूछा—'क्यों आपने निषेध किया और क्यों हैं आप विस्मित।' तापस्विनियों ने कहा 'इस औषधि को स्वयं सर्वदमन, इसकी माता और इसके पिता ही छू सकते हैं। अन्य कोई छू ले तो वह औषधि साँप बनकर उसे डँस लेती है।' दुष्यन्त के छूने पर वह साँप नहीं बनी तो दो पँहचाने स्पष्ट हुई सर्वदमन का पिता दुष्यन्त है यह और सर्वदमन दुष्यन्त का पुत्र है यह। इस प्रकार इस घटना में तीन अभिज्ञान आ गए (१) एक तो स्वयं अपराजिता औषधि, (२) दूसरे दुष्यन्त की सर्वदमन के पिता के रूप में पँहचान और (३) तीसरी बालक सर्वदमन की दुष्यन्तपुत्र के रूप में पँहचान।

सप्तम अंक में आरम्भ से ही अभिज्ञान की घटनाएँ घटती मिलती हैं। सर्वप्रथम दुष्यन्त की दाहिनी भुजा फरकती है (शाकु० ७.१३), फिर दिखलाई पड़ता है सर्वदमन, जिसे बालक होते हुए भी इतना बलवान् कहा गया, जितना सामान्यत: कोई शिशु होता नहीं (शाकु० ७.१३.३)। यही बालक सिंही के शिशु को अयाल के बाल पकड़ कर खींच रहा था (शाकु० ७.१४)। यही कह रहा था 'अरे सिंह ले, जॅभाई ले, तेरे दाँत गिनूँगा (शाकु० ७.१५.१) दुष्यन्त इस बालक पर इतना अधिक आकृष्ट है जितना औरस पुत्र पर ही संभव हो सकता है। वह इसका कारण सोचता है (शाकु० ७.१७.४)। इस बालक की उँगलियाँ जाल से ग्रथित थी जैसा केवल चक्रवर्त्ती के ही शरीर में होता है (शाकु० ७.१९) दुष्यन्त भरत को महर्षिपुत्र कहकर संबोधित करता है (शाकु० ७.१७.२) तो उसे बतलाया जाता है कि यह बालक महर्षिपुत्र नहीं है (शाकु० ७.१९.१)। बालक की आकृति दुष्यन्त की आकृति से मिलती जुलती है (शाकु० ७.२०.३)। दुष्यन्त से बालक परिचित नहीं था, तथापि वह दुष्यन्त के प्रति प्रतिकूल नहीं होता (शाकु० ७.२०.३)। दुष्यन्त के पूछने पर कि यदि यह बालक ऋषिपुत्र नहीं तो किस वंश का है' उत्तर दिया गया पुरुवंश का अर्थात् दुष्यन्त के ही वंश का (शाकु० ७.२०.५)। दुष्यन्त ने पुन: पूछा कि इस दिव्यलोक में मनुष्य अपने आप तो आ सकता नहीं तो उत्तर मिला–'अप्सरा' के सम्बन्ध से इसकी माता यहाँ आ गई थी और यहीं हुआ इस बालक का जन्म (शाकु० ७.२१.२)। दुष्यन्त ने सोचा यह बालक मेरे अधिक पास आ रहा है (शाकु० ७.२१.३)। फिर उसने पूछा 'इसकी माता किस राजर्षि की पत्नी है तो उत्तर मिला–'कौन ले उस धर्मदार–परित्यागी का नाम (शाकु० ७.२१.४)। यह घटना भी दुष्यन्त की ही थी। उसने बालक की माता का नाम जानना चाहा पर संकोचवश पूछा नहीं। तभी तक एक तापसी मयूर का खिलौना दिखलाते हुए बोली 'सउन्दलावण्णं पेक्ख'। इसमें 'शकुन्तला'–शब्द की ध्वनि मिली तो बालक बोला 'कहाँ है मेरी माँ?' दुष्यन्त ने सोचा कि इसकी माता का नाम 'शकुन्तला' है। दुष्यन्त ने सोचा 'एक नाम के कई व्यक्ति होते हैं' अत: उसका संदेह बना ही रहा (शाकु० ७.२१.११)। तभी तक 'अपराजिता' नामक महौषधि की घटना घट गई और जैसा कि कहा जा चुका है, दुष्यन्त को निश्चय हो गया कि मैं ही हूँ इस बालक का जनक और उसने बालक को उठा लिया। दुलारते हुए दुष्यन्त के मुख से निकल पड़ा 'पुत्र' तो बालक ने कहा 'मेरे पिता दुष्यन्त हैं, तुम नहीं' (शाकु० ७.२०.२६)। इसी समय उपस्थित हो जाती है शकुन्तला। बालक ने शिकायत की 'माता, यह कोई पुरुष मुझे 'पुत्र' कह रहा है' (शाकु० ७.२१.२)। आगे चलकर बालक ने पुन: पूछा 'माता ये कौन हैं' तो उत्तर मिला 'अपने भाग्य से पूछ बेटा' और शकुन्तला रो पड़ी (शाकु० ७.२३.१–२)। इतने सारे हैं इस प्रकरण में अभिज्ञान? किन्तु अभी तक यह तथ्य प्रमाणित नहीं कि

सर्वदमन भरत शकुन्तला के गर्भ से उत्पन्न बालक है। यह प्रमाणित होता है तब जब शकुन्तला, दुष्यन्त तथा बालक महर्षि मारीच के दर्शन करने जाते हैं और महर्षि मारीच पूछते हैं 'राजन्! तुमने इस 'शाकुन्तलेय' का अभिनन्दन किया या नहीं' (शाकु० ७.३३.२) 'यही है भावी चक्रवर्ती (शाकु० ७.३३.४)। यह हुआ 'अभिज्ञान'।

नाटक के नाम में कवि ने 'शकुन्तला' को स्थान देना अपरिहार्य समझा, क्योंकि उस अबला के उत्सर्ग की गाथा बहुत बड़ी और मार्मिक है। जो यौवन के उन क्षणों में पति के साथ केवल ४ या ५ दिन ही रह सकी जिन क्षणों में जीवन के सुनहले सपने साकार होते हैं। उसने परित्यक्ता का जीवन बिताया लगभग आठ वर्षों तक वह भी पुनर्मिलन की आशा आत्यन्तिक रूप से छोड़कर। उसे अप्सराओं से मिली सूचनाओं ने रखा जीवित। 'शाकुन्तल' शब्द में शकुन्तला की यह स्मृति छिपी है। शाकुन्तलेय न कहकर कवि शकुन्तला के पुत्र को मैथिल के समान 'शाकुन्तल' ही नाम देता है, महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान के आधार पर। यदि 'शाकुन्तलेय'—शब्द अपनाया जाता तो नाटक का नाम बहुत बड़ा हो सकता था। इसी कारण कवि ने भरत को भरत न कहकर शाकुन्तल कहा। नहीं तो 'अभिज्ञानभरतम्' नाम भी रखा जा सकता था और भरताभिज्ञानम् भी।

अभिज्ञानशाकुन्तल के सात अंकों में से प्रथम तीन तक है (अभिज्ञान) शकुन्तलम्, ४ और ५ अंकों में है (अभिज्ञान) शाकुन्तल और ६ तथा ७वें अंक में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'। यही नहीं शाकुन्तल में एक दशम अभिज्ञान भी उपलब्ध है वह है उपनिषदों का परम प्रतिपाद्य 'जीव आत्मा' और 'परम आत्मा' का अद्वैत। सप्तम अंक में एक ऐसे तपस्वी का दृश्य उपस्थित है 'जो प्राणायाम साध कर बैठा है, जहाँ कल्पवृक्षों का बन है, चिन्तामणियों की है गुफा और सेवा में निरत हैं दिव्यलोक की ललनाएँ, किन्तु ध्यानस्थित इस तपस्वी पर बन चुका है बमीठा दीमक का, उससे रगड़ कर छुड़ाई केंचुली साँप वक्षःस्थल में ही लगी छोड़ आए हैं और कंधों पर लटकी जटाओं में बना लिए हैं घोंसले चिड़ियों ने (शाकु० ७.११—१२)। बात क्या है? यही कि 'आत्मा आनन्दरूप है' और उसी में ये तपस्वी डूबे हुए हैं। अन्य सभी आनन्द क्षणिक हैं जबकि आत्मा का आनन्द नित्य और अविनश्वर है, क्योंकि आत्मा स्वयं वैसा ही है—'नित्य और अविनश्वर, अदाह्य, अशोष्य, अक्लेद्य अच्छेद्य, विभु, अचल, स्थाणु और सनातन' (श्रीगीता—२)। ये तपस्वी उसी में निमग्न हैं।

यह तो हुई बात शाकुन्तल के उत्तरार्ध की। किन्तु पूर्वार्ध में भी इससे मिलती जुलती कुछ घटनाएँ आई हैं।

१. राजा दुष्यन्त शरीर से पूर्ण स्वस्थ हैं और आकर्षक भी। महाभारत में तो उसे प्रदीप्त अग्नि सा भास्वर और प्रदीप्त दिखलाया गया था। उधर शकुन्तला की

शरीरयष्टि भी वैसी ही परिपूर्ण और तेजोमयी थी। क्यों नहीं उत्पन्न हो ऐसे दो शरीरों के प्रति काम या चाह? वैसा ही हुआ। शकुन्तला के मन में वह भाव जाग उठा जो तपोवन में नहीं जागना चाहिए (शाकु० १.२३.११)। शकुन्तला को भी विस्मय हुआ अपने मन की परिवर्त्तित स्थिति पर, किन्तु वह तो दुष्यन्त पर निछाबर हो ही गई। किन्तु दुष्यन्त वयस्क और सामाजिक न्यायाधिकार का वेत्ता था। शकुन्तला यदि ब्राह्मणी होती तो क्षत्रिय दुष्यन्त का उससे विवाह उल्टा विवाह (प्रतिलोम) होता। वह एक क्षण इस बिन्दु पर रुकता और सोचता है कि कदाचित् कुलपति की किसी असवर्ण स्त्री से हुई है शकुन्तला? दूसरे ही क्षण वह स्वयं निर्णय कर लेता है कि 'शकुन्तला निस्संदेह क्षत्रिय से विवाह होने योग्य है' अर्थात् 'वह ब्राह्मणकन्या नहीं है, क्षत्रियकन्या, वैश्यकन्या या फिर शूद्रकन्या ही है।' इसमें वह प्रमाण मानता है 'उसके अपने मन के शकुन्तला के प्रति झुकाव को।' शकुन्तला के साथ दो, उसी जैसे वय की अर्थात् यौवनशालिनी और रूपवती कन्याएँ और थीं 'अनसूया और प्रियंवदा।' किन्तु दुष्यन्त के प्रति उनमें आकर्षण नहीं जागा, और न दुष्यन्त के मन में इन दोनों में से किसी के प्रति। कदाचित् ये दोनों ब्राह्मणकन्याएँ रहीं। इसीलिए अनसूया शकुन्तला को आदेश देती है दुष्यन्त के लिए फलमिश्रित मधुपर्क लाने हेतु। (शाकु० १.२३.५ पृ० ५४१ कालिदासग्रन्थावली–२)। अनसूया दुष्यन्त का परिचय पूछती है। शकुन्तला भी उसके लिए उत्सुक है (शाकु० १.२३.१५)। सखियाँ ताड़ लेती हैं कि 'शकुन्तला और दुष्यन्त' एक दूसरे पर आकृष्ट हैं (शाकु० १.२३. १८–२१)। दुष्यन्त भी शकुन्तला के विषय में पूछता है कि 'महर्षि कण्व तो बालब्रह्मचारी हैं तो यह शकुन्तला उनकी पुत्री कैसे?' उत्तर में उसे विदित हो जाता है कि वह क्षत्रिय तपस्वी विश्वामित्र और दिव्याङ्गना मेनका की सन्तान है यानी 'उग्र तप और दिव्य सौन्दर्य के मिश्रण का है परिणाम शकुन्तला।' यह हुआ नायक और नायिका का अन्योन्य अभिज्ञान या परिचय।

२. राजा ने स्वयं को छिपा रखा था, यद्यपि तपस्वियों को उसके व्यक्तित्व में राजत्व की झलक मिल गई थी और उनमें से कुछ ने उसे दुष्यन्त के रूप में पँहचान भी लिया था, किन्तु शकुन्तला और अनसूया उसे इस रूप में नहीं पँहचान पाई थीं। केवल प्रियंवदा के चित्त में दुष्यन्त के राजत्व की प्रतिमा अंकित होती जा रही थी।

३. वस्तुतः अभिज्ञान ही है शाकुन्तल–नाटक में मेरुदण्ड। नाटक का नाम 'शकुन्तलाभिज्ञानम्' भी रखा जा सकता था और 'शाकुन्तलाभिज्ञानम्' भी, किन्तु कवि ने उसमें अभिज्ञान को प्रथम स्थान दिया। कदाचित् इसीलिए कि पूरा नाटक अभिज्ञान के इर्दगिर्द घूमता मिलता है। व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार इसका अर्थ होगा 'अभिज्ञान से युक्त है शाकुन्तल जिसमें। अभिज्ञान वह भी जिसे पँहचाना गया, वह भी जिससे पँहचाना जा सका और अभिज्ञानरूपी कर्म भी अभिज्ञान। यह इस नाटक

के प्रथम अंक से आरम्भ हो जाता है और अन्तिम अंक तक विद्यमान मिलता है, अतः नाटक भी हुआ अभिज्ञान और शाकुन्तल।

इस सारी घटना में महाभारत की शकुन्तला तेजस्विता और सत्यनिष्ठा में जितनी दृढ़ है शाकुन्तल की शकुन्तला उतनी नहीं। उसके पीछे दिव्य शक्तियाँ सक्रिय हैं, उत्तररामचरित में गर्भवती परित्यक्ता सीता के समान। 'पुत्र का पिता कौन' इस प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर जन्मदात्री माता ही दे सकती थी। महाभारत और शाकुन्तल में वही अमान्य कर दी गई, अतः महाभारत में आकाशवाणी रूपी दिव्य वाणी को आधार माना गया और शाकुन्तल में अपराजिता औषधि को। 'आप्तवचन' भारतीय विश्वास में सर्वाधिक प्रामाणिक प्रमाण है। उस पर अविश्वास नहीं किया जाता। दुष्यन्त द्वारा पुत्रवती पत्नी का परित्याग महाभारत में जानते हुए भी लोक को विश्वास में लेने के लिए किया गया। शाकुन्तल में शकुन्तला गर्भवती है और उसका परित्याग शापवश किया गया, अतः नायक दुष्यन्त निर्दोष है। शापनिवृत्ति अद्भुत ढंग से कराई गई और धीवरवृत्तान्त की नई उद्भावना की गई। अभिज्ञानाभरण अँगूठी जो समय पर उपलब्ध नहीं थी वह अब उपलब्ध है। अतएव शकुन्तला का संपूर्णवृत्त भी दुष्यन्त को याद आ रहा है। उसका कुल भी सन्तान के अभाव में संकटग्रस्त है। व्यथा इस बात की है कि कुलतन्तु को वह अपना नहीं सका और अब जब स्मृति आ गई तब उसका पता नहीं है कि उसे बुलाया जा सके। दुष्यन्त अन्धकार से घिरा है। उसे कोई उपाय सूझ नहीं रहा। वह खिन्न है। यह है कवि की नाट्यकला, अत्यन्त प्रभावशाली घटना से समृद्ध।

चतुर्थ अङ्क :

कहा जाता है –

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्।।

अर्थात् काव्यों में रमणीय नाटक, नाटकों में अभिज्ञानशाकुन्तल, उसमें भी चतुर्थ अङ्क और उसमें भी चार श्लोक। क्यों? सहृदय इस पर क्या अनुभव करते हैं? अनेक प्रकार के विचार प्रस्तुत हुए हैं' इस प्रश्न पर, किन्तु हमारा विचार निम्नलिखित है–

काव्येषु नाटकं रम्यम्– काव्य श्रव्य भी होता है और दृश्य भी। दृश्य यानी जिसमें चक्षुरिन्द्रिय की प्रधानता हो। श्रव्य यानी जिसमें प्रधानता हो श्रवणेन्द्रिय की। कान की अपेक्षा आँख सर्वाधिक प्रबल है रूपग्रहण में। नाटक में उसी का व्यापार प्रमुख रहता है, कानों का कम।

<u>तत्र रम्या शकुन्तला</u>– नाटकों में अभिज्ञानशाकुन्तल अधिक रम्य। क्यों? इसलिए कि इसमें करुणश्रृङ्गार प्रमुख है। श्रृङ्गार तो नायक–नायिका के संपर्क के कारण, किन्तु करुण इसलिए कि इसमें भोग कम, वेदना अधिक है। करुणा का मुख्य आलम्बन है शकुन्तला जिसे पैदा होते ही माँ ने छोड़ दिया, पक्षियों ने पाला, आश्रम में बिताया दुधमुहे दाँतों का बचपन, विवाह में विवाद और संदेह पदे पदे। मिलन चार दिनों का, किन्तु विरह कम से कम आठ वर्षों का। जीवन वनवासी और तापसी का। माता–पिता के समान अन्य बन्धुओं से रिक्तता। हैं भी बन्धु बान्धव तो दीर्घापाङ्ग हरिणशावक, जिसे जनते ही मातृवियोग मिला, वनज्योत्स्ना जिसे बहिन के समान पानी दे दे बड़ा किया और विदाई के समय गले मिली, हरिणी जिसके अनघ प्रसव की उसे चिन्ता है, और वैसी ही 'प्रियम्वदा अनसूया एवं गौतमी।' प्रियंवदा मिठबोली, अनसूया समझदार और गौतमी लगभग वृद्धा। कदाचित् उसी ने किया पालन पोषण शकुन्तला का बचपन से ही। आज भी समाज ऐसी कन्या की शादी में उसे दयापात्र मानता है। कहा जाता है लग गई बिचारी ठिकाने, बिना माँ, बिना बाप की थी। भगवान् सुखी रखे। दूधों फले, पूतों फूले'। यह कन्या अधिक प्रिय इसलिए भी थी कि वह अत्यधिक रूपवती भी थी। उसकी विदाई होने को है तो लता वृक्ष की अधिदेवियाँ उपस्थित हैं उत्तमोत्तम वस्त्र, अलंकार और सौभाग्य द्रव्य आलक्तक आदि के साथ। उसके लिए कोई वाहन नहीं है। उसे हस्तिनापुर तक उठते बैठते पैदल ही जाना है, जबकि वह पेट में प्रसवोन्मुख बालक लिए हुए है। अवश्य ही वह प्रवास के लिए निषिद्ध आठवाँ मास बिता चुकी है या तो उसे सातवाँ महिना है। पिता कण्व समझाते हैं ऊँची नीची भूमि में चढ़ना उतरना नहीं। वे दुष्यन्त को सन्देश देते हैं–'हमारे पास संयम ही संपत्ति है, तुम्हारा कुल ऊँचा है, इस कन्या से तुमने प्रीति की विना बान्धवों को विश्वास में लिए और वह भी इतनी दूरी तक[१]। अतः इस वनकन्या को अपनी रानियों में समान अथवा उनसे अधिक आदर देना। हम तो कन्या पक्ष के हैं हम इतना ही कह सकते हैं, आगे सब भाग्याधीन है। उसे वधूबन्धुओं द्वारा कहा नहीं जा सकता।' – शाकुन्तल ४.१७

<u>तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः</u>

शकुन्तला की विदाई चतुर्थ अंक के आरम्भ से ही आरम्भ हो जाती है 'क्षौमं केनचि०' इस पञ्चम पद्य से लेकर सखियों के 'हन्त अन्तरिता शकुन्तला वनराज्या (शाकु० ४.२१.३) तक। यह अंश संस्कृतसाहित्य का अतीव हृदयस्पर्शी अंश है। इस प्रकार–चतुर्थ अंक में 'बिटिया की विदाई' की प्रस्तुति है जो प्रथम और अन्तिम बार यहीं प्रस्तुत हुई है। संस्कृत के सुविशाल सहित्य में 'बेटी की विदाई' पर ध्यान कालिदास का ही गया।

---

१. इतनी दूरी यानी गर्भाधानपर्यन्त।

उन्हें बेटी भी ऐसी मिल गई जिस पर सभी का लाड़ प्यार। शास्त्रकार (वात्स्यायन, कौटल्य) कवि की जिह्वा पर आ बैठे और उन्हीं के शब्दों में महर्षि कण्व द्वारा दिलायी गई शिक्षा –

तत्र श्लोकचतुष्टयम्

१. शुश्रूषस्व गुरून्	बड़ों की सेवा करना
कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने	सौंतो का प्रियसखी मानना
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया	पतिदेव कुछ गड़बड़ी भी कर दें तो गुस्से में
मा स्म प्रतीपं गमः।	आकर विरोध मत करना
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने	नौकर चाकरों की इच्छा पूरी करती जाना
भोगेष्वनुत्सेकिनी	भोगों पर गर्व न करना।
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयः	नई लड़कियाँ ऐसे व्यवहार से घरमालकिन पद पर पहुँच जाती हैं।
वामाः कुलस्याधयः।।	ऐसा न करने पर ये ही बन जाती हैं पूरे खानदान की चिन्ता।। शाकु० ४.१८।।

बिटिया की बिदाई के बाद वीतराग महर्षि का उद्‌गार हैं– 'कन्या तो पराया ही धन है। आज उसे पतिगृह भेज मेरी अन्तरात्मा विशद (निश्चिन्त) हुई। ऐसा लग रहा है जैसे धरोहर लौटा दी हो–

२. अर्थो हि कन्या परकीय एव, तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ।।

शाकु०४.२२

ये ही महर्षि विदाई की बात सुनकर व्यथित हो उठे थे–हृदय उत्कण्ठा से भर गया था इनका, कण्ठ रुँध गया था चिन्ता के कारण, आँखों से सूझता नहीं था। जबकि ये वनवासी थे। समवेदना के स्वर में कण्व बोले 'उनको कितनी पीड़ा न होती होगी जो गृहस्थ कुटुम्बी होते हैं और कन्या की विदाई करते हैं।'

३. यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ।। शाकु० ४.६।।

महर्षि कण्व अपने आश्रम के वृक्षवनस्पतियों और पशुपक्षियों से समरस हो जाते हैं और अनुरोध करते हैं 'तुम्हारी इस दुलारी शकुन्तला को विदाई दो, यह अब चली'—

४. पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।। शाकु० ४.९।।

'तुम्हें पिलाए बिना जो पानी नहीं पीती थी, आभूषण प्रेमी होते हुए भी स्नेहवशात् जो तुम्हारे पत्ते नहीं छूती थी और जब तुम पहले पहले फूलने वाले होते थे तो जो उत्सव मनाती और फूली नहीं समाती थी।'

कवि यहाँ अधिभूत से अधिदैवत को मिला देता है और वनदेवियाँ कोयल की मीठी कूक में विदाई देती हुई दिखाई जाती हैं—वे कह रहीं थी, सचमुच कह रही थीं और कालिदास उसे सुन रहे थे—कि

बेटी! तेरा पथ मङ्गलमय हो। बीच में कमलिनी से हरे सरोवर मिलें (ताकि तुम कुछ खा पी सको)। घनी छाया के वृक्षों से धूप रुक सके। मार्ग की धूलि कमलपरागजैसी मृदु हो और पवन बहे शान्त गति में उसी ओर जिस ओर तुम्हें जाना है—

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।
भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः।।
(शाकु० ४.११)

जर्मन कवि गेटे ने इसी स्थल को लक्ष्य कर कहा होगा कि 'शाकुन्तल पृथिवी से स्वर्ग का आलिङ्गनबिन्दु है।'

ज्योंही महर्षि ने कहा—'करो शकुन्तला की विदाई, यह ससुराल जा रही है' तो मृगशावक दीर्घापाङ्ग ने पीछे से शकुन्तला का आँचल पकड़ लिया, उसे आभास हो गया था भविष्य की परिणति का।

विदाई लेती शकुन्तला तात कण्व से लिपट गई और बोली 'आप अधिक तप की पीड़ा मत उठाना और मैं आपके बिना वहाँ कैसे रहूँगी। 'कण्व ने ढाढस बँधाया और कहा—बेटी वहाँ पहुँचकर तुम लग जाओगी पतिगृह को सम्हालने में और हमसे बिछुड़ने का सन्ताप विस्मृत होता जाएगा—

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्या स्थिते गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां वत्से! न त्वं शुचं गणयिष्यसि ।। शाकु० ४.१९।।

शकुन्तला जाती है तो फिर लौटती नहीं, किन्तु उसमें स्पृहा है लौटने की। वह पूछती है– **'ताद। कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं'**

(तात! कदा नु खलु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये)–

तात! मैं। फिर कब देखूँगी तपोवन'

तो उत्तर में कण्व ऐसी बात कह देते हैं कि सुनने वालों के हृदय मानों टुकड़े–टुकड़े हो उठते हैं। कण्व कहते हैं–

'अब तुम शान्त तपोवन में आओगी चतुर्थ आश्रम में, जब संपूर्ण पृथिवी की सपत्नी बन लोगी और जब दुष्यन्त को अप्रतिरथ पुत्र प्रदान कर दोगी तब पुत्र को कुटुम्बभार अर्पित कर पति को साथ लिए लौटोगी इस शान्त आश्रम में सदा के लिए–

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्।।

शाकु० ४.२

यहाँ 'शान्ते' के स्थान पर 'शान्ता' पाठ भी हो सकता था अथवा विभक्ति विपरिणाम के रास्ते उसे सोचा जा सकता है 'आश्रम में तब जाना चाहिए जब चित्त में शान्ति प्रतिष्ठित हो जाए।'

सोचिए यह विदाई कैसी? सदा सर्वदा के लिए, मृत्यु जैसी। इससे किस सहृदय को पीड़ा नहीं होगी।

इस अंक का आरम्भ दुर्वासा के शाप से होता है, किन्तु उससे शकुन्तला को अवगत नहीं कराया जाता और न सखियों के अतिरिक्त अन्य किसी को, किन्तु नाटक के प्रेक्षक को तो इसका ज्ञान है। शकुन्तला से संबन्धित संपूर्ण घटनाचक्र की अनुभूति सहृदय को शापवृत्तान्त की ही भूमिका पर होती है, अत: वह तो एकमात्र व्यथा की ही अनुभूति करता रहता है। भारतीय ढंग की है यह एक ट्रेजेडी। ट्रेजडी के लक्षण में विदेशी विचारक भी दु:खानुभूति के सान्तत्य को बल देते हैं, एकमात्र मृत्यु को नहीं। संपूर्ण घटनाचक्र जब प्रेक्षक के चित्त पर आरूढ होता है तब उसमें न अनुभव में आता शकुन्तला का रूपलावण्य, न शृङ्गार, अपितु अनुभव में आती है एक प्रकार की पश्चात्तापमिश्रित विडम्बना। इसकी अनुभूति में प्रेक्षक नायक की ही अनुभूति में सहभागी बन जाता है। सामाजिक की पीडा तब और गम्भीर हो जाती है जब शाप के प्रभाव को समाप्त करने वाली मुद्रिका गुम जाती है। अब उसकी पीडा शकुन्तला की पीडा है। कोई नहीं जानता कि परिणाम क्या होगा और वह आश्वासन–रहित परिताप में डूबा मिलता है।

यही वह अंक है जिसमें महर्षि कण्व सामने आते और ऋक्छन्दस् में

शकुन्तला का मंगलाशंसन करते हैं, जिसमें मन्त्रकृद् ऋषि तो हैं ही, कवि भी हैं—

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु।।
शाकु० ४.८

'यज्ञ की ये अग्नियाँ तुझे पावन बनाएँ समिधा से युक्त जो वेदि में चहुँओर प्रज्वलित हैं, जिनके चारों ओर आस्तीर्ण हैं दर्भ। इनके हविष्य की सुगन्ध दुरितनाशक है।

प्रिय शकुन्तला की विदाई से पूरा आश्रम मर्माहत है—

मृगों ने मुँह में रखे दर्भ के कवल उगल दिए हैं, मयूरों ने नृत्य छोड़ दिए हैं। लताओं के पीले पत्ते आँसू बनकर झड़ रहे हैं—

उग्गलिअदब्भकवला मआ परिच्चत्तणच्चणा मोराः।
ओसरिअपंडुवत्ता मुअंति अस्सू विअ लदाओ।। शाकु० ४.१२।।

ठीक रघुवंश की स्थिति। लक्ष्मण ने सीता को राम का परित्याग आदेश सुनाया तो वे चीत्कारसहित विलख उठीं। परिणाम हुआ कि 'मयूरों ने छोड़ दिया नृत्य, वृक्षों ने छोड़े पुष्प और हरिणियों ने उगल दिए मुख में रखे दर्भ—

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि।। रघु० १४.६९।।

यह है प्रकृति कालिदास की जिसमें मनुष्य के साथ सम—संवेदना है।

पञ्चम अङ्क में शकुन्तला को दुष्यन्त अस्वीकार कर देता है पुरोहित से यह कहकर कि यदि मैं ही इसका पति हूँ और इसका परित्याग करता हूँ तो मुझे केवल दारपरित्याग का पाप लगेगा, किन्तु यदि यह गलत कह रही है तो आता है मेरे ऊपर परस्त्री—स्पर्श का दोष जो अक्षम्य है —

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः।। शाकु० ५.२९।।

पुरोहित के पास दुष्यन्त के विकल्पों का उत्तर नहीं था। उसने कहा प्रसव तक यह मेरे यहाँ रहे। यदि इसका बालक चक्रवर्त्ती के लक्षण लिए पैदा होगा तो इसको आदरपूर्वक अपने रनिवास में स्थान देना, नहीं तो इसके पिता के यहाँ इसका जाना निश्चित ही है'। इतना कहकर ज्योंही पुरोहित कुछ दूर जाता है त्योंही मेनका अन्तरिक्ष से उतरती है और शकुन्तला को लेकर उड़ जाती है जैसा कि बतलाया जा चुका है।

छठें और सातवें अंक में 'अभिज्ञान' प्रस्तुत है। अभिज्ञान अर्थात् पॅहचान। इनकी संख्या एक नहीं, अधिक है, किन्तु उनमें से प्रधान है 'सर्वदमन' की दुष्यन्त पुत्र

के रूप में पॅहचान। सर्वदमन यानी शाकुन्तल।

यह हुआ कालिदास का सबसे बड़ा और सबसे अधिक उलझी कथावस्तु का राष्ट्रीय और सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ा नाटक। इसमें सक्रिय हैं आश्रमवासी तपस्वी भी और स्वर्ग के देवता भी संपूर्ण प्रकृति चक्र के साथ।

मालविकाग्निमित्र का भरतवाक्य राष्ट्रीय उपद्रवों (ईतियों) की शान्ति की कामना प्रस्तुत करता है, विक्रमोर्वशीयम् का भरतवाक्य सबके सुखी जीवन और सभी के मंगल की कामना लिए हुए है, किन्तु अभिज्ञानशाकुन्तलम् के भारतवाक्य की स्थिति अलग है। उसमें की जाती है नीललोहित शिव से अपुनर्भव की कामना, किन्तु उसके साथ प्रजा और प्रजापालक के बीच सौमनस्य की कामना भी। बीच में श्रुतिमहती सरस्वती (संस्कृत भाषा) की पूजा की कामना है, क्योंकि उसकी पूजा से ही संभव है स्थापना सौमनस्य की, उसी में हैं सांमनस्य की सुदीर्घ कामनाएँ—

प्रवर्त्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।।

श्रुति यानी वेद। उससे जिसका महत्त्व है ऐसी सरस्वती केवल संस्कृत भाषा है। वेद केवल संस्कृत में ही है। और उसी में प्रतिपादित हैं स्वर्ग तथा अपवर्ग दोनों जिनका यहाँ प्रतिपादन है।

पाठ की विभिन्न परम्पराएँ

शाकुन्तल के पाठ में चार प्रकारों की कल्पना की गई है (१) नागरपाठ (२) वंगीय पाठ (३) कश्मीरी पाठ तथा (४) दक्षिणी पाठ। इनमें से कश्मीरी तथा दक्षिणी पाठ प्रायः नागरपाठ से मिलते जुलते हैं, अतः नागर और वंगीय पाठ ही प्रमुख हैं। सर विलियम जोन्स को वंगीय पाठ ही सुलभ था और कण्व लक्ष्मणसिंह ने भी इसी का हिन्दी अनुवाद किया था। इस पाठ में नान्दी पद्य में 'प्रसन्न' पाठ माना गया है। इस पाठ के शाकुन्तल को 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' कहा गया। रिचर्ड पिशेल ने इस पाठ को १८७७ में जर्मनी से छपवाया था। इसी का द्वितीय संस्करण १९२४ में हार्वर्ड से प्रकाशित हुआ जिस पर मुद्रण सन् १९२२ छपा है। वंगीय पाठ में प्रथम मिलन में ही शकुन्तला अठखेलियाँ करती दिखाई गई है जो कालिदास की प्रवृत्ति के विरुद्ध है।

जो संस्करण अधिक प्रचलित है वह है 'नागर' संस्करण। इसमें नाटक का नाम है 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' और 'नान्दी'—पद्य में 'प्रपन्न'—शब्द है जो पाण्डुग्रन्थों से भी समर्थित है। राघव भट्ट की अर्थद्योतनिका—नामक प्रसिद्ध टीका इसी पाठ पर है [1]।

---

१. इसी के साथ 'शाकुन्तल' का बारहवाँ संस्करण मुम्बई के निर्णयसागर से १९५८ में छपा है।

हमने अपनी कालिदासग्रन्थावली के १९७६ तथा १९८६ के दोनों संस्करणों में इसी संस्करण को अपनाया है। १८४२ में बान (BONN) से छपे आटो वाटलिङ्क के संस्करण में भी इसी पाठ को अपनाया गया है तथा १८७६ में लन्दन से छपे सर मानियर विलियम्स के संस्करण में भी, यद्यपि इन दोनों संस्करणों में शाकुन्तल को 'अभिज्ञानशकुन्तल' ही कहा गया है और नान्दी पद्य में 'प्रसन्नः' पाठ ही दिया गया है। हमने शाकुन्तल की ऐसी अनेक असंगतियाँ दूर कर दी हैं।

'कालिदासलेक्सिकन्' में शार्पे ने नागर और वंगीय इन दोनों पाठों को साथ साथ छापा है १९५४ में छपे प्रथम भाग में।

पूरे शाकुन्तलम् के नागरपाठ में संस्कृतपद्य १९६ है। कुछ पद्य प्रक्षिप्त भी हैं।

शाकुन्तल के छपे संस्करणों में असंगतियाँ भी थी और अभिप्रायों का कमी भी। असंगति तो चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में ही थी जहाँ अंगों का अवसाद अनसूया में बतलाया गया था। वस्तुतः था वह शकुन्तला में। प्राकृत का 'से' समझ लिया गया था 'मे'। 'से' यानी 'अस्याः' यानी शकुन्तलायाः। उक्ति अनसूया की थी इसलिए 'मे' पाठ में मम = मेरे = अनसूया के हाथ पैर न चलने का अभिप्राय निकलता या। 'से' पाठ मिथिलाशोध संस्थान से छपी रसचन्द्रिका टीका में मिला।

अभिप्रायों की कमी शाकुन्तल के नान्दीपद्य में ही थी। निर्णय सागर से छपे सभी संस्करणों में छपा है 'प्रपन्नस्त०' और हार्वर्ड, आक्सफोर्ड आदि से प्रकाशित संस्करणों में 'प्रसन्नस्त०'। दोनों विशेषण 'ईश' के थे, जिन्हें छोड़ देने पर भी वाक्यार्थ में कमी नहीं आती थी, अतः काव्यशास्त्र की भाषा में ये अपुष्टत्व दोष से दूषित थे। इन्हें छोड़कर भी 'ताभिः प्रत्यक्षाभिस्तनुभिरीशो वोऽवतु' इस प्रकार जो वाक्य बनता है उसमें पूर्णता है।

दूसरे नान्दी पद्य के चारों चरणों में भक्त की ईश के प्रति उन्मुखता का आवश्यक अभिप्राय किसी भी पद से प्रतिपादित नहीं था, जबकि अन्य दोनों नाटकों में यह अभिप्राय प्रतिपादित था। मालविकाग्निमित्र में 'प्रणतबहुफल' पद से और 'विक्रमोर्वशीय' में 'स्थिरभक्तियोगसुलभः' पद से। अन्य स्तुतियों में भी भक्ति या प्रपत्ति का यह अभिप्राय स्वयं कालिदास साहित्य में उपलब्ध था। सर्वोत्कृष्ट नाटक शाकुन्तला उसका भी सर्वोत्कृष्ट और अभूतपूर्व तथा सृष्टिविद्या और दर्शन की दृष्टि से भी समग्र यह नान्दीपद्य, इसमें इतनी बड़ी कमी कि 'ईश्वर तुम्हारी रक्षा में लगा रहे जैसे वह तुम्हारा क्रीतदास हो और तुम बने रहो ठूँठ'। वस्तुतः यह भूल ब्राह्मीलिपि से नागरी में उतारते समय हुई, क्योंकि कालिदास के समय की लिपि ब्राह्मी थी। उसमें 'आ' की मात्रा को न पकड़ पाना ही स्वाभाविक था, अतः 'आ' को 'अ' समझ लिया गया और

उसके ऊपर अनुनासिक का चिह्न जो बिन्दी थी वह भी पकड़ी नहीं जा सकी, फलत: 'प्रपन्नाँस्त' को 'प्रपन्नस्त' समझ लिया गया और अर्थ की स्पष्टता के लिए मध्यवर्त्ती 'प' को बना लिया गया 'स', फलत: पाठ बना 'प्रसन्न:'। हमने अपने द्वितीय संस्करण में पूर्ण स्पष्ट टिप्पणी के साथ 'प्रपन्नाँस्त' ही पाठ दिया है। इससे कालिदास को भी मान्य 'प्रपत्ति' भक्तों में मिलने लगी और ईश के द्वारा रक्षा की बात भी संभव बन गई।



कालिदास की तिथि (२०७० वर्ष पूर्व)

इस साहित्य की रचना २१०० वर्ष से २०७५ वर्ष पहले हुई। यह समय–सीमा उल्लेखों के आधार पर तय होती है। कालिदास का पहला उल्लेख बाणभट्ट में मिलता है। हर्षचरित के आरम्भिक पद्यों में कालिदास के विषय में उनका उद्‌गार है–

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते।। पद्य १६।।

'कालिदास की सूक्ति एक प्रकार से मञ्जरी ही है मधुर और सान्द्र।
ये निष्पन्न हुई नहीं कि किसकी प्रीतिपात्र बनी नहीं।'

बाणभट्ट ने हर्षचरित थानेसर (स्थाण्वीश्वर) के महाराज हर्षवर्धन के संपर्क में आने के बाद लिखा, अत: बाणभट्ट ईसवी सन् ६०२ के माने जाते हैं। कालिदास उनसे १०० वर्ष पहले के माने जाएँ तो लगभग ईसवी सन् ५०० में वे अपना साहित्य संसार को दे चुके होंगे। यह वह समय है जब गुप्तों का राज्य ध्वस्त हो चुका था। उसके पूर्व सातवाहन और उनके पहले मूलभूत विक्रमादित्य हो चुके थे, जिन्होंने ईसवी सन् के ५७ वर्ष पूर्व विक्रमसंवत्सर प्रवर्तित किया जो अभी तक चल रहा है। इस संवत्सर का उल्लेख शताब्दियों तक नहीं मिलता, इसलिए कल्पना की जा रही है कि विक्रमादित्य ने अपने समय से लगभग ५०० वर्ष पूर्व से अपना संवत् घोषित किया। यह भारतीय चरित्र पर अद्‌भुत आघात है। ऐसा विदेशों में हुआ, अत: उन्हें भारतीय भी वैसे ही लगे। भारतीय मेधा इस प्रकार की कल्पनाओं को मान्यता नहीं देती। न मान्यता देनी चाहिए। महाकवि कालिदास किसी भी काव्य और किसी भी नाटक में गुप्तों में से किसी भी शासक का नाम नहीं लेते।

अभिलेखों में[१] गुप्तवंश की वंशावली ऐसी है (१) श्रीगुप्त (२) घटोत्कच (३) चन्द्रगुप्त (४) समुद्रगुप्त (५) चन्द्रगुप्त –२ (६) कुमारगुप्त-I (७) स्कन्दगुप्त तथा (८) कुमारगुप्त-II। इनमें से एक का भी पूर्ण नाम कालिदास की रचनाओं में नहीं मिलता।

---

१. अभिलेख (१) समुद्रगुप्त का (२) प्रभावती गुप्ता का और स्वयं स्कन्दगुप्त का। ग्रन्थ करम्बेलकर का Select Sanskrit Inscriptions, नागपुर, १९५८

२. 'विक्रमादित्य' के उल्लेख से युक्त जो हस्तलिखित प्रति काशी के विद्वान् पं॰ केशवप्रसाद मिश्र के पास थी, जैसा कि कहा जाता है वह गुम चुकी है। जीवानन्दविद्यासागर ने विक्रमादित्य का जो उल्लेख शाकुन्तल में बतलाया है उसका आधार कलकत्ता एशियाटिक सोसायटी की वही G–३४० प्रति होगी, जिसका चित्र हमने कालिदासग्रन्थावली में दे रखा है।

यही स्थिति है 'विक्रमादित्य'—शब्द की। यह नाम कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी की शाकुन्तल की प्रति क्रमांक G—३४० की प्रस्तावनामात्र में मिलता है[१]। इसका चित्र हमारी कालिदासग्रन्थावली के द्वितीय संस्करण में दे रखा है। एक प्रति हार्वर्डविश्वविद्यालय, अमेरिका में है (क्रमांक १०८६) जिसकी प्रस्तावना में विक्रमादित्य साहसाङ्क का उल्लेख है। प्रस्तावना में समकालीन शासक और परिस्थिति का उल्लेख प्रचलित रहा है। संभव है शाकुन्तल का प्रयोग विक्रमादित्य के समय भी किया गया हो अत: उनका उल्लेख कर दिया गया हो। यदि स्वयं कवि ने यह उल्लेख किया होता तो शाकुन्तल की सभी प्रतियों में सुलभ होता। यह भी स्मरणीय है कि जिस प्रति में यह मिलता है वह प्रयाग के पास गङ्गातीर पर स्थित 'कड़ा' नगर में लिखी गयी है तथा लिपिकार इसके निर्माण में अत्यधिक असावधान था[१]।

म०म० मिराशी जी अभी तक अनुपलब्ध, किन्तु उल्लेखों से ज्ञात 'कुन्तलेश्वरदौत्य' के आधार पर कालिदास को विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त से संबन्धित मानना चाहते हैं। इसका उत्तर डॉ० राघवन् ने अपने ग्रन्थ **भोजाज् शृङ्गारप्रकाश** में दे दिया है। संभव है कुन्तलेश्वरदौत्य का लेखक कोई अन्य कालिदास हो।

ज्योतिर्विदाभरण में तो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की जल सेना का भी विस्तृत वर्णन दिया है और कहा गया है कि इस ग्रन्थ की रचना रघुवंश के कवि कालिदास ने की है, किन्तु इसकी भाषा और प्रवृत्ति से लगता है कि यह गलत है। सबसे बड़ी बात यह है कि ज्योतिर्विदाभरण में अपना रचनाकाल विक्रमसंवत् में न देकर कलिसंवत् में दिया गया है जिससे सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ की रचना शुङ्गयुग में हुई है।

स्व० भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार हूणों का उल्लेख महाभारत में भी है और वाल्मीकीय रामायण में भी। कालिदास इन्हीं महान् कृतियों की भाषा और सामग्री को आधार बनाकर प्रवृत्त हैं कविकर्म में। ये दोनों कृतियाँ ईसा के पहले ६०० और ५०० वर्ष की रचनाएँ हैं। इतिहासविदों की यह कोरी कल्पना है कि गुप्तयुग में इनका पुन:संस्कार किया गया।

डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने अपने ग्रन्थ 'कालिदास की तिथि संशुद्धि' में कालिदास को प्रथम 'कुमारगुप्त' के समय का माना है। इससे एक बात यह स्पष्ट होती है कि कालिदास चन्द्रगुप्तविक्रमादित्य के समय में नहीं, अपितु उसके पुत्र कुमारगुप्त

---

१. गुप्तयुग में 'विक्रमादित्य' उपाधि चन्द्रगुप्त द्वितीय की भी थी और स्कन्दगुप्त की भी। कविवर जयशङ्करप्रसाद ने अपने नाटक 'स्कन्दगुप्त' में स्कन्दगुप्त को भी विक्रमादित्य बतलाया है। बाद में और भी कई विजेताओं ने विक्रमादित्य उपाधि धारण की है। परन्तु कालिदाससाहित्य में मूल विक्रमादित्य भी नहीं है और न है उनका संवत् है।

डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री भी उपाधिधारी विक्रमादित्यों में चन्द्रगुप्त—२ के समय कालिदास का अस्तित्व मानते हैं। उनका ग्रन्थ 'महाकवि कालिदास' E.B.L. दिल्ली १९९७.

के समय में हुए और दूसरी बात यह कि शाकुन्तल की प्रस्तावना में विक्रमादित्य का जो समावेश है वह गलत है, क्योंकि कालिदास का शाकुन्तल बाद में बनने वाला है। डॉ० तिवारी की स्थापना बहुत अधिक खींचतान पर निर्भर है। वे इसी प्रकार आज के रेवाप्रसाद द्विवेदी को कालिदास में उल्लिखित सिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि कालिदास ने 'रेवा' शब्द अनेक बार प्रयुक्त किया है। इसी प्रकार वे स्वयं अपने आपको भी कालिदाससाहित्य में देख सकते हैं जहाँ जहाँ 'राम' या 'चन्द्र' शब्द कालिदास ने दिए हैं।

उज्जैन के प्रो० के०सी० जैन ने कालिदास को चष्टन के समय में मानने पर तर्क दिए हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि कालिदास शुङ्गों के अधिक पास होते जा रहे हैं।

इन सभी तर्कों के विरुद्ध हमारा यह कथन यथावत् स्थित है कि कालिदास साहित्य में गुप्त राजवंश के एक भी राजा का नाम नहीं मिलता और विक्रमादित्य का भी।

'विक्रमादित्य' से भी कालिदास पूर्ववर्त्ती हैं। विक्रमादित्य का भी इसीलिए कालिदास साहित्य में उल्लेख नहीं है, न उनके द्वारा चलाए गए संवत्सर का। ये तर्क अनुल्लेखमूलक हैं, किन्तु मान्य हैं, क्योंकि इन सबके पूर्ववर्त्ती शुङ्गों की तीन पीढ़ी और उनकी ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का उल्लेख मालविकाग्निमित्र में मिलता है। इस नाटक की भाषा और शृङ्गारसम्बन्धी प्रवृत्तियाँ ठीक वे ही हैं जो कुमारसंभव (१–८), रघुवंश आदि की हैं, अतः रघुवंश आदि के रचयिता कालिदास से मालविकाग्निमित्र के रचयिता कालिदास भिन्न हैं, जैसा डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी मानते हैं, यह मानना संभव नहीं।

१. 'कालिदास' कभी भी हुए हों, किन्तु उनकी कविता महर्षि वाल्मीकि की परम्परा की कविता और भारतीय जीवन की सतत गतिशील धारा से समरस है, अतः वह आज तक बासी नहीं, प्रत्युत नित्य ताजी या प्रत्यग्र बनी हुई है।
२. कालिदास की तिथि की खोज उनके साहित्य में हुए उल्लेखों के आधार पर की जानी चाहिए, अनुल्लेखों के आधार पर नहीं।
३. कालिदास साहित्य पर विक्रमादित्य थोप दिए गए। वस्तुतः विक्रमादित्य का कलासर्वस्व कालिदास साहित्य रहा है। अभिनन्द का कथन अभिनन्दनीय ही है कि विक्रमादित्य ने कालिदास के प्रवृत्तिमार्गी साहित्य को जनहित में महत्त्व दिया और उसका व्यापक प्रचार किया।

४. कालिदास का मुख्य आधार वाल्मीकि–रामायण और महाभारत हैं। इन्हीं की पदावली अपनाकर कालिदास और अश्वघोष चलते हैं। यदि महाभारत में हूणों का उल्लेख है तो कालिदास में हूणों का उल्लेख उसी आधार पर है। कालिदास 'आक्सस्' नदी के तीर तक पहुँचे होंगे यह मानना कल्पना का अतिरेक होगा वैसे ही जैसे वंक्षु के स्थान पर सिन्धु पाठ मानना और उस सिन्धु को पश्चिमी भारत की सिन्ध, जैसा कि मित्रवर रामचन्द्र तिवारी का हठ है।

कालिदास ईसा पूर्व में : पुरातात्त्विक साक्ष्य

जहाँ तक विदिशा के राजधानी होने का प्रश्न है, कालिदास के ही मालाविकाग्निमित्र नाटक से पता चलता है कि सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक था[१]। हेलियोदोरस के प्रस्तर स्तम्भलेख में वर्णित 'भागभद्र' भी ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का ही है।

कालिदास ने मेघदूत में विदिशा को स्पष्ट रूप से दशार्ण की राजधानी कहा है। उनके मालविकाग्निमित्र से भी विदिशा राजधानी ज्ञात है। इस प्रकार कालिदास ने अपने दो ग्रन्थों में विदिशा को राजधानी बताया है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास ईसा पूर्व में विद्यमान थे, जब विदिशा दशार्ण की राजधानी थी।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि कालिदास ने मेघदूत में मेघ से कहा है कि नीचगिरि (उदयगिरि) की गुफाओं में सुगन्धित पदार्थों की गन्ध से वहाँ पर रमणियों के साथ रति–क्रिया का ज्ञान होगा, चूँकि गुप्तकाल में इन गुफाओं में मन्दिर एवं मूर्तियों का निर्माण हो चुका था अत: वहाँ पर रमणियों के साथ केलि करने का प्रश्न ही नहीं उठता। मूर्तियों के निर्माण के पूर्व ही गुफाओं में केलि की संभावना व्यक्त की जा सकती है। अत: कालिदास का यह वर्णन भी उन्हें गुप्त काल में नहीं रखता।

यदि उन्हें अग्निमित्र और मालविका का प्राचीन एवं पौराणिक आख्यान ही अभिप्रेत होता तो वे विक्रगोर्वशीयम् की रचना कर ही चुके थे। मालविकाग्निमित्र शुद्धरूप से ऐतिहासिक है। अत: कालिदास के द्वारा मालविकाग्निमित्र की रचना भी उन्हें ईसा पूर्व की शताब्दियों में ही ले जाती है।

कालिदास को गुप्तकाल में रखने हेतु रघुवंश में उनके द्वारा वर्णित हूण–आख्यान[२] की विवेचना में डॉ० राजबली पाण्डेय ने चीन तथा मध्य एशिया के इतिहास का

---

१. मेघदूत, २४

२. तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्। कपोलपाटनादेशि बभूव रघुचेष्टितम्। रघुवंश ४. ६८

उल्लेख करते हुए स्पष्ट रूप से बता दिया है कि ईसा पूर्व पहली तथा दूसरी शताब्दी में हूण पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे[१]। उल्लेखनीय है कि रघुवंश में हूणों को रघु ने अपने विजय अभियान में भारत की सीमा के बाहर हराया था। अत: हूणों के परवर्ती भारतीय विजय को ध्यान में रखकर कालिदास के संदर्भ में अन्य प्रामाणिक सूत्रों को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

कालिदास के संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र अपने को बैम्बिक बताता है[२], ईसापूर्व में होने के कारण कालिदास को बैम्बिक एवं अग्निमित्र के वंश का उत्तम ज्ञान रहा होगा। उल्लेखनीय है कि ईसापूर्व में बैम्बिक वंश की उपस्थिति अभिलेखों से भी पुष्ट होती है। एरच और मूसानगर के इष्टिका अभिलेखों में दाममित्र को बैम्बिक बताया गया है[३]। इस आधार पर अग्निमित्र और दाममित्र के वंश में सम्बन्ध स्थापित होता है लेकिन उनके पारिवारिक सम्बन्धों के बारे में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में वसुमित्र के दीर्घायु हेतु १०० स्वर्ण निष्क के बराबर दान की चर्चा की है[४]। अत: कालिदास के द्वारा स्वर्ण सिक्कों के रूप में दीनार के स्थान पर निष्क के प्रयोग से स्पष्ट है कि वे ईसापूर्व में विद्यमान थे और यही कारण है कि उन्होंने मालविकाग्निमित्र में अपने समय (ईसापूर्व) में प्रचलित निष्क का उल्लेख किया है।

कालिदास शुङ्गराज्य के प्रतिष्ठापक पुष्यमित्र, उनकी उपाधि सेनापति, उनके द्वारा किए जा रहे अश्वमेध, पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र, अग्निमित्र की राजधानी विदिशा, अग्निमित्र का विदिशा में निवास, अग्निमित्र के युवक पुत्र वसुमित्र, वसुमित्र की पुष्यमित्र द्वारा किए जा रहे अश्वमेध के अश्व की रक्षा में नियुक्ति और वसुमित्र द्वारा पश्चिमी भारत में किसी यवन आक्रमणकारी को हराना इन सभी घटनाओं को मालविकाग्निमित्र में स्थान देते हैं। पुष्यमित्र अग्निमित्र को अश्वमेध में आमन्त्रित यह कहते हुए करता है कि 'तुम्हारे मन में जो रोष है उसे भुला दो और आओ।' वसुमित्र के लिए उसकी माता धारिणी प्रतिदिन 'निष्क'—नामक सुवर्ण मुद्राएँ बाँट रही हैं। निष्कमुद्रा शुङ्गकालतक ही प्रचलित थी, उसके बाद नहीं।

---

१. पाण्डेय, राजबली : कालिदासग्रन्थावली (आचार्य सीताराम चतुर्वेदी सम्पादित), समीक्षा—निबन्ध, विक्रमादित्य, पृ० ९।

२. दाक्षिण्यं नाम विम्बोष्ठि बैम्बिकानां कुलव्रतम्—राजा : मालविकाग्निमित्र, चतुर्थ अंक।

३. श्रीवास्तव, ओम्प्रकाशलाल : दाममित्र आफ एरच एण्ड मूसानगर ब्रिक इन्स्क्रिप्सन्स, इपिग्रैफिकल सोसाइटी आफ इण्डिया में प्रकाशनार्थ प्रेषित (शोध—पत्र)।

४. तस्यायुर्निमित्तं निष्कशत—सुवर्ण—परिमाणां दक्षिणा—सारसिक : मालविकाग्निमित्र, पंचम अंक।

पुष्यमित्र के अश्वमेध के आचार्य थे व्याकरणमहाभाष्य के रचयिता महर्षि पतञ्जलि। अवश्य ही उस समय वे ६० और अस्सी के बीच चल रहे होंगे, क्योंकि अश्वमेध में आचार्य से लेकर ऋत्विक् तक केवल बूढ़े वैदिक ही वरण किए जाते हैं। इस प्रकार पतञ्जलि का जन्म २३० ई०पू० में हुआ होगा और पुष्यमित्र की उमर उस समय लगभग ६५, ७० वर्षों की होगी। इन महर्षि पतञ्जलि ने **'ऋलृक्'** सूत्र के भाष्य में लिखा था **'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः'**। कालिदास इस वचन का ज्यों का त्यों प्रयोग करते हैं–

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता ।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ।। कुमार० २.१७।।

शुङ्गों के समय राष्ट्रीय देवता कार्तिकेय थे। कालिदास साहित्य में भगवान् कार्त्तिकेय और उनके वाहन मयूर का पदे पदे उल्लेख है। यज्ञयागादि का पवित्र वातावरण शुङ्गों के युग की मुख्य विशेषता है और कालिदास साहित्य भी इसी संस्कृति से अभिव्याप्त है। निवृत्तिमार्गी अनात्मवाद को शुङ्गयुग ने अमान्य कर आत्मनित्यत्ववादी दर्शन को और उससे लगे 'ईश्वरतत्त्व को' भी महत्त्व दिया तथा पुनर्जन्म–सहित परलोकवाद को भी। कालिदास में ये सभी मान्यताएँ प्रस्तुति पाती हैं। इनके लिए वेद के प्रामाण्य की आवश्यकता थी। तदर्थ कालिदास का स्पष्ट वचन है वह सरस्वती = भाषा पूजी जाए जिसमें श्रुति हों– 'सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्' (शाकु० भरतवाक्य)। श्रुति यानी वेद।

दक्षिणी तट पर पाण्ड्यों की उरगपुर में और उत्तरी भारत में दशार्ण देश की राजधानी विदिशा में शुङ्गयुग में ही थी। कालिदास इन दोनों का उल्लेख करते हैं।

वंक्षुतट पर हूण आते जाते रहे हैं और जामित्रयोग की अन्यथा व्याख्या भी की जाती है। अतः ये भी ऐसे तथ्य नहीं, जिनसे कालिदास के समय पर विचार किया जा सके, जैसा कि कीथ ने किया है। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय कालिदास को शुङ्गयुग में ही सिद्ध करते हैं [१] और लगभग यही मत है डॉ० गोविन्दचन्द्रजी पाण्डे का।[२]

कालिदास प्रयाग के संगम का तो दृश्य प्रस्तुत करते हैं, किन्तु उन्हें यह विदित नहीं है कि वहाँ कुम्भमेला भरता है। कालिदास यह भी नहीं जानते कि भारत भूमि में चार धाम हैं। न वे उत्तराञ्चल के बदरिकाधाम से अवगत हैं, न पूर्व के

---

१. 'Kalidasa and his age' ग्रन्थ में पं० चट्टोपाध्याय का मत पुनः छाप दिया गया है। संपादक हैं डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, प्रकाशक, इलाहाबादम्यूजियम, इलाहाबाद, १९९९। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय और डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने शुङ्गकाल का खण्डन धारदार तर्कों से किया होता तो हम उनका पक्ष मान लेते। २. द्र० 'भागीरथी' पृष्ठ १८६।

जगन्नाथधाम से, न पश्चिम के द्वारकाधाम से और न दक्षिण भारत के श्रीरामेश्वरधाम से। भगवान् शङ्कराचार्य को कालिदास नहीं जानते, न जानते उनके जगन्मिथ्यात्व को। प्रयाग के प्रतिष्ठानपुर (झूँसी) में जो समुद्रकूप है उसका निर्माण समुद्रगुप्त के द्वारा कराया गया था ऐसा पुरातत्त्ववेत्ताओं का विश्वास है, किन्तु कालिदास के प्रयाग वर्णन में समुद्रकूप का उल्लेख नहीं है।

कालिदास ने मेघदूत में 'दशपुर' का उल्लेख किया है। यह नगर भी ईसवी सन् के पहले भारत की पश्चिमी सीमा का उल्लेखनीय नगर था। कालिदाससाहित्य के पहले के जैन साहित्य में भी इसका उल्लेख है। गुप्तयुग में भी इसके सूर्यमन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ था। डॉ० भवानीशंकर त्रिवेदी की यह धारणा निर्मूल है कि दशपुर गुप्तयुग की देन है।

कालिदास और कीथ

विदेशी इतिहासकारों में कीथ अति प्रसिद्ध हैं, किन्तु न जाने क्यों वे भारत वसुन्धरा के इस महाकवि के प्रति अनुदार हैं। उन्हें कालिदास में न उज्ज्वलता दिखाई देती और न उच्चता। वे कालिदास का सतही परिचय देकर भी संतुष्ट हैं। उपेक्षापूर्ण दृष्टि का ही फल है कि कीथ रघुवंश के अन्तिम राजा का सही नाम नहीं जानते। है वह अग्निवर्ण, परन्तु वे उसे अग्निवर्म कहते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल जैसे सोद्देश्य नाटक में कीथ की दृष्टि अतीव स्थूल है। वे यह कहकर संतुष्ट हैं कि कालिदास के नाटकों के पात्र पात्र नहीं, टाइप्स हैं।

जर्मनी के प्रसिद्ध महाकवि गोएथे ने कालिदास की जो प्रशंसा की वह विश्वप्रसिद्ध थी, किन्तु ऑक्सफोर्ड के कीथ में उसका भी स्पर्श नहीं दिखाई देता। कीथ ऑक्सफोर्ड के रामचन्द्र शुक्ल थे जिनकी अपनी मान्यताएँ थीं और अन्य अध्येता जिनसे व्यक्तिगतरूप से आतंकित रहते थे, अतः उनके विरुद्ध कुछ भी कहने का साहस नहीं कर पाते थे।

हार्वर्डविश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त संस्कृत प्रोफेसर डॉ० डी०डी०इंगल्स से १३.५.१९९५ को उन्हीं के निवास स्थान पर हुई भेंट में कालिदास पर चर्चा चली तो उन्होंने पूछा 'कालिदास ने रघुवंश को एकाएक अपूर्ण क्यों छोड़ दिया?' मैंने पूछा 'इस पर आपने भी कुछ सोचा होगा' तो उन्होंने कहा कि 'यह उनके समय का प्रभाव था' और कहा कि 'कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय हुए।' मैंने तत्काल कहा 'यह तो प्रचार ऑक्सफोर्ड के कीथ का था जबकि कालिदास गुप्तवंश के किसी भी शासक से परिचित नहीं, वे उनमें से किसी का भी पूरा नाम नहीं लेते, न तो वे उल्लेख करते विक्रमसंवत् का'। इस पर प्रो० इंगल्स ने इतना ही कहा 'I disagree with you'.

क़ोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया। उस समय प्रो० इंगाल्स ८० वर्ष के थे और अशक्त भी हो चुके थे।

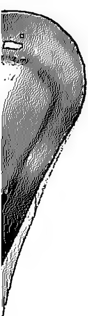
पुनर्विचार

कालिदास की तिथि पर आज (२८.११.२००२) काशी के प्रसिद्ध कला केन्द्र ज्ञानप्रवाह में पुन: विचार हुआ। इसमे 'शुङ्ग' युग का पक्ष गुप्तयुग के पक्ष से काटा नहीं जा सका। बल्कि इस ऊह पर ध्यान दिया गया कि शुङ्गों के सभी शासकों के नाम में जो 'मित्र' शब्द जुड़ा है उसका एक अर्थ आदित्य भी है। संभवत: शुङ्गों में किसी शासक का नाम विक्रम हो और उसे विक्रम मित्र के स्थान पर 'विक्रमादित्य' कहा जाने लगा हो।

सर्वथा कालिदास की तिथि का आधार केवल हेत्वाभास ही हैं, किन्तु उनमें भी शुङ्गशासन और संवत्प्रवर्तक विक्रमादित्य के सन्धिकाल को कालिदास का समय सिद्ध करने वाले हेत्वाभास बलवत्तर हैं ।

दिनांक ५–११–२००३ को उज्जयिनी में अखिल भारतीय कालिदास समारोह में 'कालिदास का स्थितिकाल' विषय पर एक परिसंवाद आयोजित था । उसमें इस ग्रन्थ के लेखक से भी आलेख माँगा गया था । उसे वहाँ बाँचा गया । इस आलेख में १. उल्लेख (शुङ्गादि का) २. अनुल्लेख (विक्रमादित्य से लेकर गुप्त शासक आदि का) तथा ३. उल्लेखानुल्लेख (नीचगिरि में गुफाओं का उल्लेख परन्तु गुप्तयुगीन मूर्त्तियों का अनुल्लेख) इन विषयों पर विचार कर मीमांसा के इस न्याय का स्मरण दिलाया गया जिसमें 'कथित को अमान्य कर कल्पित अकथित को मान्य' करना दोष बतलाया गया है ।





कालिदासकालीन लिपि एवं पाठान्तर

हम कालिदास साहित्य को मुद्रित रूप में पढ़ते हैं जबकि इसका निर्माण मुद्रण के बहुत पहले हो चुका था। २०७५ वर्ष पहले इस देश में ब्राह्मी लिपि का प्रयोग हुआ है। अशोक के अभिलेखों से लेकर समुद्रगुप्त तक के अभिलेख इसी लिपि में लिखे मिलते हैं। कालिदास ने भी इसी लिपि में लिखा होगा, किन्तु कालिदास साहित्य का इस प्रकार का एक भी हस्तलेख सुलभ नहीं है, जो ब्राह्मी लिपि में लिखा गया हो। जो हस्तलिखित ग्रन्थ मिलते हैं वे प्रान्तीय लिपियों में हैं। शारदा (कश्मीर), कन्नड़, उड़िया, बॉगला, नेवारी (नैपाल) और देवनागरी हैं वे लिपियाँ जो विभिन्न प्रान्तों में प्रयुक्त होती हैं। हिन्दी लिपि नागरी या देवनागरी ब्राह्मी लिपि का ही विकास है। किन्तु कालिदास साहित्य जब ब्राह्मी से नागरी लिपि में आने लगा उस समय सूक्ष्म अन्तर पर ध्यान नहीं जा सका और लिखा कुछ और था, पर पढ़ लिया गया कुछ और परिणामत: कालिदास साहित्य लगभग २५ प्रतिशत तक बदल गया और उसमें पाठान्तरों की भरमार मच गई। हमने अपनी कालिदासग्रन्थावली में ब्राह्मी लिपि का अभ्यास कर उसकी प्रवृत्ति की सहायता से रघुवंश आदि के अनेक पाठों का संशोधन किया है। रघुवंश के सत्रहवें सर्ग में श्लोक ४७ का निर्णयसागर से मुद्रित पाठ निम्नलिखित है –

कातर्यं केवला नीति: शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अत: सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष स:।।

हमने ब्राह्मी लिपि की प्रवृत्ति के अनुसार 'र्यं श्वापद०' को 'र्यञ्चापद०' माना और अपनी कालिदासग्रन्थावली (१९८६) में यही पाठ मूल में रखा। शाकुन्तल के नान्दी पद्य में 'प्रपन्नस्त०' को 'प्रपन्नाँस्त०' माना और मूल में स्थान दिया। इससे भक्त की ईशोन्मुखता का भाव सुलभ हो गया जिसके विना ईश से रक्षा प्राप्त हो नहीं सकती। जैसा कि कहा जा चुका है।

शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में ३.४ उक्ति में जो विपर्यय था वह 'से' को 'मे' पढ़ लेने के कारण जैसा कि कहा जा चुका है।

रघुवंश के तृतीयसर्ग में इन्द्र का कथन है–'मेरा वज्र पर्वतों पर भी कभी विफल नहीं हुआ, तुम पहले वीर हो जिसने उसे भी सह लिया'। इसके लिए होना चाहिए पाठ 'अभङ्गमद्रिष्वपि', किन्तु छपा पाठ है 'असङ्गमद्रिष्वपि।

रघुवंश के ही सोलहवें सर्ग के—'स धातुभेदारुण० इस, बत्तीसवें पद्य में मल्लिनाथ ने 'प्रयाणध्वनि' पाठ माना है और अरुणगिरिनाथ ने 'प्रपातध्वनि'। प्रपात यानी जलप्रपात। यही पाठ उपयुक्त था। हमने अपने १९९३ में साहित्यअकादमी, दिल्ली से प्रकाशित रघुवंश में अब यही पाठ मूल में दिया है।

चतुर्थ सर्ग में जो दिग्विजय यात्रा है उसके वर्णन में केरल के स्थान पर अरुणगिरिनाथ ने 'चोलक' पाठ माना है। प्रश्न उठता है कि मूल किसे माना जाए। मल्लिनाथ ने केरल को मूल माना है। चोलकपाठ से वे अभिज्ञ नहीं लगते। अरुणगिरिनाथ और नारायण दोनों ने 'मुरची—मारुतोद्धूत' पद्य की व्याख्या में 'मुरची' को केरल में बहने वाली नदी बतलाया है— 'मुरची केरलप्रदेशेषु काचिन्नदी' (अरुण), मुरची नाम केरलप्रदेशेषु दक्षिणस्यां दिशि काचिन्नदी (नारायण)। मल्लिनाथ ने मुरची को 'मुरली' माना है, परन्तु इसे केरल में ही अवस्थित स्वीकार किया है। इस प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार चोलक छूट जाता है, जबकि अरुणगिरिनाथ के अनुसार 'चोलक' स्वीकार करने पर केरल 'मुरची' से प्राप्त हो जाता है। दोनों में किस परम्परा को महत्त्व दिया जाए? हमने मल्लिनाथ की परम्परा को स्वीकार किया है। इसके लिए हमने चतुर्थ सर्ग के आरम्भ में स्पष्टीकरण भी दे दिया है —

क्रिया प्रतिक्रिया स्वास्थ्यमिति स्वारसिकः क्रमः।
वर्ण्यमात्रस्य सर्वेषु प्रबन्धेष्वभिवीक्ष्यते।।

क्रियाऽत्र राज्यसंक्रान्तिः शत्रुक्षोभः प्रतिक्रिया।
स्वास्थ्यमात्मप्रतिष्ठा तद् द्विधा प्रकृतिरञ्जनात्।
शोधनात् कण्टकानाञ्च, तत्राद्यं पूर्वमीरितम्।
शोधनं कण्टकानां च दिग्जियेऽत्र प्रकाश्यते।
प्रजाराजानुकूल्याख्यं सौराज्यं स्वास्थ्यमुत्तमम्।
यस्मिन् प्रतिष्ठिते शक्यो यज्ञदीक्षादिरुत्सवः।

सर्वमेतदनेनैव क्रमेणाद्रियतेतराम्।
सूरिणा मल्लिनाथेन सोऽयमत्राद्दृतस्ततः।।

अर्थात् सभी प्रबन्धों में वर्णनीय वस्तु में स्वाभाविक रूप से तीन तथ्य देखे जाते हैं (१) क्रिया (२) प्रतिक्रिया और (३) स्वास्थ्य। इनमें से यहाँ क्रिया है दिलीप से रघु में राज्यसत्ता की संक्रान्ति, प्रतिक्रिया है शत्रुक्षोभ और स्वास्थ्य है अपनी प्रतिष्ठा। स्वास्थ्य दो प्रकार से संभव होता है एक तो प्रकृतिरञ्जन से और दूसरे कण्टकशोधन से। इनमें से प्रकृतिरञ्जन पहले ही बतला दिया गया

है (४.८–२५) दूसरा कण्टकशोधन दिग्विजय द्वारा बतलाया जा रहा है। स्वास्थ्य को उत्तम स्थिति तक पहुँचा तब माना जाएगा जब राजा और प्रजा के बीच में अनुकूलता हो, जिसकी प्रतिष्ठा हो जाने पर यज्ञदीक्षा आदि का उपक्रम हो पाता है।

इन सभी तथ्यों को इसी क्रम से मल्लिनाथ सूरि ने प्रस्तुत किया, इसलिए हमने यहाँ उन्हीं को आदर दिया है।

यद्यपि अन्य टीकाकारों में भी लगभग ऐसा ही है घटनाक्रम, किन्तु श्लोकक्रम में अन्तर है। हमने प्रत्येक श्लोक की संख्या मल्लिनाथ, अरुणगिरिनाथ और नारायण के अनुसार जो है उसकी तालिका भी प्रत्येक श्लोक के साथ दे दी है [१], किन्तु मूल में श्लोकों की संख्या वही रखी है जो निर्णयसागर से छपी मल्लिनाथ की सञ्जीवनी में है।

रघुवंश के विश्वभर में पढ़े जा रहे द्वितीय सर्ग के पञ्चम पद्य का मूल पाठ निर्णयसागरादि के संस्करणों में इस प्रकार छपा था–

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्॥

यहाँ तृतीय चरण में जो तृतीयान्त पद हैं वे हेतु–परक हैं, जबकि हेतुओं की गणना पूर्वार्ध में ही पूरी हो गई और समुच्चायक 'च' दे दिया गया। ये दोनों तृतीयान्त पद मूल लिपि को ठीक से न पढ़ पाने के कारण गढ़ लिए गए हैं। वस्तुतः इनमें पहला तृतीयान्त पद तृतीयान्त न होकर प्रथमान्त है 'अव्याहतः' और सम्राट् का विशेषण है। उसी प्रकार द्वितीय तृतीयान्त पद इकारान्त शब्द की षष्ठी का एकवचन है 'स्वैरगतेः'। ये पाठान्तर पादटिप्पणियों में सुलभ भी हैं, परन्तु उन पर ध्यान नहीं जा सका। इसका कारण लिपि का संदेह भी हो सकता है। अर्थ पर ध्यान न देकर 'अव्याहतस्वैरगतैः' भी लिख लिया गया। ये दोनों विशेषण समाराधन के लिए आवश्यक हैं। यदि नन्दिनी की भ्रमणरूपी गति में स्वैरत्व न हो तो कैसा समाराधन और नन्दिनी जहाँ घूमे वहाँ सम्राट् न पहुँचे तब भी कैसे बने समाराधन? इस कारण सुकवि ने 'सम्राट् तस्याः स्वैरगतेः सत्याः अव्याहतः सन् समाराधनतत्परोऽभूत्' इस प्रकार की सार्थक पदावली का प्रयोग किया। वह पाठक के अनवधान से कुछ की कुछ हो गई। कविता क्षतविक्षत हो गई।

पञ्चम सर्ग के द्वितीय पद्य–'स मृन्मये' में 'मृण्मये' पाठ निर्णयसागर आदि से मुद्रित है। होना चाहिए था 'मृन्मये' ही। षष्ठ सर्ग में पद्य ४९ 'त्रातेन' में निर्णयसागर

---

१. हार्वर्ड वि०वि० अमरीका और लन्दन के वेलकमट्रस्ट के पाण्डुग्रन्थों की श्लोक संख्या अलग अलग है किन्तु उन सभी में 'केरल' पाठ ही है, चोलक नहीं।

के पाठ में दो पाठ बदलने पड़े (१) त्रस्त को 'त्रात' बनाना पड़ा और (२) 'कृष्णम्' को 'विष्णुम्'। इसलिए कि उपहार त्रस्त से नहीं, त्रात से ही मिलना संभव है 'कालिय नाग' की रक्षा गरुड से हुई थी। उसने प्रदान की मणि, उसे धारण करने पर वहाँ का राजा कौस्तुभधारी विष्णु से अच्छा लगता था। विष्णु के स्थान पर 'कृष्ण' पाठ 'शूरसेन, यमुना, वृन्दावन ओर गोवर्धन' के सन्दर्भ के अनुरूप लगता है, किन्तु स्तुत्य श्रीकृष्ण को 'लज्जित' बतलाना वृन्दावन को भी प्रिय नहीं लगेगा, वृन्दावन के श्रीकृष्ण—भक्तों को तो वह और पीड़ाकर प्रतीत होगा। बड़ी बात यह है कि कौस्तुभ तो विष्णु के वक्ष:स्थल से हटी ही नहीं, श्रीकृष्ण तो मुरली के लिए प्रसिद्ध हैं। विष्णु के रूप में जब वे चतुर्भुज, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म' धारी थे श्रीभागवत में तब उनके वक्ष:स्थल पर कौस्तुभ भी दिखलाई गई, किन्तु जब वे बालक बन गए तो जैसे उनके आयुध हट गए वैसे ही आभूषण भी हट गए, उन्हीं में कौस्तुभ भी। रघुवंश में शूरसेन देश का राजा सुषेण कालियनाग द्वारा प्रदत्त मणि धारण कर लेता था तो कौस्तुभधारी विष्णु से भी अधिक अच्छा लगने लगता था' यह अर्थ पूर्णत: संगत है [१]। इस प्रकार के पाठभेदों की तुलनात्मक तालिका हमने रघुवंश के साहित्यअकादमी संस्करण की भूमिका के Editor's Note पृष्ठ ४९ से ५५ तक दे रखी है।

कुमारसंभव में २.५१ पद्य 'तदिच्छामो विभो सृष्टं सेनान्यम्' के स्थान पर निर्णयसागर आदि के संस्करणों में पाठ छपा है 'स्रष्टुम्'। 'सृष्टं' का अर्थ था 'उद्युक्तम्'। 'स्रष्टुम्'—कहना इस अभिप्राय में असंगत था। ब्रह्मा ने पहले ही कह दिया था 'सृष्टि करने का काम मेरा, तुम देवताओं का काम सृष्टि की रक्षा करने का' (कुमार० २.२८) अब देवता कहें कि 'हम सेनानी बनाना चाहते हैं' यह कैसे माना जाएगा उचित? इसका तो टके सा उत्तर होगा— 'सृष्टि करना चाहते हो तो करो, मेरे पास आने की कोई आवश्यकता नहीं।' ब्रह्मा जी का यह कथन भी असंगत हो जाएगा कि 'मैं तारकासुर के नाशक का निर्माण नहीं कर सकूँगा, क्योंकि उसे जो वैभव प्राप्त है वह मेरे ही वर से। स्वयं लगाए वृक्ष को कोई भी खुद काटना उचित मानता है क्या?' —

इत: स दैत्य: प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।। कुमार० २.५५।।

संहार का दायित्व तो महादेव जी का है, अत: ब्रह्माजी ने देवताओं को उनकी ओर भेज दिया और अपनी विधि से सृष्टि का मार्ग तय कर दिया। ब्रह्मा तो मैथुनी

१. प्रो० वसन्त भट्ट ने इस विषय पर उज्जयिनी के कालिदास समारोह में शोध—पत्र पढ़ा था लगभग दो वर्ष पहले उसमें कृष्ण पाठ के समर्थन में वृन्दावन के सन्दर्भ को हेतु बतलाया गया है, किन्तु श्रीकृष्ण में कौस्तुभ प्रसिद्ध न होकर विष्णु में ही प्रसिद्ध है और कृष्ण को लज्जित करने की बात वृन्दावन में संभव नहीं।

सृष्टि को ही सृष्टि मानते हैं। उसके लिए शिव के अनुरूप स्त्री भी उन्होंने तय कर दी 'पार्वती'। शिव पार्वती से मिलन का दायित्व सौंपा गया कामदेव को। यह नहीं कि स्वयं शिवजी से ही प्रार्थना की होती। परिणाम हुआ काम शिव की नेत्राग्नि में भस्म हो गया, परन्तु रति बची रही। उसे शिवजी ने भस्म नहीं किया। वस्तुत: शिव ने काम के साथ स्वयं का जो द्वैत था उसी को नष्ट किया। काम तो वे स्वयं थे, परन्तु आवश्यकता थी उन्हें रति की जो जीवित थी, परन्तु वह परस्त्री थी। जब वह पार्वती बन गई तो शिव स्वयं पहुँच गए उसके पास। हमारे 'स्वातन्त्र्यसंभवम्' महाकाव्य में यही अभिप्राय इस प्रकार प्रस्तुत हुआ —

कामः शिवाद् भेदमितः प्रदग्धः शिवो हि कामः स्वयमेव देवः।
यस्मादसौ नैव रतिं ददाह रतिप्रियः प्रीतरतिश्च कामः।। (१२.५२)

'काम को जब जलाया गया तब वह शिव नहीं था, यद्यपि स्वयं भगवान् शिव ही हैं काम। यह शिव की इस प्रवृत्ति से सिद्ध है कि शिव ने रति को नहीं जलाया। उन्हें रति प्रिय थी। और जो रतिप्रिय वही रति से प्रीति करने वाला काम।'

'सृष्ट' शब्द का एक अर्थ होता है उद्युक्त। कालिदास ने ही इसी अर्थ में सृष्ट शब्द का प्रयोग रघुवंश में किया है —

अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय सृष्टः।
पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की सन्धाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे।। रघु० ६.६२।।

प्रस्तुत प्रसंग में देवताओं की प्रार्थना का संकेत यह है कि 'भगवन् आप ही उद्युक्त हो जाएँ तारक के वध के लिए, क्योंकि आपकी ही शक्ति से वह इतना बड़ा बना है'। इसी का उत्तर था— 'विषवृक्षोऽपि स्वयं संवर्ध्य स्वयमेवच्छेत्तुं नोचितम्'। 'इच्छाम विभो सृष्टं' इस प्रकार लोट् का प्रयोग तारकशान्ति के लिए किए जाने वाले प्रयत्न में ब्रह्मदेव को भी समेट लेता है जबकि उनकी अधिकारसीमा सृष्टि तक सीमित थी। 'स्रष्टुं' के स्थान पर अनेक पाण्डुप्रतियों में 'सृष्टं' भी लिखा मिलता है। कुंमारसंभव के अष्टम सर्ग का निर्णयसागर से मुद्रित पाठ पदे पदे अन्यथा छपा था। उसे संशोधित करना अर्थसंगति पर निर्भर था।

मेघदूत में **'आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यःपातप्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि'** (पद्य १०) के 'सद्यःपाति प्रणयि' पाठ का कोई औचित्य नहीं था। 'सद्यःपातप्रणयि' का अर्थ था 'वियोग में अङ्गनाओं का हृदय टूट जाने की इच्छा करता रहता है।' यह अर्थ स्वाभाविक भी है और इसमें अर्थान्तरन्यास भी ठीक बैठता है। कवि ने ऐसे अन्य प्रयोग भी किए हैं, यथा यहीं **'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे'** (३), शाकुन्तल में

'अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्त:' (७.१७)। यह परिवर्त्तन प्रणय शब्द के 'प्रेमपूर्वक याचना' अर्थ के विस्मृत होने का परिणाम था। **'कामार्त्ता हि प्रणयकृपणा:'** (मेघ० ५) के स्थान पर **'कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणा:'** पाठ भी प्रणयशब्द के प्रार्थनारूपी अर्थ की ओर ध्यान न जाने का फल था। सिंह से दिलीप कहते हैं 'आप से मेरी पाँच सात बातें हो गईं, अब मैं आपका संबन्धी बन गया, जिसकी प्रार्थना तोड़ी नहीं जाती, अत: मेरा 'प्रणय' भी टूटना नहीं चाहिए'—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्त: स नौ संगतयोर्वनान्ते।
तद् भूतनाथानुग! नार्हसि त्वं संबन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम्।। रघु० २.५८।।

विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अङ्क में 'प्रणय'—शब्द के ऐसे अनेक प्रयोग हैं। यथा 'इदानीं भ्रमरे प्रणयं करोमि'= 'चलूँ कुछ नहीं तो भौंरे से ही प्रिया की बात पूछूँ'[१]।

कवि की पदावली की पँहचान का अनुरोध आचार्य आनन्दवर्धन भी करते हैं।

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नत: प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे:।। ध्व० १.८।।

आनन्दवर्धन ने भले ही ध्वनिरूपी प्रतीयमान अर्थ के लिए यह अनुरोध किया हो, परन्तु यह अन्य भाषिक सन्दर्भों की पॅहचान के लिए भी अध्येता को सचेत करता है।

स्वयंवर में असफल राजाओं की 'सेना ने अज पर धावा बोला और उसने उसका सामना किया' यह घटना 'प्रत्यग्रहीत् पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्ग:' (रघु० ७.३६) इस प्रकार की उपमा—योजना से समर्थन नहीं पाती, क्योंकि इस उपमा में 'भागीरथी की ओर से आक्रमण न होकर उसमें पटना के पास मिलने वाले 'शोणभद्र' की ओर से बनता है, और सामना भागीरथी करती है।' दूसरा पाठ है 'ज्योतीरथीं शोण इवोत्तरङ्ग:' 'ज्योतीरथा' भी पाठ है। यह वह नदी है जो अमरकण्टक के पास से निकलती और शोणभद्र में गिरती है। इसको इन दिनों 'जोहिला' कहा जा रहा है। 'रथी' यह उत्तरपद दोनों 'भागीरथी' और 'ज्योतीरथी' में समान था, साथ ही ज्योतीरथी का परिचय नहीं था, जबकि भगवती भागीरथी प्रसिद्ध थीं और शोणभद्र उनमें मिलता ही है। अत: 'भागीरथीं' पाठ मान लिया गया। अभियोज्य कौन और अभियोक्ता कौन इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया गया[२]। जहाँ तक ज्योतीरथी की प्रसिद्धि का संबन्ध है यह भी महाभारत में प्रसिद्ध नदी है[१]।

ये सभी उलटफेर हस्तलिखित ग्रन्थों की प्राचीन लिपियों की ठीक ठीक

१. द्रष्टव्य हमारा लेख 'कालिदाससाहित्ये प्रणयशब्दार्थ:' विक्रम, उज्जैन, सागरिका, तथा हमारी लेखमाला 'कालिदासभारती' में प्रकाशित।

२. द्रष्टव्य हमारी रघुवंश ७.३६ पद्य पर कालिदासग्रन्थावली—२ में टिप्पणी।

पँहचान न होने से हुए हैं। हमने मेघदूत के 'तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतु/केत–काधानहेतोः (पद्य३) पद्य में केतक और कौतुक की ब्राह्मीलिपि के रेखाविन्यास के उदाहरण से स्पष्ट किया है कि कैसे जैनलिपिकारों को कौतुक के स्थान पर 'केतक' पाठ का भ्रम हुआ, जिसे साहित्यअकादमी से छपे मेघदूत में भी अपना लिया गया है[२]।

निष्कर्षतः कालिदास साहित्य के वास्तविक मूल तक पहुँचना आवश्यक हो तो पाठक को कम से कम ब्राह्मी, शारदा और नागरी लिपियों का अभ्यास कर लेना चाहिए।

हस्तलिखित ग्रन्थों को मूल प्रति की शताब्दियों तक होती गई प्रतिलिपियों के रूप में देखना चाहिए। ऐसी हस्तलिखित प्रतिलिपि आज भी बनाई जा सकती हैं। हमने स्वयं कालिदास की सभी कृतियों का मूल अपने हाथ से लिख रखा है। कालिदास के ग्रन्थों की टीकाओं की भी यही स्थिति है। उनका भी समीक्षापूर्ण संपादन अपेक्षित है। एक अकेले मल्लिनाथ की टीकाओं के ही हस्तलेखों की संख्या लगभग एक हजार होगी। छपे संस्करणों में भी एकरूपता नहीं है इन टीकाओं में। मुम्बई से ही (१) निर्णयसागर प्रेस (२) वेङ्कटेश्वर प्रेस, (३) गुजराती प्रिण्टिङ्ग प्रेस और (४) बाम्बे संस्कृतसीरीज इन चार संस्थानों से एक ही रघुवंश–सञ्जीविनी का जो पाठ छपा है उसमें अन्तर है। वस्तुतः आज हम किसी स्थापना को इन टीकाकारों की स्थापना स्वीकार करने की स्थिति में नहीं हैं। दुःख है कि इस दुष्कर कार्य की शासनों, संस्कृतविभागों और अकादमिओं द्वारा उपेक्षा ही की जा रही है। जो अकादमी उज्जैन में कालिदास के नाम पर बनी है उसमें भी नाट्य–प्रयोग प्रधान बन गए हैं, वे भी किसी प्रामाणिक संस्करण के आधार पर नहीं, अपितु सुलभ संस्करणों के ही आधार पर। साथ ही मूल के संक्षेपीकरण के आधार पर, न कि, समग्रपाठ को अपनाकर। किसी भी नाट्यप्रयोग के लिए एक दिन में तीन घण्टों की अवधि पर्याप्त नहीं हो सकती। समग्र प्रयोग की पूर्त्ति में अनेक दिनव्यापी उपक्रम आवश्यक होगा और उसके लिए प्रेक्षक भी सीमित संख्या में रहेंगे। भीड़ उसका आस्वाद नहीं ले सकेगी। स्मरणीय है कि नाटक में जो अंक–नामक अनुच्छेद होते हैं उनके लिए एक दिन की ही घटना अधिकृत होती है 'एकाहाचरितमङ्कः'। जिस नाटक में एक से अधिक जितने भी अङ्क होंगे उसके समग्र प्रयोग के लिए उतने ही दिनों की अवधि आवश्यक होगी। इस नीति से 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का समग्र प्रयोग कम से कम सात दिनों की अवधि में पूरा हो सकेगा। किन्तु किसी भी अकादमी या संस्थान में इसका प्रावधान नहीं है।

---

१. द्रष्टव्य कालिदासकालीन भूगोल : डॉ० कैलाशनाथ।

२. द्रष्टव्य कालिदासग्रन्थावली की भूमिका।

संक्षेप करने के बाद जो प्रति तैयार होती है वह मूल संपादन में ग्राह्य नहीं होगी, क्योंकि इस प्रकार की प्रतियों की संख्या प्रभूत होगी और पाठ भी अनेकानेक प्रकार के होंगे।

नाट्यप्रयोग में कुछ अंग अपरिहार्य और आवश्यक होते हैं इसके विपरीत कुछ अप्रधान और केवल सहायक होते हैं। संप्रति अप्रधान विधानों की ही भरमार हो रही हैं प्राचीन नाटकों की उपस्थापना में भी। उदाहरणार्थ कुतपसंनिवेश और पटी को ही लीजिए। नाट्यशास्त्र के अनुसार कुतपसन्निवेश मुख्य प्रयोग में दृश्य नहीं होगा, वह दृश्य होगा केवल पूर्वरङ्ग के प्रयोग में, किन्तु कुछ प्रयोगों में उसे नान्दी से भरतवाक्य तक मञ्च पर ही दृश्यरूप में रखा गया। पटी का सीधा अर्थ सामने का पर्दा होता है, किन्तु उसे दो पात्रों के हाथ में रखकर 'पात्रों' की दृश्यता और अदृश्यता में सहायक बनाया जाता है। ये पात्र नाट्य के पात्र नहीं होते, अत: इनका रंगपीठ पर दृश्य होना रसानुभूति में बाधक बनता है।

भारतीय अधिकार पुरुष संप्रति आदर के लिए आकर्षण को कसौटी मान रहे हैं। आकर्षण दृश्य कलाओं में ही अधिक संभव है, अत: अगणित धनराशि उन्हें उपलब्ध होती हैं। साहित्य और श्रव्य साहित्य इससे वञ्चित रहते हैं। यह है युगविपर्यय। इस समय उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण व्यक्तिगत साधना के विना संभव नहीं हो पा रहा है। निर्मित साहित्य प्रचार में नहीं आ पा रहा है, क्योंकि प्रेसों और विक्रेताओं का साम्राज्य इस समय लेखन को पुन: पाण्डुग्रन्थ युग की ओर ढकेल रहा है। जो साहित्यकार इसका सामना नहीं कर पाता वह उपेक्षित पड़ा रहता है।

कालिदास–साहित्य से संबन्धित पुष्कल सामग्री ग्रन्थागारों में बँधी पड़ी है। उसकी छानबीन से खण्डित टीकाओं की पूर्त्ति संभव है और स्वयं कालिदास के अनेक अनुद्घाटित पक्ष प्रकाश में आने की संभावना है। जिस विक्रमादित्य से कालिदास को केवल अनुश्रुति के आधार पर जोड़ा जा रहा है उसकी भी वास्तविकता प्रकाश में आ सकती है। नाट्यप्रयोग भी प्रयोक्ता के दृष्टिकोण में विनय और उदारता की अपेक्षा रखता है। उज्जैन में शाकुन्तल का प्रयोग चल रहा था। प्रयोग के निदेशक थे कारन्त। वे स्वयं वाद्य बजा रहे थे, किन्तु सुनाई नहीं पड़ रहा था। उनके पास वयोवृद्ध विद्वान् पं० सुन्दरलाल जी त्रिपाठी को भेजकर सुधार कर लेने का अनुरोध किया गया। परन्तु उन्होंने तनिक ध्यान नहीं दिया। इसी प्रकार की अनेक उलझनें आती देखी गई हैं संस्कृतनाट्यप्रयोग में। हमें यह लिखते हुए क्लेश हो रहा है कि संस्कृत का नाट्यप्रयोग आज भी अनाथ है। यही स्थिति है नाट्यशास्त्र की। उसका ढिंढोरा पीटने वाले कुछ सज्जन नाट्यशास्त्र के मनमाने अर्थ कर रहे हैं। छापने वाले उन्हें छाप भी रहे हैं। हम कब जागेंगे, पता नहीं। नाट्यप्रयोग पर यदि संगीत का बोझ न लदे तो उसका सही

स्वरूप प्रयोग करने में कठिन नहीं। यह विधि प्रयोग की शुद्धविधि कहलाती है। इसमें नाट्य केवल वाचिक अभिनय के द्वारा प्रस्तुत किए जा सकते हैं ध्वनिरूपकों के समान। चित्रविधि में अन्य दो अभिनयों आङ्गिक और आहार्य का भी समावेश रहेगा और रङ्गपीठ का भी। नृत्यगीतमिश्रित होने से इस विधा को शुद्ध से भिन्न 'चित्र' शब्द से परिभाषित किया जाता है। आहार्य का अर्थ है वेषभूषा, किन्तु संप्रति इसके अन्तर्गत रङ्गपीठ की सज्जा भी ले ली गई है और पक्षी, हिरण, छोटे बालक भी पीठ पर नाना रंगों के परिधानों में घूमते दिखलाए जाते हैं। रंगपीठ पर इस प्रकार की सामग्री में जो प्रयोग होते हैं वे व्ययसाध्य भी होते हैं और श्रमसाध्य भी। शुद्ध विधि में इस परिकर की कोई आवश्यकता नहीं। केवल वाचिक के साथ स्वरभङ्गात्मक सात्त्विक भाव और जोड़ा जा सकता है। इस विधा में संस्कृत के नाटकों के सभी अंक एक दिन में भी अविकलरूप से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। बड़े नाटकों का मूलपाठ एकाधिक दिन में प्रस्तुत किया जा सकता है रामलीला या रासलीला के समान। ऐसे ही अन्य प्रकार भी सोचे जा सकते हैं। स्वयं रङ्गपीठ भी ब्राह्मविधि का अपनाया जा सकता है, जिसके लिए शाला की आवश्यकता नहीं होती, केवल आकाशब्रह्म ही उसके लिए पर्याप्त माना गया है। ब्राह्मपीठ का निरूपण नाट्यानुशासन में इस प्रकार किया गया है –

ब्राह्मं तु वेदिकामात्रमाकाशब्रह्मणि स्थितम्।
भित्ति–स्तम्भ–द्वार–शीर्ष–मण्डपादि–विवर्जितम्।। ३।।

'ब्राह्मपीठ का स्वरूप है केवल वेदिका जिसके ऊपर रहता है आकाशब्रह्म और जिसमें न आवश्यक होती भित्ति, न स्तम्भ, न द्वार, न रङ्गशीर्ष और न मण्डप आदि।'

यह मंच स्वयम्भू है। इसे जहाँ आवश्यक हो वहाँ बनाया जा सकता है। इसी की दूसरी संज्ञा है 'जनमञ्च'। ([1]नाट्यानुशासन, कारिका ३–१२)। इसके निर्माण में द्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती–

अस्य नार्थेन संबन्धः काणीमपि वराटिकाम्।
इदं नापेक्षते, किन्तु व्याप्नोति भुवनत्रयीम्।। १.१२।।

सूच्य वस्तु : कालिदास के तीनों नाटकों में दृश्य से सूच्य वस्तु का पार्थक्य कठिन कार्य है। तीनों नाटकों में सूच्य अंश निम्नलिखित हैं–

मालविकाग्निमित्र में – १. प्रस्तावना के बाद और प्रथम अंक के पहले।
२. तृतीय अंक के आरम्भ के पहले।
३. पञ्चम अंक के आरम्भ के पहले।

---

१. नाट्यानुशासन, प्रकाशक कालिदाससंस्थान, २८ महामनापुरी, वाराणसी–५, १९९६

विक्रमोर्वशीय में — ४. द्वितीय अंक के आरम्भ के पहले।
५. तृतीय अंक के आरम्भ के पहले।
६. तृतीय अंक के आरम्भ के पहले और सूच्य के बाद (पृष्ठ ४७१)।
७. चतुर्थ अंक के आरम्भ के पहले।
८. पञ्चम अंक के आरम्भ से पहले।

शाकुन्तल में — ९. द्वितीय अंक के आरम्भ से पहले।
१०. तृतीय अंक के आरम्भ से पहले।
११. चतुर्थ अंक के आरम्भ से पहले।
१२. चतुर्थ अंक के प्रथमविष्कम्भ के बाद (पृष्ठ ५८०)।
१३. षष्ठ अंक के आरम्भ के पहले।
१४. सप्तम अंक के आरम्भ के पहले केवल कश्मीरी पाठ में।

इनमें से १४ वाँ केवल कश्मीरी पाठ में मिलता है। शेष में ५ तथा ६, एवं ११ तथा १२ लगे हुए हैं। अहमदाबाद की प्रति में शाकुन्तल के ११–१२ के बीच शीर्षक है 'द्वितीय: प्रवेशक:' यह हमारी कालिदासग्रन्थावली (१९८६) में दिए चित्र (अन्तिम) की नीचे से पाँचवी पंक्ति में स्पष्ट है। इस स्थल से यह तथ्य भी प्रकाश में आया कि प्रवेशक एक साथ एक से अधिक भी रखे जा सकते हैं। भास के नाटकों में कहीं दृश्य अंश में ही सूच्य अंश लिखित है। बीच में कोई विभाजक शीर्षक नहीं मिलता। वहाँ अपनी ओर से विभाजन करना पड़ता है।

'प्रवेशक' प्रथम अंक के बाद ही रखा जाना चाहिए, किन्तु प्रथम प्रवेशक प्रथम अंक के पहले ही दिया गया है। इसका समाधान कदाचित् यह है कि प्रथम प्रवेशक प्रवेशक नहीं, अपितु मिश्रविष्कम्भक है, अत: प्रवेशक की वर्जना का नियम उसपर लागू नहीं होता। स्मरणीय है प्रवेशक में भाषा केवल प्राकृत रहती है, विष्कम्भक में केवल संस्कृत और मिश्रविष्कम्भक में संस्कृत तथा प्राकृत दोनों। नाट्यशास्त्र में केवल प्रवेशक परिभाषा मिलती है, विष्कम्भ और मिश्रविष्कम्भ की व्यवस्था कदाचित् लक्ष्यानुसारिणी व्यवस्था है, जो दशरूपक से आरम्भ होती है।

क्रान्ति

संस्कृत की वर्त्तमान नाट्यकृतियों में केवल संस्कृत का ही प्रयोग है, प्राकृत का नहीं । हमारी दोनों नाट्यकृतियाँ ऐसी ही हैं। 'यूथिका' चार अंक की नाटिका है और 'सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम्' दश अंकों का विशाल नाटक, किन्तु दोनों में केवल संस्कृत का ही उपयोग है, प्राकृत का नहीं। कारण स्पष्ट है। यह कि प्राकृत अब जनभाषा नहीं है। अत: उसे रखना केवल परम्परा का वहन होगा। कालिदास के नाटकों में भी

बोलचाल की प्राकृत नहीं, अपितु संस्कृत के प्राकृतीकरण से निष्पन्न प्राकृत है। इसके विरुद्ध राजशेखर की प्राकृत अधिक स्वाभाविक है जो दशम शतक के आरम्भ में हुए है।

नाटकों में नान्दी

संस्कृत के सभी नाटक नान्दी से आरम्भ होते हैं, किन्तु 'नान्दी' शब्द का अर्थ हम कुछ का कुछ कर रहे हैं। 'नान्दी' का सीधा अर्थ है 'नगाड़ा' या पुष्करवाद्य। नाटक के आरम्भ में नगाड़ा गड़गड़ाता था और प्रेक्षक सावधान हो जाते थे। नाटक ही नहीं किसी भी दृश्य–प्रयोग में भले ही वह नृत्य हो, नगाड़ा बजाया जाता था। दशम शती के दशरूपक के प्रथम मंगल पद्य में गणेश की स्तुति में यही कहा गया है कि–'जब भगवान् शिव ताण्डव करते हैं तब उसके साथ नगाड़े की संगत गणेशजी की कण्ठध्वनि से होती है'–

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते।
मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे।।

स्वयं कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् में मालविका के छलिक नृत्यप्रयोग के आरम्भ होने की सूचना पुष्करध्वनि से मिलती है। प्रथम अंक के अन्त में कहा जाता है कि–'दोनों नाट्याचार्य संगीतशाला में संगीतरचना कर सूचना भेज देगें, अथवा मृदङ्गशब्द सुनते ही हम चल पड़ेगें'–

विदूषकः **तेण दूवे वि वग्गा पेक्खाघरे संगीदरअणं करिअ अत्तभवदो दूदं पेसअह। अहवा मुदंगसद्दो एव्व णो उत्थावइस्सदि।'**

तेन द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा अत्रभवते
दूतं प्रेषयतम्। अथवा मृदङ्गशब्द एव न उत्थापयिष्यति।

(माल० १.१९.११ पृ० ३४४)

आगे मृदङ्ग की ध्वनि सुनाई देती है–**नेपथ्ये मृदङ्गशब्दः** (माल० १.२०.१)

सर्वे कर्णं ददति (माल० १.२०.२)

परिव्राजिका–**हन्त प्रवृत्तं संगीतकम्। तथा ह्येषा–**

जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्लादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि।।

(माल० १.२१)

पुष्कर वाद्य के लिए 'नान्दी'–शब्द का प्रयोग भवभूति ने भी किया है।

उत्तररामचरित में **'असंहृतनान्दीको रामस्य राज्याभिषेकः'**[1] —वाक्य प्रसिद्ध ही है, मुद्राराक्षस में भी **'अयं नान्दीनादः पटुपटहशङ्खध्वनिमहान्'**[2] इस प्रकार 'नान्दी' शब्द का प्रयोग नगाड़े के लिए आया है। नाटक के प्रथम पद्य के पहले इसीलिए 'नान्द्यन्ते' पद का प्रयोग भास आदि में मिलता है। प्रथम पद्य के बाद भी 'नान्द्यन्ते' प्रयोग मिलता है वहाँ भी 'नान्दी'—विधान का आरम्भ पुष्करवाद्यध्वनि से माना जाएगा और पर्यवसान श्लोकपाठ से। हमारे दोनों नाटकों में हमने तीन तीन नान्दियों को स्थान[3] दिया है (१) पुष्करवाद्यनान्दी (२) मङ्गलश्लोकनान्दी तथा (३) वस्तूपस्थापननान्दी। इनमें से प्रथम नान्दी 'अन्तर्जवनिकासंस्थ' होगी यानी पर्दे के पीछे से। शेष दो होंगी 'बहिर्जवनिकासंस्थ' यानी रङ्गपीठ पर दृश्य।

कथावस्तु नए प्रतिमानों पर

दशरूपक में नाटक की कथावस्तु का विभाजन दो भागों में किया है (१) आधिकारिक और (२) प्रासङ्गिक। आधिकारिक की निरुक्ति देते हुए कहा अधिकार यानी फलस्वामित्व, उसे निष्पन्न करने वाला आधिकारिक। इसी प्रकार प्रासङ्गिक का अर्थ दिया 'जिसका अपना फल अन्य (प्रधान) के फल पर निर्भर हो —

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वर्त्यमभिव्यापि वस्तु स्यादाधिकारिकम्॥ १.१९॥
प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थ यस्य प्रसङ्गतः॥ १.२०॥

इन दोनों के लिए धनिक ने रामायण से उदाहरण दिए और रामवृत्तान्त को आधिकारिक कहते हुए सुग्रीववृत्तान्त को प्रासंगिक कहा। किन्तु ऐसे भी नाट्यप्रबन्ध हैं जिनमें सुग्रीव जैसी आनुषङ्गिक कथा नहीं रहती, यथा प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल में। ऐसी स्थिति में सन्धि के सभी अंग शाकुन्तल में सुलभ नहीं होगें, क्योंकि इसमें प्रासङ्गिक कथावस्तु का अभाव है, अतः 'पताका' और 'प्रकरी' छूट जाते हैं। पताकावृत्त के लिए जिस प्रकार रामायण में सुग्रीववृत्तान्त लक्षित किया गया, उसी प्रकार प्रकरीवृत्त के लिए शबरीवृत्तान्त को।

---

१. उत्तररामचरित, प्रस्तावना

२. मुद्राराक्षस ६.१४

३. द्र० यूथिका तथा सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम् की प्रस्तावनाएँ

अर्थप्रकृति (फलावस्था)		**अवस्था** (यत्नावस्था)		**सन्धि** (काव्यावस्था)
बीज	+	आरम्भ	=	मुख
बिन्दु	+	यत्न	=	प्रतिमुख
पताका	+	प्राप्त्याशा	=	गर्भ
प्रकरी	+	नियताप्ति	=	प्राप्त्याशा
कार्य	+	फलागम	=	प्राप्तिसंभव

इसीलिए दशरूपककार ने स्पष्ट कहा 'पताका' कहीं कहीं छोड़ी भी जा सकती है—'पताका स्यान्न वा क्वचित्'। किन्तु उनकी यह धारणा मूल दृष्टान्त के विपरीत है। मूल दृष्टान्त है बीजवृक्ष का, जैसा कि अर्थप्रकृतियों से स्पष्ट है। बीज, अंकुर, काण्ड, प्रकाण्ड (छोटी छोटी शाखाएँ, पत्ते, पुष्प) और कार्य (फल) में कोई भी त्याज्य नहीं, सभी अनिवार्य हैं। वस्तुत: यहाँ दृष्टान्त 'नदीनद्यन्तर' का होना चाहिए था। कभी कभी एक नदी में दूसरी नदी आ मिलती है, जैसे गङ्गा में यमुना और शोणभद्र। किन्तु मिलने वाली नदियों की उत्पत्ति और प्रवाह अलग अलग होते हैं। मिलने के पहले तक का उनका वितान अपने आप में पूर्ण होता है, अत: उनमें उत्पत्ति से परिणति तक की पाँचों स्थितियाँ विद्यमान मिलती हैं। उनमें भी वैकल्पिकता किसी भी अंग में नहीं रहती। इस प्रकार अनेक कथाओं से मिलकर बनी रामायण जैसी किसी कथा के लिए नदीनद्यन्तर का दृष्टान्त उपयुक्त होगा। बीजांकुर दृष्टान्त उपयुक्त ठहरेगा उस कथा में जिसमें अन्य कथा न मिलती हो, जैसे शाकुन्तल की कथा। इसमें भी पताका प्रकरी को अनिवार्य ही माना जाएगा। उनकी पँहचान नए सिरे से करनी होगी। तदनुसार नायिका और प्रतिनायक का वृत्तान्त पताका में गिना जाएगा, तथा चेट चेटी आदि के 'प्रकर' (समुदाय) के क्रियाकलापों को प्रकरी में। ऐसा संकेत भोजराज के शृङ्गारप्रकाश से प्राप्त होता है। उन्होंने 'पुष्पप्रकर' शब्द का प्रयोग किया है। इन उद्भावनाओं को हमने अपने 'नाट्यानुशासन' में इस प्रकार प्रस्तुत कर दिया है —

नदी—नद्यन्तरन्यायान्मुख्यामुख्यभिदा तु या।
कथा—कथान्तरद्वन्द्वस्तया कामं निरूप्यताम्।।
यस्मिन् कथान्तरं नास्ति काव्ये तस्मिंस्तु केवल:।
बीजांकुरफलन्याय एव मान्यो मनीषिभि:।।

—नाट्यानुशासन २.२९, ३२—३९

पताका प्रकरी स्यातां न वेति यदुदीर्यते।
तत्तु तत्त्वमनालोच्य स्थाणो: प्रेप्सा फलस्य सा।।

प्रासङ्गिकं विना कुत्र मुख्यं वस्तु प्रसिद्ध्यति।
विना सूदं विना हस्तौ हन्त पाकः क्व दृश्यते।।

— नाट्यानुशासन २.५२—५३

यह संयोग ही है कि महाकवि कालिदास की तीनों नाट्यकृतियों में आधिकारिक वृत्त ही है, प्रासङ्गिक नहीं। दशरूपक से कालिदास की नाट्यकृतियों में पताका तथा प्रकरी का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। नायिकावृत्त को पताकावृत्त तथा चेटचेट्यादिवृत्त को प्रकरीवृत्त मान लेने पर कालिदास के नाटकों में भी अर्थप्रकृति के पाँचों अंग स्थापित हो जाते हैं। चेटचेट्यादि तो उपलक्षण हैं, शाकुन्तल में स्वयं शकुन्तला, महर्षि कण्व और महर्षि मारीचि आदि भी पताका या प्रकरी के अन्तर्गत माने जा सकेंगे, अन्यथा इन सब विशिष्ट पात्रों का संग्रह नाट्यपात्रों में नहीं हो सकेगा। शाकुन्तल की कथावस्तु में दुर्वासा का स्थान क्या विस्मरणीय है, या प्रियंवदा और गौतमी का । दशरूपक की व्यवस्था में इन्हें कौन सा स्थान दिया जा सकेगा? रामकथा में रावण प्रतिनायक हो सकता है, किन्तु उसे अवस्था तथा अर्थप्रकृति में तो पताका का ही स्थान दिया जा सकेगा। केवल सुग्रीव को ही पताकानायक मानना तर्कसंगत नहीं होगा। यह व्यवस्था केवल कालिदास के नाटकों पर नहीं, अपितु सम्पूर्ण नाट्यसाहित्य, भले ही वह किसी भी भाषा का हो, पर लागू होती है।

नायकत्व

नाट्यकला, काव्यकला और चित्रकला में जो रस तक ले जाता है वही कहलाता है नायकत्व से युक्त अर्थात् नायक भी और नायिका भी। वही कहलाता है विभाव, किन्तु उसके साथ जुड़ा रहता है उसका परिवेष भी, जिसमें समावेश रहता है स्थान और समय का भी यानी देश और काल का भी। फलतः परिस्थिति विशेष का पात्र बन पाता है नायक। अर्थ यह कि उसमें जो विभावत्व है उसका एक नियामक उसका पर्यावरण भी होगा। रामायण में राम यदि नायक हैं तो उनका 'अयन' अर्थात् मार्ग भी, उनकी पृष्ठभूमि भी उसमें सहायक है। अभिप्राय यह कि अयोध्या से लंका तक का भूभाग भी अपने पर्वत, नदी, नद, समुद्र, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति, ऋतुचक्र के साथ राम के साथ जुड़े हैं। उनके साथ जुड़े हैं उनके संस्कार और उनकी प्रवृत्तियाँ भी, जिनसे वे महामानव ठहरते हैं। विषम घटी में अविचलित रहकर वे विवेक से काम लेते और भोग के साथ त्याग का भी ध्यान रखते हैं। उनकी यह घोषणा नहीं कि 'रत्न के भोग का अधिकार केवल हमको है और जो वस्तु रत्न है उसका भोग उन्हें करना ही है' ('रत्नभुजो वयम्'—सप्तशती) स्पष्ट ही इस भोग में सीमा नहीं है और उनका भोग केवल भोग है, त्याग से रहित। स्पष्ट ही उनके जीवन में ईशोपनिषद् की यह

देशना निरर्थक है– 'त्यक्तेन भुञ्जीथा:'। इस समग्रतापूर्ण भावभूमिका में अर्थात् अपने 'अयन' के साथ बनते हैं राम रामायण के नायक। नाट्यानुशासन में इस अभिप्राय को इस प्रकार रेखाङ्कित किया गया –

चित्रे शिवस्य नागोऽपि शिव एव, विषी न स:।
पीयूषमात्रं सूते स रसरूपं शिवं परम्।। ५.२०।।

शिव के चित्र का नाग भी शिव ही है, विषी या विषधर नहीं है वह, क्योंकि वह उगलता है केवल रस जो केवल शिव है।।

यही अभिप्राय चमत्कारचन्द्रिका में कविचन्द्र ने भी इस प्रकार व्यक्त किया था –

शिवो रस इति प्रोक्त: सत्यं भावकसत्तमै:।
न चेल्लोकोपकाराय कथमस्याष्टमूर्त्तिता।।

शिव ने भी कुमारसंभव में सप्तर्षिमण्डल के समक्ष यही कहा था–

विदितं वो यथा स्वार्था न मे काश्चित् प्रवृत्तय:।
ननु मूर्त्तिभिरष्टाभिरित्थम्भूतोऽस्मि सूचित:।।

'यह आप सब जानते ही हैं कि मेरी कोई भी प्रवृत्ति अपने लिए नहीं हुआ करती। मेरी आठों मूर्त्तियाँ ऐसी ही हैं (पञ्चभूत+सूर्य+चन्द्र+यजमान हैं शिव की आठ मूर्त्तियाँ जो सबकी सब परोपकार–के लिए हैं)'। (कुमारसंभव ६.२६)

अष्टमूर्त्ति यानी चराचरात्मक विश्व। अर्थात् समग्र विश्व जिसमें कुछ छूटता नहीं। कला में इसे प्रतिभा प्रस्तुत करती है, वही इसमें उपादान बनती और वही निमित्त, और प्रतिभा से प्रसूत विश्व प्रतिभा से बाहर नहीं आता, वह वहीं बना रहता है, अत: वह विश्व 'प्रातिभ' है। दर्शन में उसे विकल्पात्मक या विवर्त्त भी कहा जा सकता है। भर्त्तृहरि ने कहा ही है –

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:।। (वाक्यपदीय १.१.१)

'ब्रह्म ही है शब्दतत्त्व। वह अक्षर है। वही बन जाता है अर्थ। इस शब्द और उससे विवर्त्तित अर्थ से ही चलती है जगत् की प्रक्रिया।'

स्वातन्त्र्यसंभव के द्वितीय सर्ग का प्रथम पद्य देखिए–

वन्दामहे पद्मदलाभिरूपां पञ्चप्रशाखीं क–वि–नायकानाम्।
विवर्त्ततेऽर्थात्मतया स्वयं वै यामाश्रिता काचन सूक्तिदेवी।। २.१।।

क–(ब्रह्मरूप) विनायकों की पञ्चप्रशाखी पाँच अंगुलियों से युक्त हाथ को प्रणाम, जिसपर आरूढ सूक्तिदेवी ही बन जाया करती हैं अर्थ (काव्यार्थ)।।

रामायण के राम और उनका 'अयन' महर्षि वाल्मीकि की प्रतिभा है। ये सभी

वाल्मीकि की प्रतिभा से बाहर आते ही नहीं। कालिदास के रघु, सीता, राम उनकी प्रतिभा के परिणाम हैं। वे भी केवल प्रातिभ और अबाह्य हैं। इसका अर्थ यह नहीं है राम हुए ही नहीं। इसका मतलब केवल इतना है कि रामायण पढ़ने से जो रामरूपी अर्थ प्रतीत होता है वह प्रातिभ है। यह बिलकुल ठीक है, क्योंकि ये राम काव्यार्थ हैं। नाट्य में शब्दप्रमाण के साथ सीप में चाँदी के समान दृश्यता भी रहती है, किन्तु इन सबसे प्रेक्षक के चित्त में अवतीर्ण या प्रतिफलित प्रतिमा होती है राम की ही। यह है कला की सृष्टि। यही कला बन जाती है काली, जब इसका अन्तःकरण काल के विलास से तृप्त हो जाता है। उधर कला से सुभग काल ही बन जाता है काव्यार्थ—

कलया सुभगंभविष्णुरार्यः कवितार्थत्वमुपैति काल एव।
अथ कालविलासतर्पितान्तःकरणा सापि कलैव हन्त काली।।

—(ईक्षा, शतपत्र—भूमिका)

कला की सत्ता

उपर्युक्त प्रातिभत्व से स्पष्ट है कि 'कला'—र्थ प्रातिभ है, अतएव उसकी सत्ता प्रातिभासिक है, वे बाह्य नहीं, व्यावहारिक नहीं, यद्यपि पारमार्थिक भी नहीं। काव्यशास्त्री काव्य के शरीर के साथ गुण, अलंकार और रस आदि के सम्बन्ध का निर्धारण नहीं कर सके, क्योंकि उन्होंने काव्य के प्रातिभत्व का निर्णय नहीं लिया था। इस निर्णय के पश्चात् काव्यशरीर के साथ काव्यधर्मों का एक ही सम्बन्ध बन पाता है, वह है तादात्म्य। उदाहरण है प्रतिबिम्ब। घड़ी का हाथ से संयोग सम्बन्ध माना जाता है, क्योंकि वह हाथ में हाथ की उत्पत्ति के बाद लगती है और निकाली भी जाती है। किन्तु यह है व्यवहार का सत्य। जहाँ तक प्रतिबिम्ब का संबन्ध है, उसमें तो कलाई, व्यक्ति और घड़ी सभी एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं, अतः सभी में तादात्म्य है, न संयोग और न समवाय। न केवल काव्य ही, अपितु कलामात्र के अर्थ की यही स्थिति है। उन सबमें धर्मधर्मिभाव केवल कल्पित है। वहाँ तो धर्म और धर्मी दोनों एक हैं, एकपिण्डात्मक यह सृष्टि प्रतिबिम्बकला सी ही है। इस आधार पर अलंकारों को कटककुण्डलादि के समान कहना वैसे ही गलत है जैसे गुणों को शौर्य आदि के समान, जैसाकि ध्वनिसंप्रदाय में स्वीकार किया गया है। दूसरा दृष्टान्त हो सकता है स्वप्न का। स्वप्न के सभी पदार्थ वैवर्त्तिक होते हैं। उनका भौतिक अस्तित्व नहीं होता। उनका प्रत्यक्ष अन्तःकरण रूपी उपाधि से युक्त [१]चैतन्य से होता है। उपाधि अर्थात् अकिञ्चित्करत्व। स्वप्न आदि के प्रत्यक्ष में चैतन्य स्वयं कारण बनता है, अन्तःकरण उसमें निष्क्रिय रहा

---

१. इसे साक्षी चैतन्य कहा जाता है। द्र० वेदान्तपरिभाषा

आता है। स्वप्न निद्रा की पूर्वावस्था है। इस अवस्था में सभी पदार्थ केवल भावात्मक होते हैं। इस अवस्था में कोई भी पदार्थ न द्रव्यात्मक होता और न बाह्य। कला से उपस्थापित विश्व भी ऐसा ही हुआ करता है। उसकी अस्मिता केवल मानस हुआ करती है। चामुण्डा की मूर्त्ति में एक अद्‌भुत भयंकरता होती है। वह मन्दसौर में सुरक्षित चामुण्डामूर्त्तियों में स्पष्ट है। पेट की सभी अस्थियाँ उसमें स्पष्ट रूप में परिलक्षित हैं। किन्तु यह संपूर्ण विधान पहले एक मानस विधान है, प्रस्तर पर उत्कीर्णन पश्चाद्‌वर्त्ती कौशल है। काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के भारतकलाभवन में भगवान् कार्त्तिकेय की जो प्रतिमा सुरक्षित है उसकी मुखमुद्रा में जो प्रशान्ति है वह देखते ही बनती है। महाकवि कालिदास ने शेषशायी विष्णु का एक विस्तृत अंकन रघुवंश के दशम सर्ग में श्लोक ७ से १४ तक किया है[१] और एक वर्णन त्रयोदश सर्ग के छठे[२] श्लोक में। इस अभिप्राय का मूर्त्तिमय शिल्प देवगढ़ आदि की प्रतिमाओं में माना जा सकता है। देवगढ़ की शेषशायी–प्रतिमा का समय ४७५ ई० सन् आँका जा रहा है[३]। निश्चित ही कालिदास इसके पर्याप्त पहले हो चुके होंगे। मूर्त्ति और चित्र की भावभूमि वही होती है जो कविता की, क्योंकि कविता का आयाम अधिक व्यापक होता है, अत: उसी को उपजीव्य माना जाना चाहिए मूर्त्ति और चित्र का। कविता को चित्र और मूर्त्ति का उपजीवी मानना अनुभवविरुद्ध है[४]। बलिहारी है आधुनिकों की कि दूकानों में बिखरे चित्रों और संगमरमर पर उकेरी प्रतिकृतियों को देखकर ताजबीबी के मकबरे को बनाया गया मानने जैसी उलटवाँसी उन्हें प्रिय है। भीटा में जो मृत्फलक मिला है उसमें शाकुन्तल की वस्तुकल्पना भी ऐसी ही है। 'शकुन्तला के पत्र लेखन' और 'यक्ष द्वारा मेघ को पुष्पार्घ्य देने' के जो चित्र डाकतार विभाग ने जारी किए हैं उनके रचयिता का

---

१. भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकस:, तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम्।
श्रिय: पद्मनिषण्णाया: क्षौमान्तरितमेखले, अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे।।
प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम्, कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा।
बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितै:, आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवाऽपरम्।।
दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभि:, हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम्।
मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा, उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता।।
(रघुवंश १०.७, ८, १०–१३)

२. नाभिप्ररूढाम्बुरुहासेन संस्तूयमान: प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्र: संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते।। रघु० १३.६

३. द्रष्टव्य 'कालिदास की तिथि संशुद्धि' डॉ० रामचन्द्र तिवारी

४. इन दिनों इतिहासविद् उलटे कविता को उपजीवी और चित्र और मूर्त्ति को ही उपजीव्य मान रहे हैं।

नाम विदित न होता तो वे भी कालिदास की प्रतिभा के प्रेरणास्रोत मान लिए जाते। १९६८ में हमारा 'सीताचरितम्' जिसका नाम अब 'उत्तरसीताचरितम्' है छपा तो लोगों ने कहना शुरू किया कोई पुरानी कृति अपने नाम से छपवा ली गई है। इस प्रकार की कूटकल्पनाओं का भला उत्तर ही क्या? मध्यप्रदेश के प्रख्यात साहित्यकार पं० द्वारकाप्रसाद जी मिश्र के महाकाव्य कृष्णायन के विषय में भी ऐसा ही प्रवाद रायपुर, जो अब छत्तीगढ़राज्य की राजधानी है, के एक मकान पर लिखा देखा है हमने। उनकी 'अनूदिता' काव्यकृति बहुत बाद प्रकाश में आई। अश्वघोष से कालिदास ने अनेक भाव लिए और भामह से दण्डी ने इसी प्रकार के विपरीत विश्वास हैं। ऐसा ही एक उलटाव काव्यप्रकाश के टीकाकार प्रदीपकार में हुआ था जिन्होंने अलंकारसर्वस्व को काव्यप्रकाश का उपजीव्य मान लिया था। अब हेमचन्द्र के काव्यानुशासन को भी इसी प्रकार मम्मट के काव्यप्रकाश का उत्स मान लिया जाना चाहिए। और तो और काव्यप्रकाश के हिन्दी अनुवादक विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि ने जब भूमिका में काव्यप्रकाश के टीकाकारों का परिचय दिया तो लगभग एक शती पूर्व हुए झलकीकर वामन को २५० वर्ष पुराना बतला दिया। छायावाद के प्रवर्त्तक मुकुटधर पाण्डेय को डॉ० प्रेमशङ्कर ने और म०म० पं० गोपीनाथ जी कविराज को म०म० डॉ० मण्डन मिश्र ने तभी स्वर्गीय लिख दिया था जब वे जीवित थे। इस विपरीत इतिहास का उल्लेख भी करना क्लेशप्रद है। परन्तु है यही तथ्य। ऐसे विचारक कालिदास में अनुल्लिखित विक्रमादित्य से या उनकी उपाधि से युक्त चन्द्रगुप्त साहसांक से कालिदास को जोड़ने की असंगत कल्पनाएँ करें तो आश्चर्य ही क्या[१]। गीताप्रेस गोरखपुर ने भारतीय साहित्य की अभूतपूर्व और उल्लेखनीय सेवा की, परन्तु रामचरितमानस की भूमिका में उन्होंने काशी, काशी के संस्कृतज्ञ विद्वान् और स्वयं तुलसीदास जी की जो छवि प्रस्तुत की है वह देश की हिन्दी जनता का दुर्भाग्य तो है ही महान् विद्वान् मधुसूदन जी सरस्वती तथा स्वयं बाबा विश्वनाथ का अपमान है। इतना ही नहीं वेद, शास्त्र, पुराण आदि सभी मानक बिन्दुओं की गर्हणा है। किन्तु गोरखपुर में बैठे प्रकाशक उसी भूमिका की लाखों प्रतियाँ छापकर बेंच चुके हैं। भला अद्वैतसिद्धि और भक्तिरसायन

---

१. 'कालिदास की तिथि संशुद्धि' का प्रथम अध्याय 'विक्रमादित्यसंवत्' ही है। इसके निष्कर्ष हैं

i. संवत्प्रवर्त्तक सही विक्रमादित्य हुए नहीं, क्योंकि ६०० वर्षों तक उनका उल्लेख नहीं। मुझे मेरे वृद्धप्रपितामह का ज्ञान नहीं, अत: वे थे ही नहीं, यह भी होगा इन्हें मान्य।

ii. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही सही विक्रमादित्य, किन्तु कालिदास हुए उनके पुत्र कुमारगुप्त (I) के समय। इन दोनों पितापुत्रों सहित पूरे गुप्तवंश का कालिदाससाहित्य में उल्लेख नहीं।

जैसे ग्रन्थों के निर्माता सर्वशास्त्रज्ञ संन्यासी महात्मा मधुसूदन जी सरस्वती ऐसा श्लोक लिखते जिसके पूर्वार्ध के साथ संबन्ध के लिए उत्तरार्ध में कोई पद नहीं—

आनन्दकानने ह्यस्मिञ्जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी भाति रामभ्रमरभूषिता।।

इस अनुष्टप् की यही स्थिति है। इसमें तुलसी के पौधे को तरु कह दिया गया जैसे तुलसी आम नीम जैसा वृक्ष हो। आगे 'भाति' के स्थान पर 'यस्य' शब्द नहीं दिया गया, जो उतना ही आवश्यक था जितना भाति निरर्थक। तरु के स्थान पर 'क्षुप'—पद दिया जा सकता था। अमरकोष में ही यह पद छोटे पौधे के लिए सुलभ था— 'ह्रस्वशाखाशिफः क्षुपः' = जिसकी शाखाएँ छोटी हों और जड़ भी वह पौधा होगा क्षुप। किन्तु क्षुप का प्रयोग न कर तरु का ही प्रयोग किया तो उतना सह्य था, यस्य के स्थान पर भाति तो कथमपि सह्य नहीं, किन्तु गोरखपुर उसे बदलने को तैयार नहीं। 'दूकान जम जाए तो किसी की न सुनना' आत्मप्रवञ्चना है।



कालिदाससम्बन्धी कथाएँ एवं महाकवित्वविकास

कालिदास अपने जीवन के पूर्वार्ध में मूर्खता के लिए भी उतने ही प्रसिद्ध हैं जितने उसके उत्तरार्ध में महाकवित्व के लिए। कहा जाता है—

कथा : १ "कालिदास एक ब्राह्मण बालक थे। बाल्यकाल से ही अनाथ होने के कारण उन्हें किसी ग्वाले ने पाला था और वे उसके बच्चों के साथ अठारह वर्षों तक गाय चराते रहे तथा तब तक निरक्षर—भट्टाचार्य रहे—" (म०प० मिराशीकृत कालिदास पृष्ठ ७२)। २. कालिदास जिस शाखा के अग्रभाग पर बैठे थे उसी को जड़ से काट रहे थे। यह देख कर ३. कुछ विद्वानों ने उन का विवाह विद्योत्तमा या भारती नाम की एक विदुषी कन्या से करा दिया। ४. वह कन्या कालिदास पर प्रसन्न तब हुई जब वे काली की उपासना कर कालिदास नामक कवि बन गये।

कथाबीज

इन गल्पों से स्पष्ट है कि परम्परा कालिदास को आरम्भिक वय में बुद्धि और विद्या दोनों से हीन मानती है और मानती है कि उन्हें ज्ञान और प्रतिभा का लाभ किसी विशेष कारण से कालान्तर में हुआ। ध्यान देने की बात यह है कि उक्त गल्पों का सम्बन्ध केवल कालिदास से जोड़ा जाता है, संस्कृत के भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि अन्य कवियों से नहीं। अवश्य ही इन कल्पनाओं का कोई आधार स्वयं कालिदास के साहित्य में निहित है।

इस दिशा में विचार करने पर सबसे पहले हमारा ध्यान 'रघुवंश' के प्रारम्भ में ही प्रस्तुत नन्दिनी—गो—चारणाख्यान की ओर जाता है। द्वितीय सर्ग में "सम्राट् दिलीप के द्वारा पुत्रप्राप्ति के लिए गुरु वसिष्ठ की धेनु नन्दिनी की बीस दिनों तक सेवा करने तथा इक्कीसवें दिन नन्दिनी की सिंह से रक्षा करने के लिए सिंह के समक्ष अपना शरीर समर्पित कर देने—" की घटना मिलती है। दिलीप को पुत्र नहीं था अतः उन का स्थूल शरीर ही सूर्यवंश की शाखा का अग्रभाग था। दिलीप का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसी पर अधिष्ठित था, किन्तु वे नन्दिनी की रक्षा के लिए उसी शरीर को नष्ट करने हेतु उद्यत हो जाते हैं। आक्रान्ता सिंह इसे दिलीप की मूर्खता मानता और कहता है—"**विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्**" अर्थात् तुम मुझे विचारमूढ़ प्रतीत होते हो—(रघुवंश २/४७)।

यह देश इस मूर्खता का अभ्यासी चिरकाल से रहा है। आरुणि ने अपने शरीर को बाँध बना कर गुरु के खेत का बहता पानी रोका, उपमन्यु ने गुरुवचन के पालन में आँखें खो कर कुएँ में गिरना भी अनुचित नहीं माना, समर्थ गुरु रामदास के शिष्यों ने भी ऐसी परीक्षाएँ असकृत् दीं और 'जय हिन्द' से 'जय जगत्' की ओर बढ़ने वाला समाज आज भी ऐसा ही कुछ कर रहा है। हम इन घटनाओं को सम्मान देते आये हैं। आरुणि और उपमन्यु के उक्त आख्यानों को महामति व्यास ने महाभारत के आरम्भ में स्थान दिया और समर्थ गुरु रामदास आदि को भी हम सन्त का आदर देते आ रहे हैं।

तो, क्या यह मूर्खता मूर्खता ही है?

कथार्थ : अवश्य ही मूर्खता है, किन्तु दर्शन की उस भूमिका पर जिस का चैत्य भूतवाद और प्रेयोवाद के पिशाच से अधिष्ठित रहता है। दिलीप को विचारमूढ़ कहते हुए सिंह ने इस पिशाच का मुँह खोल दिया है। उस के शब्द हैं—"दिलीप तू सम्राट् है, नवीन युवक है और पूर्ण स्वस्थ भी है। क्षुद्र गाय के पीछे अपनी बलि दे कर तू अपने साथ न्याय नहीं कर रहा। समृद्ध राज्य और इन्द्रपद में केवल भूतलस्पर्शमात्र का अन्तर रहता है"—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं, नवं वयः, कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।। रघु० २.४७।।

तद् रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः।। रघु० २.५०।।

रामायण के रावण और कुमारसम्भव के कपटी ब्रह्मचारी के शब्दों में भी इसी पिशाच ने सीता और पार्वती से यही कहा था—"यौवन तो नदी की बाढ़ है। छोड़ो उस वनवासी राम और नंगे शिव को (सुन्दरकाण्ड, कुमारसंभव—५), किन्तु—

भारतीय प्रज्ञा को यह मूर्खता अतीव पुण्यश्लोक प्रतीत होती है। क्यों?

—क्योंकि उसने दर्शन को सिद्धान्त तक पहुँचाते हुए अद्वैत, कैवल्य, भूमाभाव और अमृतभूमिका का वरण किया है। नीति और व्यवहार में भी उसने स्वयं को इसी भूमिका पर प्रतिष्ठित रखा है। सीता और पार्वती को विदित है कि अमर्त्य, मर्त्य से अधिक सुन्दर है। आरुणि और उपमन्यु की भी उपास्य विद्या 'परा' विद्या है। दिलीप भी एकान्तविध्वंसी—(रघु० २.५७) मर्त्य शरीर की अपेक्षा धर्माश्रित यशःकाय की शाश्वतता में अधिक सश्रद्ध है। समर्थ रामदास और सर्वोदयी नेताओं का भी दर्शन यही है।

प्रश्न उठता है—"क्या इस दर्शन में भौतिक उपलब्धियाँ या लोकमंगल रक्षित है।" उत्तर है—"वह एकमात्र इसी में सुरक्षित है।" दिलीप का जीवन इसका प्रमाण है।

आक्रान्ता सिंह स्वयं नन्दिनी की माया थी। दिलीप के समर्पण से नन्दिनी प्रसन्न हुई जिससे उसे ऐसा पुत्र प्राप्त हुआ जिसमें सूर्यवंश की शाखा तो रक्षित रही ही, अनुरूप राष्ट्रपति के लाभ से भारतीयता भी अमृतसिक्त और चिरजीवित हो उठी। यह नन्दिनी क्या थी? और कुछ नहीं केवल अमृत–विद्या। महाभारत के उत्तंकाख्यान से यह स्पष्ट है। गुरुदक्षिणा देने के उद्देश्य से नागलोक जा रहे स्नातक उत्तंक को रास्ते में मिला एक वृषभारूढ पुरुष आज्ञा देता है–''इस वृषभ का पुरीष खा, तेरे गुरु ने भी इसे खाया है'' (आदिपर्व–३)। उत्तंक ने आज्ञा का पालन किया और कार्यसिद्धि के पश्चात् गुरु धौम्य से उसने जाना कि ''वह पुरुष देवराज इन्द्र थे, वृष उनका वाहन ऐरावत और पुरीष अमृत।'' विषधर नागों के लोक पाताल की यात्रा में उत्तंक को प्राप्त सफलता का मूल उसी अमृत का लाभ था। रघुवंश में भी जब दिलीप के अन्तिम अश्वमेध का अश्व, रक्षारत रघु के देखते–देखते ही अलक्षित हो जाता है, तब उसका दर्शन उसी समय उपस्थित नन्दिनी की गुमातर आँखों में आँजने से हो पाता है। कालिदास वहाँ नन्दिनी को वसिष्ठधेनु और रघु को दिलीपनन्दन तथा सत्पुरुषों में अग्रणी कहते हैं–

तदङ्गनिष्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम्।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः।। रघु० ३.४१ ।।

नन्दिनीविद्या की सिद्धि रघु की आनुवंशिक सिद्धि थी और उसकी इस उपलब्धि के समक्ष देवराज इन्द्र को झुकना पड़ा था (रघु० ३.६०–६३)। नागलोक की जीत के लिए देवराज इन्द्र का अमृत उत्तंक का सहायक हो सकता था, किन्तु, स्वर्गलोक की जीत के लिए उससे भी अधिक समृद्ध अमृत की आवश्यकता थी। कालिदास ने इसी अमृत–शक्ति को 'वसिष्ठधेनु' शब्द के व्याज से 'गुरुशक्ति' कहा। उत्तंक ने अमृत का उपयोग खाने में किया था, रघु ने आँखें धोने में किया। इसीलिए रघु को उसका रहस्य विदित था, उत्तंक को नहीं। उत्तंक वृषभारूढ़ पुरुष के विषय में गुरु धौम्य से जिज्ञासा करता है। रघु अपने पिता दिलीप से उस विषय में कुछ भी नहीं पूछता। उत्तंक गुरुदक्षिणा के लिए याचक के रूप में प्रस्तुत है, रघु दाता के रूप में। वह स्नातक कौत्स को उसके गुरु वरतन्तु द्वारा चाही गुरुदक्षिणा की सम्पूर्ण राशि उस समय देता है जब वह अपने कोष का एक–एक धातुकण विश्वजित् यज्ञ में समाप्त कर चुका रहता है। उसके संकल्पमात्र से उसके कोष में सुवर्ण बरस पड़ता है (रघु० सर्ग–५)। रघु ने नन्दिनीविद्या के लाभ के लिए एक गुरुदक्षिणा अपने पिता दिलीप को भी दी थी। उसने उन्हें स्वर्ग से मुक्ति की ओर अग्रसर किया था और इसीलिए उसने पिता के अन्तिम अश्वमेध का अश्व इन्द्र को हरा कर भी उससे वापस नहीं लिया (रघु०–३)। रघुवंश के अष्टम सर्ग में उसने स्वयं भी मुक्तिलाभ में ही अपने जीवन की चरितार्थना देखी। निश्चित ही रघु का अमृत उत्तंक के अमृत से अधिक स्पृहणीय है,

निश्चित ही कौत्स और उत्तंक जैसे ब्रह्मवेत्ताओं में रघु पुरस्कृत है अर्थात् वे उसे आगे कर के चलते हैं और निश्चित ही वह उनमें उसी प्रकार अग्रणी है जिस प्रकार ब्रह्मवेत्ताओं में विदेहराज जनक। स्पष्ट ही नन्दिनी गाय भी है और विद्या भी । किन्तु वह महाभारत के अमृतास्रावी वृषभ से अधिक स्पृहणीय है। उसके दोनों रूपों का सामान्य नाम है 'वसिष्ठधेनु'। कालिदास सादृश्य के कूटप्रयोग द्वारा स्मरण भी दिलाते हैं जहाँ वे वसिष्ठ के मुख से कहलाते हैं—"तुम इस धेनु को अभ्यास के द्वारा विद्या के समान आत्मानुगमन के द्वारा प्रसन्न करना"—

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम्।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि।। रघु० १.८८।।

आत्मानुगमन आत्मा नामक अमृत तत्त्व का ही तो अनुगमन है इस प्रकार नन्दिनी का आख्यान एक विद्यार्थी का भी आख्यान हो सकता है और रघु का जीवन एक ब्रह्मवेत्ता कर्मयोगी का जीवन भी। इन दोनों की उपलब्धि से अधिक स्पृहणीय उपलब्धि और हो ही क्या सकती है। वह भी दिलीप—जैसे एक भारतीय के लिए। यदि इस उपलब्धि का माध्यम शाखाच्छेद की उपर्युक्त मूर्खता है तो वह किसी भी बुद्धिमत्ता से कहीं अधिक स्पृहणीय है।

प्रश्न उठता है—"मूर्खता की इन घटनाओं का सम्बन्ध कालिदास से जोड़ने की प्रेरणा का स्रोत क्या है।" हमारी समझ में यह कालिदास का विनय है जिसे व्यक्त करते हुए उन्होंने 'रघुवंश' के आरम्भ में लिखा है—"मैं हूँ तो मन्दमति, किन्तु चाह रहा हूँ कवियश। मेरी स्थिति प्रांशुलभ्य फल के लिए हाथ उठाये बौने—जैसी है"—

मन्दः कवि—यशः—प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशु—लभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः।। रघु० १.३।।

कुमारसंभव का हिमाचल विनय की इसी भाषा में सप्तर्षिमण्डल के समक्ष बोलता है—"आप के आगमन से मैं स्वयं को मूढ से बुद्ध हुआ, लोह से सुवर्ण बना अथवा भूमि से स्वर्ग पहुँचा—सा पा रहा हूँ"—

मूढं बुद्धमिवात्मानं हैमीभूतमिवायसम्।
भूमेर्दिवमिवारूढं मन्ये भवदनुग्रहात्।। कुमार० ६.५५।।

चतुर्दश विद्यास्थान, कला, स्थापत्य और इतिहास का अति विलक्षण और विराट् वैभव आत्मसात् किया हुआ कालिदास—जैसा कवि जब अपने आप को मन्द कहता है तो यह सम्भव ही कैसे है कि उनके इस विनय पर सहृदय सामाजिक का ध्यान न जाये, उसकी चेतना इससे प्रभावित न हो और वह अपनी आदरांजलि किसी सदृश आख्यान की व्याजोक्ति द्वारा प्रस्तुत न करे। गो शब्द का अर्थ वाणी और विद्या संस्कृत में प्रसिद्ध है। इस अर्थ में प्रत्येक विद्यार्थी गोचारक है और प्रत्येक विद्वान्

गोपाल। उपनयनसंस्कार द्वारा प्रत्येक विद्यार्थी माता—पिताविहीन और इसीलिए अनाथ होता ही था। इस पृष्ठभूमि पर कालिदास के अनाथ बालक के रूप में ग्वाले के द्वारा पाले जाने की कल्पना तनिक भी अस्वाभाविक नहीं। वेद—वेदांगों की जो पारदृश्वता कालिदास ने अर्जित की है उससे उनका कठोर श्रम और उनकी शरीरनिरपेक्ष स्वाध्यायनिष्ठा स्पष्ट है। उनके लिए शाखाच्छेद की घटना की कल्पना भी पूर्णतः स्वाभाविक है। कालिदास ने अवश्य ही अनेक गोपालों की गायें चरायीं होंगी और अवश्य ही इन गोपालों के समुदाय ने कालिदास को विद्योत्तमा से जोड़ा होगा। अच्छा होता यदि नन्दिनीगोचारणव्रत के परिप्रेक्ष्य में गोचारण में लगे वर्षों की संख्या कालिदास पक्ष में भी इक्कीस ही रखी गयी होती और इक्कीसवें वर्ष शाखाच्छेद की परीक्षा के बाद कालिदास पर भी किसी गोमाता की प्रसन्नता की कल्पना की गयी होती, साथ ही कहा गया होता कि 'वह प्रसन्न अतएव उत्तम गौ गुरु द्वारा कालिदास को ही दे दी गयी' और इस गौ के दान के साथ विद्वानों के बीच कालिदास का विद्योत्तमा नामक कन्या से विवाह भी करा दिया गया। विद्या जब प्रसन्न होती है तो वह शिष्य का अपना धन बन जाती है। ऐसी उत्तम विद्या की विद्योत्तमा को कोई भी गुरु शिष्यरूपी किसी भी कालिदास से अलग क्यों करना चाहेगा?

कवित्वलाभ

गौ प्रसन्न होती है तो अमृतोपम दूध देती है ओर विद्या प्रसन्न होती है तो सरस कवित्व। कहा भी गया है—"साहित्यविद्या सभी विद्याओं का निष्यन्द है"—(राजशेखर काव्यमीमांसा—४)। अपने लिए सिंह को आत्मसमर्पण करने हेतु उद्यत दिलीप के प्रति नन्दिनी प्रस्नुतपयोधरा हो उठी थी (रघु० २.६१)। उस समय निश्चित ही दिलीप की नन्दिनीविद्या विद्यानन्दिनी अर्थात् कविता बन गयी थी, उसमें रस—संचार जो हो उठा था। उस समय वह मस्तिष्क से हृदय में उतर आयी थी और धरोहर न रहकर आत्मसम्पत्ति बन गयी थी। कादम्बिनी वही प्रसन्न कही जा सकती है जो अमृतवृष्टि दे, रसधार दे और तृप्ति तथा आप्यायन का साम्राज्य दे। निश्चित ही दिलीप की आत्मा में छिपे कालिदास प्रस्रविणी नन्दिनी के लाभ से विद्वान्, विद्यावान् और कवि बन गये। किन्तु,

कवित्वविकास

अभी भी प्रसन्न विद्या या उत्तम विद्या की नन्दिनी विद्योत्तमा अधिक प्रसन्न न थी, क्योंकि उसे बुद्धिमत्ता की सखी प्राप्त न थी। इसके लिए अपेक्षित है व्यवहारमर्यादा और लोकस्थिति का बोध। यह ऐसा कार्य है जो कवियों को भी मोह

में डाल देता है—"**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता:**"—(गीता)। नन्दिनी की विद्योत्तमा ने दिलीप के कालिदास की परीक्षा ली। उसने पुत्र का वर देकर दिलीप से कहा—"दोना बना और मेरा दूध पी ले" (रघु० २.६५)। महाभारत का उपमन्यु गुरु का गोधन चराते समय जंगल में उसका दूध पी लिया करता था। गुरु धौम्य ने उसे अन्याय बतलाया था। दिलीप ने ऐसा करना उचित नहीं समझा। उन्होंने उत्तर दिया—"माता नन्दिनि! आपके दूध पर न आपका अधिकार है और न मेरा। इसका प्रथम अधिकारी हैं आपका वत्स, दूसरा अधिकारी है यज्ञ का होमकार्य, तीसरे अधिकारी है गुरु वसिष्ठ। इनसे बचने पर गुरु वसिष्ठ की आज्ञा हुई तो मैं आपका दूध अपने काम में ला सकता हूँ—

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषम् ऋषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
औधस्यमिच्छामि तवोपयोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः।। रघु० २.६६।।

स्पष्ट ही दिलीप प्राणों की बाजी लगाने पर प्राप्त लाभ अधिकृत और उचित, क्रम से ही लेना पसन्द करते हैं। इस प्रकार वे विवेक और बुद्धि की परीक्षा में खरे उतरते हैं। कालिदास के शब्दों में दिलीप के उक्त उत्तर से नन्दिनी और अधिक प्रसन्न होती है—"**इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव**" (रघु० २.६७)। यहाँ कवि का नन्दिनी के लिए प्रयुक्त वसिष्ठधेनु शब्द अधिक सार्थक है। कालिदासपक्ष में भी विद्योत्तमा के अधिक प्रसन्न होने की घटना और उसके लिए अपेक्षित विवेक की परीक्षा प्रचलित कथाओं में अपेक्षित थीं। भोजप्रबन्ध आदि सन्दर्भों का निर्माण कदाचित् इसीलिए किया गया है। अब कालिदास कवि और विद्वान् ही नहीं रह गये बुद्धिमान् भी बन गये। 'मालविकाग्निमित्र' से 'शाकुन्तल' तक और 'मेघदूत' से 'रघुवंश' तक उत्तरोत्तर विकासशील काव्यशिल्प में कालिदास का उत्तरोत्तर मानसिक और बौद्धिक विकास स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर भी होता है।

महाकवित्व

विद्वान् और बुद्धिमान् व्यक्ति कवि भले ही हो जाये, वह महाकवि तब तक नहीं बन सकता जब तक 'पथिकृत्' न बने। इसके लिए अपेक्षित है क्रान्तदर्शिता और प्रतिभा का ललाटनेत्र। इस नेत्र के बिना पुरोवर्त्ती पदार्थ भी परोक्ष ही रहता है। किन्तु इसकी उपलब्धि जन्म—जन्मान्तरों के बाद किसी ही भाग्यशाली को होती है। 'रघुवंश' में वह दिलीप को नहीं उसके पुत्र रघु को प्राप्त हुई। नन्दिनी के अंगनिष्यन्द से आँखों को पखारना और अतीन्द्रिय पदार्थों में भी अप्रतिहतदृष्टि होना प्रतिभालाभ के अतिरिक्त है ही क्या? काव्य की भाषा में हम दिलीप को कवि और रघु को महाकवि कहेंगे।

कालिदास भी ऐसे ही कवि थे। 'मेघदूत' और 'कुमारसम्भव' उनकी इस विशेषता के ज्वलन्त प्रमाण है 'मेघदूत' तो १११ मन्दाक्रान्ताओं का एक काव्य नहीं, ४४४ चरणों का एक सुभाषित पद्य है जिसमें एक ही अर्थ है 'प्रणय' और उसकी अभिव्यक्ति के लिए एक ही अलंकार है 'पर्यायोक्त'। इसीलिए यह शत–शत दूतकाव्यों का पथिकृत् है और उतने पर भी प्रतिबिम्बों के बीच बिम्ब के समान मौलिक और अद्वितीय है। 'कुमारसम्भव' एक काव्योपनिषद् है जिसका महावाक्य है–'दाम्पत्यं ब्रह्म', जिसका मन्त्र है 'सौभाग्य' और जिसका पथ है 'मारविजय'। आठ सर्गों का यह काव्य और कुछ नहीं अष्टमूर्ति शिव की काव्यप्रतिमा है जिसके शिल्पी भी स्वयं शिव हैं, किन्तु 'कालिदास–काली के दास' इस सार्थक नामान्तर में।

असाधारण महाकवित्व

व्यास के उपर्युक्त वृषभ को कालिदास ने पँहचाना, किन्तु कालिदास की उपर्युक्त नन्दिनी को भारवि, माघ, और श्रीहर्ष ने नहीं पँहचाना। वे उनके स्थूलदर्शी शिष्य हैं। वे उनकी नन्दिनी को अलंकृत करना अधिक पसन्द करते हैं, उसकी दोग्ध्री काया और उसमें प्रतिष्ठित मधुमय आत्मा को पँहचानना नहीं जानते। जानते भी हैं तो चाहते नहीं और यदि चाहते भी हैं तो वैसा कर पाते नहीं। उन्हें विद्या प्राप्त है और कुछ दूर तक उसे प्रसन्न भी कहा जा सकता है, किन्तु कालिदास की विद्या के समान विद्योत्तमा नहीं। उनका शिल्प ही उनकी काव्यनन्दिनी का सिंह बन बैठा है। उनकी काव्यनन्दिनी रक्षित अवश्य है किन्तु मूर्च्छित और क्षत–विक्षत रूप में; किन्तु वह भी व्यास जैसे पूर्वसूरियों–द्वारा आहित वस्तुशिल्प के बल पर। उसे प्रसन्नतर करने की तो बात ही दूर है। परम्परा उन्हें प्रसाद या प्रासादिक प्रतिभा का कवि मानती भी नहीं। निश्चित ही ये गोचारण की परीक्षा में साधु सिद्ध नहीं होते। उनकी कला का सिंह पण्डित है, ओजस्वी वक्ता है, देवदारु का प्राणपण से रक्षक है और अष्टमूर्त्ति शिव रूपी विश्व का किंकर भी है। इसीलिए माना कि वह सुन्दर भी है और इसीलिए अभी तक जीवित भी; किन्तु अन्ततः है वह स्थूलदर्शी, लोकायतिक या चारुवाक् = चार्वाक्। वह जिसकी रक्षा में नियुक्त है उस देवदारु को शिव नहीं, शिव का समझता है, अतएव उसकी रक्षा–भर करता है, आराधना नहीं। इसीलिए वह भूखा है। भूखा रहे क्यों नहीं, वह कुम्भोदर जो है। उदरकुम्भ कालिदास के पास भी है, किन्तु उनका कुम्भ स्फटिक–कुम्भ है जो अमृतरस से परितः पूर्ण है, अतएव उसी में तिरोहित है। कालिदास का शिल्पसिंह मायासिंह है, वह उनकी काव्यनन्दिनी का ही खेल है। उसका दर्शन नन्दिनी की इच्छा पर निर्भर है। वह उसे जब चाहे अलक्षित कर सकती है। भारवि, माघ और श्रीहर्ष का सिंह अलग है और नन्दिनी अलग। वहाँ केवल नन्दिनी

कभी नहीं बचती, क्योंकि सिंह कभी अलक्षित नहीं होता। उनके यहाँ आलिंगन है किन्तु अलंकारों का और चुम्बन है किन्तु प्रतिमा का। उनकी दावत नमकीन की दावत है। कालिदास को सुलभ पंचामृत की भरपूर परस वहाँ कहाँ? उनके काव्य सूरन और सकरकन्द के अनगढ़ खेत हैं, मानस और अच्छोद के पंचवर्णी सरसिजों की सुरभित केसर और स्वादु पीकी वहाँ अत्यन्त दुर्लभ है।

भारवि, माघ और श्रीहर्ष कवि हैं उत्प्रेक्षा और श्लेष के, अर्थात् ऐसे अलंकारों के जिनमें अनुभव नहीं, कल्पना ही अधिक होती है और इसीलिए जो बुद्धि तक सीमित रहते हैं। बुद्धि को भी वे चमत्कृत ही कर पाते हैं, विश्रान्त नहीं। कालिदास उपमा के कवि हैं। उनकी उपमा भी ऐसी उपमा है जिसमें प्रतिष्ठित है चतुरस्रता, एकांगिता नहीं। इसीलिए जिसमें शास्त्रचिन्तन से अधिक लोकदर्शन अपेक्षित है और अपेक्षित है उज्ज्वल स्मृति, स्फीत उपस्थिति अथवा पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में प्रतिभा का दिव्य और समृद्ध वरदान। कालिदास के ही ऐसे स्थलों से उनकी यह विशेषता प्रमाणित है जिनमें अप्रस्तुत और सदृश वस्तु की योजना वाच्यप्रतिष्ठा का अंग बनती है अर्थात् जिनके कारण समझ में न आती घटना बुद्धि में जम जाती है। रघुवंश १६.६, मेघदूत २.३२, कुमारसम्भव ५.८५ इसके लिए पर्याप्त हैं। अनुभूति और स्मृति की यह समृद्धि भारवि आदि में नहीं मिलती। इसीलिए कालिदास संस्कृत वाङ्मय में आज भी कनिष्ठिकाधिष्ठित हैं और उनके द्वारा निर्मित काव्य–पथ आज भी अप्रतिम और असपत्न है। किन्तु,

युगदर्शित्व

कालिदास शिल्प की समुचित और ललित योजना के कारण ही कालिदास नहीं हैं, कलापथ का विलक्षण संविधान ही उनकी सार्वभौम, सार्वजनीन और शाश्वतप्रियता का कारण नहीं है। उसका एक कारण और है। वह है उनका ऋषितुल्य क्रान्तदर्शित्व। यह तथ्य उनके कुमारसम्भव, रघुवंश और शाकुन्तल में निहित उस लक्ष्य से प्रमाणित है जिसमें कार्तिकेय, रघु और भरत नामक कुमारों के सम्भव अर्थात् उनके सुनियोजित प्रजनन का राष्ट्ररक्षी और जगन्मंगल मन्त्र रक्षित है, दूसरे शब्दों में जिसमें राष्ट्रपति के निर्दोष व्यक्तित्व की तपःसमाधि और दाम्पत्य की अग्नि और सोम की–सी सरस लीला पर निर्भर निष्पत्ति निहित है। ऐसे कुमारों की आवश्यकता युगीन आवश्यकता थी। कालिदास विदेशी आक्रमणों के युग के कवि हैं। अपने काव्यों में उक्त अप्रतिरथ कुमारों के सम्भव की अमोघ योजना प्रस्तुत कर कालिदास ने युग की इस आवश्यकता की पूर्ति की है। कदाचित् इसीलिए उन्होंने अपना नाम कालिदास रखा है। काली भारतीय साहित्य में वीर और रौद्र रस की आलम्बन है। विदेशी आक्रमण से जटिल

किसी भी युग की चेतना काली ही हो सकती है। युगचेता कवि उसी की उपासना करता है। व्यास ने महाभारत लिखकर उसकी उपासना की थी और कालिदास ने भी अपने साहित्य में इसकी उपासना की है। रक्षा के लिए अपेक्षित वीर और रुद्र के भाल पर उन्होंने अपनी कला का तिलक लगाया है किन्तु मित्र बन कर नहीं, अपितु पिता बनकर। उन्होंने वीर और रौद्र की शक्ति से अधिक उनके स्ववश निष्पादन पर ध्यान दिया है और इसीलिए उन्होंने अपने साहित्य में शृंगार को स्थान दिया है। युद्धभय के समय अस्त्र–शस्त्र की पूर्ति के लिए बाहरी आयात पर विश्वास न कर, स्वायत्त उत्पादन पर विश्वास करने वाले भारत ने आज भी इस पथ की विवेकधौतता प्रमाणित की है। वीरता और रुद्रता की अधिष्ठात्री काली त्रिपुरसुन्दरी जगदम्बा पार्वती के कोपारुण मुखचन्द्र से निष्पन्न होती है। मार्कण्डेयपुराण का वचन है–

ततः कोपं चकोराच्चैरम्बिका तानरीन् प्रति।
कोपेन चास्या वदनं मसीवर्णमभूत् तदा।।
भृकुटी–कुटिलात् तस्या ललाटफलकाद् द्रुतम्।
काली करालवदना विनिष्क्रान्तातिभीषणा।।

"शैलेन्द्र हिमालय पर बैठी और ईषद् हास्य से सुशोभित जगदम्बा पार्वती (अथवा भारतमाता) को चण्ड–मुण्ड की अध्यक्षता में आयी शुम्भ–निशुम्भ की चतुरंगिणी सेना जब बलात् हरण करने में प्रवृत्त हुई तो उस माता का मुख कोप से काला हो उठा और उनके भृकुटीकुटिल ललाटफलक से असिपाशधारिणी करालवदना काली निकल पड़ी (दुर्गासप्तशती–७.५–६)"। इस काली ने शुम्भ–निशुम्भ की एकाधिकार प्रवृत्ति का हनन किया। इन ने इन्द्र का पारिजात, कुबेर का पुष्पक, वरुण का कांचनवर्षी छत्र और यमराज की मृत्युशक्ति का अपहरण कर लिया था। उनकी घोषणा थी–"रत्नभुजो वयम्"–"संसार के प्रत्येक उत्कृष्ट पदार्थ के भोक्ता केवल हम हैं (दुर्गा सप्तशती ५.११२)। एकाधिकार की यह दानवी प्रवृत्ति सर्वोदय की दैवत प्रवृत्ति का उच्छेद थी। विश्व के किसी भी खण्ड में, जब कभी भी जो कोई भी आक्रमण हुआ है उसका मूल यही प्रवृत्ति रही है। विक्रमयुगीन विदेशी आक्रमणों में यह प्रवृत्ति कालिदास को न दिखाई दी हो यह सम्भव नहीं। अन्तर इतना ही है कि उन्होंने महत्ता युद्ध को न देकर उसमें लभ्य सफलता के बीज को दी। मार्कण्डेयपुराण के रचयिता व्यास के समान कुमारसम्भव के रचयिता कालिदास ने भी त्रिपुरसुन्दरी पार्वती का कोपकुटिल भ्रूभंग पँहचाना था। उन्होंने लिखा है–

इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया।
विकुञ्चित–भ्रूलतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते।। कुमार० ५.७४।।

किन्तु मार्कण्डेय पुराण की कोपारुण मुद्रा में अन्तर है। मार्कण्डेय पुराण की मुद्रा से जन्म मिला था काली को जबकि कुमारसम्भव की मुद्रा से जन्म मिला कालिदास को, काली के दास शिव को। कुमारसम्भव के अगले सन्दर्भ से स्पष्ट है कि पार्वती की इस मुद्रा के कुछ समय बाद ब्रह्मचारी का वेष छोड़ कर शिव अपने रूप में प्रकट हो उठे थे। व्यास की काली शत्रुसंहार कर पुनः पार्वती में ही विलीन हो गयी (दुर्गा सप्तशती–१०.६) थी क्योंकि वह अलौकिक और अतिमानव शक्ति थी। कुमारसम्भवकार ने उसे मानवीय अधिकार में लाने का उपाय सोचा और पार्वती के कोप से 'कालिदास' को प्रकट कर दाम्पत्य का वह अमर्त्य क्षेत्र प्रस्तुत किया जिससे महाकाली की विकराल शक्ति के अधिष्ठाता सेनानी कुमार को जन्म मिल सका और उसका एक शाश्वत और स्ववश उपाय सामने आ सका। यह थी महाकवि क़ालिदास की क्रान्तदर्शिता और यह था उनका पथिकृत्त्व।

इस प्रकार कालिदास–साहित्य के ही आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि यदि कालिदास का साहित्य उनकी अपनी रामकहानी हो तो वे अवश्य ही अनाथ थे, मूर्ख थे, गोपालों द्वारा पालित थे, उन्होंने वर्षों तक गोचारण किया था और उनका विवाह विद्योत्तमा से हुआ था। विद्योत्तमा भी उन पर प्रसन्न होती गयी थी क्योंकि वे विद्यावान्, बुद्धिमान्, कवि, महाकवि और अपने युग के अनुरूप बनी 'कालिदास' इस अभिधा के सर्वथा अनुरूप, अभिधेय पथिकृत् और कविकुलगुरु के रूप में उत्तरोत्तर विकास करते चले गये थे।



कालिदास की काव्यकला

महाकवि कालिदास की काव्यकला ऐसी कला है जिसमें चित्रकला, मूर्त्तिकला, नृत्यकला एवं संगीतकला भी अनुस्यूत हैं। काव्य में अपेक्षित होती है ऐसी वाक्य योजना जिसके 'अर्थ–बोध' से चमत्कार हो। अर्थ में चमत्कारकता तब आती है जब आ जाती हैं उसमें १. पूर्णता २. गुण और ३. उक्तिवैचित्र्य ये तीन विशेषताएँ।

(१) पूर्णता

इनमें पूर्णता है भाषा पर असाधारण अधिकार। जो वक्तव्य हो उसका कोई अंश छूट न जाए या उसमें कोई ऐसी बात न जुड़ जाए जो वक्तव्य न हो। यह हुआ संतुलन विचारों का और पदावली का। इसे भारतीय काव्यशास्त्रियों ने 'दोषाभाव' शब्द से परिभाषित और वर्गीकृत अनेक भेदों में सोदाहरण प्रस्तुत किया है। नाट्यशास्त्र, काव्यादर्श, भामहालङ्कार, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, व्यक्तिविवेक और काव्यप्रकाश में इनका साङ्गोपाङ्ग विवेचन है, जो काव्यशास्त्र का मेरुदण्ड है। व्यक्तिविवेक का द्वितीय विमर्श और काव्यप्रकाश का सप्तम उल्लास इस तैयारी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। क्षेमेन्द्र ने किसी भी तत्त्व के प्रतिपादन के लिए सही उदाहरण भी दिए हैं और गलत उदाहरण भी, जिनमें उनके स्वयं के पद्य भी हैं। भारत के विद्वान् जैनों में भी यह तैयारी देखते ही बनती है। यह पूर्णता शब्द में रहेगी और अर्थ में भी। साथ ही इसमें आनुपातिक समता भी रहेगी जिसे कुन्तक ने 'साहित्य' परिभाषा दी है।

(२) गुण

गुण वे विशेषताएँ हैं जिनके आने से शब्द में भी स्पृहणीयता चली आती है और अर्थ में भी। कोमलकान्त पदावली भी होगी और उससे निकलते अर्थ भी वैसे ही शिष्ट और कमनीय होंगे। इनका निरूपण वामन ने ८०० ई० में विस्तारपूर्वक किया और भोजराज ने भी।

(३) उक्तिवैचित्र्य

उक्तिवैचित्र्य को भोजराज[१] ने अलंकार माना और हमने इसकी वैदिक परम्परा

१. उक्तियों को भोजराज ने तीन भेदों में बाँटा १. स्वभावोक्ति २. वक्रोक्ति और ३. रसोक्ति।

के अनुसार 'अलंभाव' या 'अलंत्व'। इसके अन्तर्गत शब्द की विचित्रता अनुप्रास आदि और ललिता वृत्ति आदि के रूप में दी गई है। अर्थ की विचित्रता के १०८ भेद प्रतिपादित किए गए हैं, जिनका भरत से लेकर विश्वेश्वर पण्डित तक विकास होता रहा है और जिनमें से पूर्ववर्त्ती आचार्यों के कुछ भेद अमान्य करते हुए कुछ भेद प्रत्येक आचार्य ने अपनी कल्पना से गढ़े हैं। मान्य और अमान्य इस सभी भेदों की आचार्यों के उल्लेख के साथ एक सूची हमने अपने ग्रन्थ 'भारतीय काव्यसमीक्षा में अलंकार सिद्धान्त' (प्रकाशक–मेकमिलन) में दे दी है। उपमा, रूपक आदि इसी वर्ग की उक्तियाँ है। इनमें 'रस, भाव' की भी गणना की जाती है और उन्हें भी चमत्कारकारी काव्यतत्त्व के रूप में गिना जाता है। इन तीनों तत्त्वों की महासंज्ञा है 'अलंकार'।

महाकवि कालिदास में[1] पूर्णता भी है, गुण भी और उक्तिवैचित्र्य भी। उनकी काव्यकला इन सभी दृष्टियों से आदर्श कविकर्म ठहरती है।

कालिदास–काव्यकला में पूर्णता

कालिदास का कोई भी पद्य लीजिए और देखिए कि उसमें पूर्णता है या नहीं। हमारा अनुभव है कि कालिदास की उक्तियों में पूर्णता यदि नहीं मिलती तो ऐसे अंशों की संख्या इक्की दुक्की ही है। उन्हें भी अध्येता आचार्यों ने पकड़ लिया है। सामान्यत: कालिदास की उक्तियाँ पूर्णता का आदर्श हैं और उनमें उनका वक्तव्य अपेक्षित सभी अवयवों के साथ कथित है। पूर्णता की यह स्थिति लम्बे समय की परिणति है जिसमें हम रामायण तक आ पहुँचे थे और महाभारत संहिता हमें उपलब्ध थी। कालिदास के शाकुन्तल से ही एक पद्य लें। दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में सोच रहा है– (शाकुन्तल २.११)–

शकुन्तला का रूप एक अनाघ्रात पुष्प है,
नाखूनों से अखण्डित किसलय है,
उत्तम (अनाविद्ध) रत्न है,
मधु है नवीन और अनास्वादित,
और है पुण्यों का अखण्ड फल।
पता नहीं विधाता इसके भोग से किसको बड़भागी बनाता है।

अनाघ्रातं पुष्पं, किसलयमलूनं कररुहै–
रनाविद्धं रत्नं, मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधि: ।।

---
१. पूर्णता के लिए द्रष्टव्य हमारी 'काव्यालङ्कारकारिका', कारिका–१४८, १६०, १६३
या चैषा पूर्णता–युक्ता संविन्नाम्नी नवा वधू:। सैव विच्छित्तिसम्पन्ना कवितात्वं प्रपद्यते।। १६३।।

'शकुन्तला कन्या है, अत: स्पृहणीय है' यह तथ्य श्लोक के प्रथम तीन चरणों द्वारा प्रतिपादित है। चतुर्थ चरण से शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त का स्वयं का आकर्षण भी स्पष्ट है। रूप के जो पाँच विशेषण हैं उनमें से प्रथम में शकुन्तला का पुरुषसंयोगात्यन्ताभाव प्रतिपादित है, द्वितीय में उसका अक्षतत्व, तृतीय में उसकी सरलता और निर्दुष्टता, चतुर्थ में मादकता और पञ्चम में स्पृहणीयता। इतने पर भी यह तथ्य भी अनुभव में आ रहा है कि कालिदास यहाँ नाट्यधर्म भूल गए हैं और वे कवि बन बैठे हैं, क्योंकि अगले विशेषणों से जो प्रतिपादित होना है उसको भी प्रथम विशेषण ही स्पष्ट कर रहा है। बल्कि शकुन्तला का जो कन्यकात्व प्रथम विशेषण में सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से सूचित हुआ था वह अगले विशेषणों द्वारा स्थूल से स्थूलतर और स्थूलतम होता गया। अन्त में उसके भोक्ता की बात उठा ही दी गई। बीच में 'आविद्ध'—पद ने कुत्सित व्यञ्जना भी छू दी, यद्यपि आविद्ध[१] शब्द नाट्यशास्त्र की उद्धत और कुटिल चेष्टा के लिए प्रसिद्ध है, तथापि उससे वह अभिप्राय भी सामने आ खड़ा हुआ जिससे कन्या, कन्या नहीं रह जाती। कदाचित् कवि को भी यह अर्थ अभीष्ट है। दुष्यन्तप्रौढोक्तिसिद्ध यह अर्थ कविप्रौढोक्तिसिद्ध भी है। पुरुषसंप्रयोग के पहले कन्या की छवि अलग ही दिखाई देती है। इस उक्ति से उस छवि की ओर भी संकेत है। यह सफल भी है उसमें।

शकुन्तला को देखते ही दुष्यन्त का कामी मन भावनाओं की तरङ्गों में डूबने लगा था। शकुन्तला भी दुष्यन्त को देखते ही अनमनी हो गई थी। सखियों ने उसकी मन:स्थिति को भाँप लिया था। स्वगत उक्ति में नायक की प्रच्छन्न इच्छा और अभीप्साओं को कथमपि अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन उक्तियों को प्रेक्षक सुनता जाता है। उसकी देश, काल और लोकस्थिति में साधारणीकृत चेतना नायक से समरस हो जाती है, अत: उसे भी इस प्रकार की उक्ति में किसी प्रकार का दोष दिखाई नहीं देता और प्रतीति की धारा अबाध गति से आगे बढ़ती जाती है। इस प्रकार चारों चरणों के अर्थ आवश्यक हैं अत: यह हुई काव्यार्थ की पूर्णता। माधुर्य और प्रसाद आदि गुण यहाँ सक्रिय हैं। रूप पर 'अनाघ्रात पुष्प, अलून किसलय, सौम्य रत्न और अनास्वादितरस मधु का आरोप' रूपक विच्छित्ति को निष्पत्ति देता है। इस प्रकार यहाँ पूर्णता भी है, गुण भी हैं और विचित्रोक्ति नामक अलंकार भी। फलत: कालिदास की काव्यकला का यह असाधारण उदाहरण है। सोचना केवल यह है कि क्या नाट्य में भी यह उचित है या यह नाट्यकला पर काव्यकला की चढ़ाई है। शाकुन्तल में इस प्रकार की अनेक स्वगत उक्तियाँ हैं। ऐसा मानना कदाचित् सही होगा कि इन उक्तियों में काव्यकला, नाट्यकला का मण्ड बनकर प्रस्तुत हुई है। वाचिक अभिनय की कुशलता इन दोनों का अङ्गाङ्गित्व बचाए रखती है।

---

१. बाढ़ के समय नदी की धारा विक्रमोर्वशीयम् में आविद्ध कही गई—'तरङ्गभ्रू०' ४.२८

कालिदास का उपमाशिल्प[१]

कालिदास उपमा के लिए प्रसिद्ध हैं। व्यक्तिविवेककार ने अपने व्यक्तिविवेक में कालिदास को उपमाप्रेमी कहा है। यह सत्य है। कालिदास अनुभव के कवि हैं। और श्रीहर्ष कल्पना के। इसीलिए श्रीहर्ष में उत्प्रेक्षा की भरमार है और कालिदास को उपमा प्रिय है। उनकी उपमा की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता है प्रस्तुतोभयोपमा अर्थात् जहाँ उपमान भी प्रस्तुत हो और उपमेय भी। रघुवंश में दिलीप दिनभर नन्दिनी को चराकर सायंकाल आश्रम लौट रहे हैं। यहाँ कवि श्लेषयोजना द्वारा लिखते हैं—

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः।। रघु०२।।

'दिगन्तरों को संचारपूत कर सायंकाल निलय के लिए उद्यत हुई पल्लवराग सी ताम्रवर्ण की सूर्यप्रभा और मुनि की धेनु।'

यहाँ उपमेय और उपमान दोनों प्रस्तुत हैं। उपमेय है नन्दिनी और उपमान है सूर्यप्रभा। दोनों ही निलय (निवासस्थान और विलय) की ओर बढ़ रही हैं और दोनों ही पल्लवरागताम्र है। इस प्रकार की प्रस्तुतोभयोपमा कालिदास—साहित्य में सुलभ हैं।

रघुवंश में ही रघु दिग्विजय करते हुए वंगभूमि पहुँचे। उन्होंने वहाँ के राजाओं को उखाड़ा, किन्तु वहीं प्रतिष्ठित कर दिया। कवि ने इस घटना के लिए वंगभूमि से ही उपमा चुन ली और कहा—

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खात—प्रतिरोपिताः।। रघु० ४.३७।।

'यह वैसे ही हुआ जैसे धान की खेती के साथ होता है। धान को भी पहले उखाड़ा जाता है और बाद में वहीं रोप दिया जाता है। इससे उनमें फल अधिक लगते हैं।'

रघुवंश के ही सोलहवें सर्ग में कुश की सेना विन्ध्य के ऊपर मार्ग खोजती और कलरव करती आगे बढ़ती है। कैसे? जैसे वहीं 'रेवा, (नर्मदा)।

मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि।। रघु० १६.३१।।

इन सभी स्थलों में उपमान भी वहीं प्रस्तुत है जहाँ उपमेय। इसी को कहा गया प्रस्तुतोभयोपमा।

---

१. कालिदास के सादृश्यमूलक सभी अलंकारों का संग्रह 'उपमा कालिदासस्य' में चेल्लपन पिल्लई ने, त्रिवेन्द्रम् से १९४५ में प्रकाशित किया था। इसमें १२०० प्रयोग संकलित थे जिनमें कुमारसंभव के ९—१७ सर्ग और ऋतुसंहार भी अपनाए गए थे।

मालोपमा

उपमा का एक भेद वह भी होता है जहाँ एक उपमेय के लिए एकाधिक उपमान दिए जाते हैं। कुमारसंभव में पार्वती को पूर्वजन्म की पढ़ी विद्याएँ स्वत: प्राप्त हो गई। कैसे? जैसे शरद् ऋतु में हंसमालाएँ गंगा में या दिव्यमहौषधि में रात आते ही उसकी अपनी ज्योति–

तां हंसमाला: शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभास:।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्या:।। कुमार० १.३०।।

अतिथि के राज्य में बंजारे लोग नदियों में वैसे ही स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करते थे जैसे वापियों में कर सकते थे, वनों में भी वैसे ही जैसे उपवनों में और पर्वतों में भी वैसे ही जैसे घर में–

वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव।
सार्था: स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु।। रघु० १७.६४।।

देवराज इन्द्र कहते हैं जैसे पुरुषोत्तम केवल विष्णु हुआ करते हैं, त्र्यम्बक केवल महेश्वर उसी प्रकार शतक्रतु हूँ केवल मैं। द्वितीय कोई नहीं–

हरिर्यथैक: पुरुषोत्तम: स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापर:।
तथा विदुर्मां मुनय: शतक्रतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एष न:।। रघु० ३.४९।।

रानी सुदक्षिणा गर्भवती हैं। उन्हें दिलीप आदर देते हैं। कैसे? कवि तीन उपमाएँ प्रस्तुत करता है–

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।
नदीमिवान्त:सलिलां सरस्वतीं नृप: ससत्त्वां महिषीममन्यत।। रघु० ३.९।।

गर्भवती रानी वैसी ही है जैसी वह भूमि जिसमें निधि गड़ी हो, जैसे शमीतरु जिसमें अग्नि छिपी हो और जैसे सरस्वती नदी जिसका जल छिपा हुआ हो।।

बहुमूल्यता, तेजस्विता और विद्या इन तीनों उपमाओं की सूचनाएँ हैं गर्भ जिनसे समृद्ध है।

पार्वती पर शिव प्रसन्न हो गए। लग्न तय हो गई। अब हुआ वधूशृङ्गार। उससे वे कैसी लगीं? ऐसी–

सा संभवद्भि: कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद् विहंगैरिव लीयमानैरामुच्यमानाऽऽभरणा चकासे।। कुमार० ७.२१।।

जैसे लता निकल उठे पुष्पों से, जैसे रात्रि निकल पड़े तारापुञ्ज से या कोई नदी आ आकर बैठते जा रहे पक्षियों से।

पार्वतीजी ने सफेद क्षौम धारण किया और लिया हाथ में दर्पण तो वे ऐसी लगीं जैसी क्षीरसागर की तटभूमि लगा करती है ढेर सारे फेन से और जैसी शरद्ऋतु की रात्रि लगा करती है जब चन्द्रबिम्ब खूब भर जाता है कलाओं से—

क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना।। कुमार० ७.२६।।

सुदर्शन बालक ही था कि उसे पिता ध्रुवसन्धि की आकस्मिक मृत्यु के कारण राज्यभार सम्हालना पड़ा। उस अकेले बालक सुदर्शन से रघुकुल वैसा ही लग रहा था जैसा बालचन्द्र से आकाश लगता है, जैसा बाल सिंह से कानन या जलाशय कमलकोरक से—

नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिंहेन च काननेन।
रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत्।। रघु० १८.३७।।

सुदर्शन युवक हो गया तो उसका विलास से भरा यौवन कैसा लगा? वैसा ही जैसा मधु जिसे युवतियाँ आँखों से पी रही थीं, जैसे कामवृक्ष में फूला पुष्प हो, जिसमें 'राग' की कोंपल हो अथवा विना किए संपन्न हुआ अलंकरण वह भी पूरे शरीर का'—

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम्।
अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे।।१८.५२।

अज को इन्दुमती ने वरमाला पहनाई। उसका यह निर्णय प्रशंसनीय था, अतः उससे प्रसन्न नगरवासी कहते मिले—

यह तो कौमुदी द्वारा मेघमुक्त यानी शरद्ऋतु के चन्द्र का वरण है या गङ्गा का उसके अनुरूप महासमुद्र में उतरना।

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्याऽवतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः।।

(रघु० ६.८५)

सुदक्षिणा ने इन्द्र आदि लोकपालों के गुरु अनुभावों से परिपूर्ण गर्भ वैसे ही धारण किया जैसे चन्द्ररूपी अत्रिनेत्रोत्पन्न ज्योति को द्युलोक धारण करता है या भगवान् शङ्कर का अग्नि में निहित तेज गङ्गा धारण करती हैं। —

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः।।

(रघु० २.७५)

उर्वशी होश में आ रही है। कैसी लग रही है वह? ऐसी जैसी रात्रि लगती है चन्द्रोदय के पश्चात् तम से खाली की जा रही, रात्रि में प्रज्वलित अग्नि की लौ जिससे काफी धुआँ उड़ चुका हो, अथवा तट की मिट्टी से मलिन गङ्गा जो साफ हो रही हो –

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि–
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गा रोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम्।। विक्र० १.९।।

मालोत्प्रेक्षा भी इसी प्रसङ्ग में इस प्रकार ग्रथित मिलती है –

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।। विक्र० १.१०।।

इस सुन्दरी में इतनी अधिक कान्ति है कि लगता है इसके निर्माण में प्रजापति चन्द्र ही था, संभव है केवल शृङ्गार को रस मानने वाला काम ही रहा हो प्रजापति, या पुष्पाकर ऋतुराज वसन्त। भला वह बूढ़ा अतएव विषयों से विमुख (नारायण) मुनि इसे कैसे रच सकता है।

शकुन्तला की आकृति इतनी मधुर है कि इसे सब कुछ शोभा दे रहा है। क्यों नहीं? कमल सेंवार से घिरा होने पर भी रमणीय ही होता है और चन्द्रबिम्ब में मलिन चिह्न भी शोभा ही बढ़ाता है–

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।। शाकु० १.१८।।

'नवीन किसलय जैसे लाल अग्रपाद से मालविका दो पर प्रहार करे तो अच्छा हो एक तो अकुसुमित अशोक पर दोहद के लिए और एक आर्द्रापराधी सिर झुकाए प्रणत प्रिय पर'–

नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला
स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।
अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा
प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम्।। माल० ३.२२।।

सूर्य के घोड़े एक बार जुते सो जुते ही हैं, वायु ने बहना आरम्भ किया तो वह बह ही रहा है, इसी प्रकार शेषनाग ने भूमि अपने सिर पर रखी सो रखे ही है। राजा का भी धर्म ऐसा ही है —

भानुः सकृद् युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः।। शाकु० ५.४।।

सुखसङ्गी मुझे ऐसे लग रहे हैं जैसे कृतस्नान व्यक्ति को तैल लगाया व्यक्ति लगता है, शुचि को अशुचि, जागे को सोया और स्वच्छन्दचारी को बँधा हुआ व्यक्ति[1]*—*

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि।। शाकु० ५.११।।

हिमालय नवजात पुत्री से उसी प्रकार पवित्र भी हुए और अलंकृत भी जिस प्रकार प्रभायुक्त शिखा से दीप, गङ्गा से अन्तरिक्ष और संस्कृत वाणी से कोई भी विद्वान् पवित्र भी होता है और सुशोभित भी—

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च।। कुमार० १.२८।।

समाधानजनक उपमा

कालिदास की उपमाएँ समाधान भी देती हैं। सपत्नियों के बीच क्या प्रीति भी रहती है? यदि हाँ तो दृष्टान्त? दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कालिदास। दशरथ की रानियाँ तीन, किन्तु अग्नि से प्राप्त चरु को उन्होंने केवल कौशल्या और कैकेयी में आधा आधा बाँट दिया। सुमित्रा रह गई। किन्तु उनको कौशल्या तथा कैकेयी ने अपने अपने आधे—आधे भाग से संमानित किया और सुमित्रा ने भी उनके द्वारा दिए गए ये उपहार प्रसन्नतापूर्वक शिरोधार्य कर लिए। क्यों? इसलिए कि सुमित्रा में अपनी दोनों सपत्नियों के प्रति स्नेह था। कैसे? कालिदास ने खोजकर उत्तर दिया जैसे गजराज की गण्डस्थलधाराओं पर भ्रमरी में' —

स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम्।
द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पीतिरिवातपम्।।
अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा।
अतः संभाविता ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः।।

---

१. स्व० सुब्रह्मण्य ऐयर ने 'पैरेलेलिज्म' शीर्षक से इस प्रकार की उक्तियों पर उनके साहित्य अकादमी से प्रकाशित, 'मालविकाग्निमित्र' के संस्करण में विचार किया है।

ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षिताम्।
चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे।।
सा हि प्रणयवत्यासीत् सपत्न्योरुभयोरपि।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिष्यन्दलेखयोः।। रघु० १०.५४–५७।।

कुश अपने शयनकक्ष में सो रहे थे। कक्ष के सभी द्वार बन्द थे तब भी एक महिला कुश के पास जा पहुँची। कैसे प्रविष्ट हुई वह? कालिदास ने समाधान दिया जैसे 'दर्पण में छाया प्रवेश कर लेती है'।

अथाऽनपोढार्गलमप्यगारं छायामिवाऽऽदर्शतलं प्रविष्टाम्।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वा वनितामपश्यत्।। रघु० १६.४।।

'शिव और पार्वती जगत् के जनक हैं वे परस्पर में वैसे ही संपृक्त हैं जैसे वाक् और अर्थ संपृक्त रहते हैं।' वाग्+अर्थ में न अर्थ वाक् के विना और न वाक् अर्थ के विना। जहाँ वाक् वहाँ अर्थ और जहाँ अर्थ वहाँ वाक्। इनको भिन्न या अन्योन्यरहित किसी ने कभी नहीं पाया। यही स्थिति है शिव और पार्वती की। शिवा कहिए या शिव, कोई अन्तर नहीं। इस अद्वय का स्पष्टीकरण करते हुए रघुवंश के मंगलाचरण में कालिदास ने लिखा—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। रघु० १.१।।

उनकी यह रचना मन्त्र बन गई। नवविवाहित दम्पती को इसी से आशीर्वाद देने की प्रथा चल पड़ी।

कालिदास की सर्वाधिक प्रसिद्ध उपमा है 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव'—मूलक उपमा। इसके अन्तर्गत एक मानसिक प्रक्रिया चलती है और सादृश्य के आधार पर उपमान तथा उपमेय की विशेषताओं में अभेद की प्रतीति होती है, जिसमें साधारण धर्म बनते हैं सादृश्य के कारण अभिन्न बने भिन्न पदार्थ। इन्दुमती के स्वयम्वर में पाण्ड्य देश का राजा उपस्थित है। उसका स्वयं का रंग श्याम है क्योंकि वह केरल के पास का है, उसने हरिचन्दन यानी लाल चन्दन लगा रखा है। दोनों कन्धों पर उसके लटका है हार। इस स्थिति में वह उस पर्वत सा लग रहा है जो सूर्य के बाल आतप से लाल लाल दिखाई दे रहा हो और जिस पर से झरने निकल रहे हों—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः।। रघु० ६.६०।।

उपमाशिल्प पर ध्यान देने से लगता है कि हार और हरिचन्दन केवल उपमेय पाण्ड्यराज में हैं और बालआतप तथा निर्झर केवल उपमान अद्रिराज में। अर्थ यह कि ये धर्म उभयनिष्ठ नहीं हैं, अतः साधारण नहीं, फलतः अद्रिराज और पाण्ड्य की

समानता संभव नहीं लगती। किन्तु वह समानता प्रतीत हो रही है। कैसे? बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक सादृश्य के आधार पर। बिम्ब सदा ही प्रतिबिम्ब से भिन्न रहता है। भेदक है संख्या और आधारगत भेद। बिम्ब एक होता है जबकि प्रतिबिम्ब अनेक, बिम्ब अपने आधार में ही रहता है, किन्तु प्रतिबिम्ब दर्पण, जल आदि अन्य अनेक वस्तुओं में। प्रतिबम्ब अधिक स्थायी भी रहता है बिम्ब की अपेक्षा। अत: स्पष्ट रूप से बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न ही है। परन्तु हार और निर्झरोद्गार तथा हरिचन्दन एवं बालातप में इतनी समानता है कि ये परस्पर में अभिन्न प्रतीत होने लगते हैं और उस रूप में सिद्ध हो जाते हैं उपमान तथा उपमेय इन दोनों में अवस्थित, अत: साधारण धर्म, जिससे उपमा जम जाती है और सहृदयजन कवि की इस कलापूर्ण अर्थयोजना से चमत्कार का अनुभव करते हैं। इस कारण इस साम्य में अलंकारत्व भी आ जाता है। फलत: इसे बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक उपमालङ्कार कहा जाता है। काव्यशास्त्रियों में कालिदास का यह पद्य वामनाचार्य से लेकर रसगंगाधरकार पण्डितराज तक और उनके आगे विश्वेश्वर पण्डित तक उद्धृत होता रहा है। पण्डितराज को पण्डितराज बनाने वाले महान् सहृदय और चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द के रचयिता आचार्य अप्पयदीक्षित ने भी इस पद्य की कला को आदर दिया और उद्धृत किया है [१]।

ऋषि ने दिया पुत्रवियोग से मृत्यु का शाप, परन्तु निरपत्य दशरथ ने माना उसे पुत्रलाभ के लिए वरदान। वह वरदान बना भी। दशरथ के चार चार पुत्र हुए। शाप का वरदान बन जाना संभव कैसे? कालिदास कहते हैं खेत में आग लगने जैसे। जिस खेत में घास या झाड़ी निकल आती है उसमें आग लगाई जाती है। फिर उसे बखरा जाता है और उसमें बोयनी की जाती है। तब जो फसल होती है उसका क्या कहना? कालिदास की उक्ति है—

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मकोशे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति॥

(रघु० ९.८०)

एक ही वस्तु के दो उच्चावच परिणाम। कैसे? व्यक्तिभेद से। शाकुन्तल का नायक वियोग से अधिक परितप्त है नायिका की अपेक्षा। कैसे? वैसे ही जैसे दिन में चन्द्र और कुमुदिनी। चन्द्र दिन में बिलकुल निष्प्रभ। कुमुद्वती केवल निमीलित। —

शकुन्तला— **तुज्झ ण जाणे हिअअं मम पुण मअणो दिवा वि रत्तिं वि।**
णिग्घिण तवइ वलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइँ अंगाइं॥ ३.१५॥

दुष्यन्त — **तपति तनुगात्रि! मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।**
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः॥ ३.१६॥

---

१. रसगंगाधर उपमालङ्कार का आरम्भ।

अन्य विच्छित्तियाँ

श्लेष :

कालिदाससाहित्य में उपमा अधिक मात्रा में प्रयुक्त है[१], किन्तु अन्य अलंकार भी मिल जाते हैं। इनमें जिसने परवर्त्ती कविकर्म को सर्वाधिक प्रभावित रखा वह है श्लेषालङ्कार। प्रस्तुतोभयोपमा के पीछे प्रस्तुत उदाहरणों में श्लेष सुलभ है। पृष्ठ ९५ पर दिया 'सञ्चारपूतानि' पद्य तथा 'आपादपद्मप्रणता:' पद्य श्लेष के उत्तम उदाहरण हैं। पृष्ठ ९५ पर ही दिया 'मोर्गैषिणी सा' पद्य भी श्लेष का सुन्दर उदाहरण है। भरवि और माघ, कुमारदास और रत्नाकर, सुबन्धु और बाणभट्ट, दामोदरगुप्त और क्षेमेन्द्र ने इस विच्छित्ति को और अधिक विकसित किया। नलचम्पू और चम्पूभारत में भी श्लेष की इस भित्ति पर बड़े बड़े प्रासाद खड़े कर दिए गए हैं।

उत्प्रेक्षा :

उत्प्रेक्षा उपमा का विकास है। ग्रीष्म ऋतु में शाम होते ही फूलने लगती हैं मल्लिकाएँ (मोंगरा)। भौंरे गूँज—गूँज कर उनमें से प्रत्येक पुष्प पर बैठते और उड़ते हैं। कवि कल्पना करता है कि वे (भौंरे) उनकी गिनती सी कर रहे हैं—

नवेषु[२] सायंतनमल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदः सशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार।। रघु० १६.४७।।

यहाँ गणना इसलिए कि कलियों की संख्या विपुल है, उन्हें गिनना कठिन है।

युद्ध में उड़ी धूल और हुआ रक्तपात। किन्तु रक्तपात ने धूल की निचली परत को कीचड़ बना दिया, फलतः धूल ऊपर ही ऊपर दिखाई दी। ऐसा लगा जैसे धुआँ उड़ाकर आग अंगारशेष रह गई हो —

सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात् पवनाऽवधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे।। रघु० ७.४३।।

यहाँ सादृश्यविधान में भी चमत्कार है, अतः इसे उपमा भी माना जा सकता है, परन्तु उपमान धूम में जो कल्पितत्व है उससे संभावना अधिक प्रभावी पड़ रही है। फलतः पर्यवसान उत्प्रेक्षा में ही होता दिखाई देता है।

दिग्विजयी रघु की सेना के रथों से उड़ी धूल आकाश में छा गई तो आकाश भूमि जैसा लगने लगा। उधर विशालकाय कृष्णवर्ण के हाथियों से भूमि घनाच्छन्न आकाश सी लगने लगी। —

---

१. द्रष्टव्य हमारा ग्रन्थ 'कालिदाससाहित्य में अलंकार'।

२. नवेषु के स्थान पर 'वनेषु' पाठ निर्णयसागर आदि से छपा है।

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्।। रघु० ४.२९।।

अर्थान्तरन्यास :

अर्थान्तरन्यास नामक अलंकार बहुत ही वैदग्ध्यपूर्ण अलंकार है। कालिदास साहित्य में इसकी सर्वाधिक उत्तम योजना मन्दाक्रान्ता वृत्त में लिखित मेघदूत में मिलती है। इस अलंकार में एक बात कहकर उसके समर्थन में दूसरी बात कही जाती है, जिससे यह उक्ति सुभाषित का रूप ले लेती है। मेघदूत के १११ पद्यों में से १७ पद्यों में यही अलङ्कार है। ये हैं ५,६,८,१०,१७,२०,२८,४१,५३,५४,७८,८५,९१,९८,९९,१०७ तथा १११ (प्रक्षिप्त)[१]। = इनमें से प्रसिद्ध उक्ति है– **'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा'** = 'याचना सदा उत्तम व्यक्ति से ही की जानी चाहिए, भले ही वह पूरी न हो। अधम से कभी नहीं, भले ही वह पूरी हो सकती हो'। इसी प्रकार दूसरी उक्ति है –

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।। मेघ० १०७।।

'कौन रहा है सदा सुखी और कौन सदा दुःखी। स्थिति तो ऊपर नीचे होती ही रहती है चक्रनेमि की नाँई।'

निदर्शना :

निदर्शना में दो असंबद्ध वक्तव्य होते हैं, अन्त में उनके बीच सादृश्य सम्बन्ध मान लिया जाता है। कालिदास का निम्नलिखित पद्य प्रसिद्ध है –

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।। रघु० १.२।।

'कहाँ तो सूर्य से चला वंश और कहाँ बहुत कम दूरी तक दौड़ने वाली मति। मैं डोंगे से दुस्तर समुद्र को पार करना चाह रहा हूँ।' इस वक्तव्य की परिणति होती है 'अल्पविषया मति से सूर्यवंश का वर्णन वैसा ही है जैसा डोंगे से दुस्तर समुद्र का पार किया जाना'।

रूपक :

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे।। रघु० १०.४८।।

---

१. अंक ५, ६ आदि के लिए देखिए मेघदूत कालिदासग्रन्थावली–२

रावण था अनावृष्टि। उससे झुलसी हुई फसल थे देवता लोग। उन पर वाणी की प्रथम वृष्टि कर कृष्ण (विष्णु रूपी) (कृष्ण) मेघ तिरोहित हो गया।

विशेषोक्ति :

वामन के अनुसार एकगुण की हानि के साथ अन्य का अन्य पर आरोप है विशेषोक्ति। कालिदास इस विच्छित्ति को भुलाते नहीं। वे राक्षसों को प्रलय समुद्र कहते हैं, किन्तु उसमें तरंग नहीं उठती' –

तस्मै कुशलसंप्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः।
भयमप्रलयोद्वेलादाचख्युर्नैर्ऋतोदधेः।। रघु० १०.३४।।

हिमालय पर ज्वलित दिव्य ओषधियाँ रात में प्रदीप का काम करती हैं बिना तैल भरे।

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः।। कुमार० १.१०।।

इस प्रकार की उक्ति को पण्डितराज जगन्नाथ ने दृढारोप रूपक कहा है। विशेषोक्ति के रूप में मम्मट आदि ने कारणसामग्री के रहते हुए भी कार्य का न होना स्वीकार किया है।

ये सब तो महाकवि कालिदास की अलंकृत शैली की कुछ बानगी हैं। इनमें उनकी असाधारण संरचना सुलभ है। वस्तुतः कालिदास का कोई भी भावबन्ध या वृत्त ऐसा नहीं जिसे वैचित्र्य या अतिशय से युक्त न कहा जाए। राजशेखर ने कहा है 'जिसमें प्रतिभा होती है उसे परोक्ष वस्तु भी प्रत्यक्ष सी दिखलाई देती है'। कालिदास इसके उदाहरण हैं। वे आकाश से उतरते समय ठीक वैसा ही चित्र उपस्थित करते हैं जैसा वायुयान से उतरते समय आज भी दिखाई देता है। दुष्यन्त आकाश से भूलोक आ रहे हैं तो वे कहते हैं–

'ऐसा लग रहा है कि कोई शक्ति पूरे भूण्डल को नीचे से ऊपर ढकेल रही है और वह हमारे पास आता जा रहा है। ऐसा लग रहा है कि पृथिवी पर्वतशिखरों से नीचे उतर रही है, क्योंकि वे धीरे–धीरे प्रकट होते जा रहे हैं। उनपर लगे वृक्ष पत्तों में ढँके थे, वे अब स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं, उनकी शाखाएँ दिखाई पड़ रही हैं। नदियों के लम्बे प्रवाह बीच से खण्डित थे वे अब जुड़ते जा रहे हैं–

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात् पादपाः।
संधानं तनुभागनष्टसलिलव्यक्त्या भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते।। शाकु० ७.८।।

चक्र घूम नहीं रहे हैं, अतः उनके अरों के अन्तराल में से चातक पक्षी निकलते दिखाई दे रहे हैं, अश्व विद्युतों के प्रकाश से और अधिक सुनहले हो गए हैं और चक्रनेमि जलसीकर से भीगी हुई है। हम निश्चित ही मेघमार्ग में मेघों पर चल रहे हैं—

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिर्हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः।।

(शाकु ७.७)

यह है कालिदास की स्वभावोक्ति। भूतल पर आ पहुँचा रथ, परन्तु चक्रनेमि रगड़ाई नहीं, धूल नहीं उड़ी और आवाज नहीं आई। मातलि से दुष्यन्त नहीं पूछता कि ऐसा क्यों? वह केवल विस्मय प्रकट करता है। किन्तु मातलि उत्तर देता है 'आयुष्मन् (तुम) और इन्द्र का इतना ही तो अन्तर है'। फिर दुष्यन्त पूछ देता है कि 'महर्षि मारीच का आश्रम कहाँ है।' मातलि हाथ से दिखलाते हुए बतलाता है—

'यह रहा भगवान् मारीच का आश्रम जहाँ यह तपस्वी तपस्या में इतना लीन है कि इसे दीमक के वमीठे ने आधा ढँक लिया है, इस पर लताप्रतान फैलकर पुराने पड़ चुके हैं, जिनमें साँप केंचुली छुड़ा चुके हैं, इन लताप्रतानों ने इस महर्षि का कण्ठ कसकर बाँध रखा है, इसकी जटाएँ कन्धों पर लटक रही हैं और उनमें पक्षियों ने घोंसले भी बना लिए हैं। देखो, यह तपस्वी सूर्यबिम्ब पर टकटकी लगाए एकदम निष्कम्प बैठा है, मानों स्थाणु हो' —

वाल्मीकार्धनिमग्नमूर्त्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थ—संपीडितः ।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
अत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ।। शाकु० ७.११ ।।

दुष्यन्त इस अत्यन्त कठोरतम कर रहे महर्षि को प्रणाम करता है। मातलि भी रथ से उतरता और कहता है—'ये है इन पूज्य ऋषियों की तपोवन भूमियाँ'। दुष्यन्त, जो अनुभव कर रहा था कि जैसे 'अमृतकुण्ड' में स्नान कर रहा है, विस्मित है और कहता है —

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया ।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यद् वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी।। शाकु० ७.१२।।

देखो तो कैसा है इनका जीवन? जहाँ उत्तम कल्पवृक्षों का वन, वहाँ क्या

सुलभ नहीं, किन्तु इन्हें देखिए, ये ऐसे तपस्वी कि केवल वायुसेवन कर प्राण बचाए हुए हैं।

जल खिले काञ्चनपद्म के पराग से कपिश हो गए हैं। उनमें विहार नहीं, अपितु पवित्र और पुण्यप्रद धार्मिक स्नान करते हैं ये। चिन्तामणि आदि रत्नों की चट्टानों से बने शिलागृहों में कर रहे हैं ये आत्मध्यान, घूम रही हैं आसपास दिव्यलोक की वनिताएँ (अप्सराएँ) जिनका भोग सुलभ है, किन्तु ये लगे हैं संयम = 'ध्यान, धारणा, समाधि' में। दूसरे तपस्वी जिसलिए किया करते हैं तप उसी परिसर और परिकर के बीच बैठकर ये निरत हैं तप में।'

शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में जो चार पद्य प्रतिष्ठित हैं उनकी तुलना में ऐसा लगता है कि सप्तमाङ्क के ये चार पद्य विश्वसात्हिय के अनुपम रत्न हैं। दो ही पद्यों से शाकुन्तल अविस्मरणीय बन गया है—एक —'या सृष्टिः' आदि नान्दीपद्य और दूसरा यह 'प्राणानामनिलेन'। जिस प्रपत्तियोग का नान्दीपद्य में 'प्रपन्नांस्तनु' इस प्रकार संकेत किया गया था, यहाँ इस पद्य के द्वारा सप्तम अंक में वही चरितार्थ दिखलाया गया। इसके भीतर जो अभिज्ञान है वह है 'ब्रह्माभिज्ञान'= 'अहं ब्रह्मास्मि' अभिज्ञान। यह अभिज्ञान भी शाकुन्तल का 'आत्माभिज्ञान' माना जाना चाहिए, जिससे बड़ी कोई उपलब्धि नहीं।

शाकुन्तल का संविधानक है तो राष्ट्रीय जिसकी चरम परिणति है राष्ट्र के उत्तराधिकारी भरत की उपलब्धि में, किन्तु वह वैयक्तिक आत्मकैवल्य का संदेश भी देता है। प्रथम अंक में बाल ब्रह्मचारी महर्षि कण्व और अन्तिम (सप्तम) अंक में मारीच महर्षि के आश्रम के तपस्वियों की उपलब्धियाँ वैयक्तिक आत्मकैवल्य के ही निदर्शन हैं। **'स्वातन्त्र्यसंभवम्'** में इसीलिए दोनों प्रकार के स्वातन्त्र्य को स्थान दिया गया 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता' तथा 'व्यक्तिगत मुक्ति'। व्यक्तिगत मुक्ति अनेक सेनानियों में दिखलाई गई, जो शहीद हुए उनमें भी और बालगंगाधर तिलक, योगिराज श्रीअरविन्द, माता मीरा आदि में भी जो मुक्ति प्राप्त कर चुके थे। पं० जवाहरलाल नेहरू जब मुक्त होने लगते हैं तो उन्हें इन पूर्ववर्त्ती मुक्तात्माओं की आकृतियाँ दिखाई देती हैं। इसीलिए शाकुन्तल का भरतवाक्य भी अलग प्रकार का है, जिसमें राजा और प्रजा के सौमनस्य की कामना की गई, उसके पश्चात् संस्कृतभारती को पूज्य मानने की बात कही गई और अन्त में कहा गया 'भगवान् मेरा भी पुनर्भव समाप्त करें' —

प्रवर्त्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।।

'कवि का विश्वास है कि उक्त दोनों सिद्धियाँ जिस साहित्य पर निर्भर हैं वह

वही साहित्य है जो संस्कृत भाषा में लिखा गया है और जिसे महिमामण्डित किया है श्रुतिओं (निगम तथा आगमों) ने।'

यहाँ भगवान् शिव को शिव न कहकर 'नीललोहित' कहा गया। शिव के लिए कुमारसंभव में भी यह पर्याय अपनाया गया है। ब्रह्मदेव ने देवताओं से कहा– 'तारकासुर यदि युद्ध के लिए उद्यत हो जाए तो उसका सामना कर कौन सकता है केवल नीललोहित के निषिक्त रेतस् के अंश को छोड़'–

संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः।
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहित–रेतसः।। कुमार० २.५७।।

'नीललोहित' शिव की विश्वोन्मुखी शक्ति का ध्यान दिलाता है। लोहित, कृष्ण और शुक्ल वर्णों में क्रम है–'शुक्ल > नील > लोहित > नील > शुक्ल'। इनमें जैसे 'नीललोहित' संज्ञा निहित है वैसे ही लोहितनील संज्ञा भी। लोहितनील प्रलयोन्मुख शिव हैं, जबकि नीललोहित सर्गोन्मुख। कवि की प्रार्थना इन्हीं सर्गोन्मुख शिव से है कि वे कृपा करें और मुझे पुनः सृष्टिचक्र में न डालें। अपुत्री की मुक्ति नहीं मानी जाती, अतः इस प्रार्थना में पुत्रप्राप्ति की प्रार्थना भी निहित है, जिसे 'वृद्धकुमारी–वर' जैसा कहा गया है (रघुवंशदर्पण ९.८०)। किन्तु राग जब कृष्ण भूमिका पर आरूढ होता है तब सृष्टि होती ही है। कालिदास ने ही इसके लिए अनेक प्रसङ्ग प्रस्तुत किए हैं।

(१) दशरथ रुरु अर्थात् कृष्ण मृग के पीछे दौड़े और तमसा नदी तक जा पहुँचे। वहीं उनसे अपराध हो गया और कुम्भ में पानी भरते मुनिकुमार पर उन्होंने शब्दवेधी बाण छोड़ दिया। मुनि ने शाप दिया कि 'तुम्हें भी पुत्रवियोग से ही शरीर छोड़ना पड़ेगा'–

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरङ्गमेण।।[१]

दशरथ को पुत्र नहीं था। इस शाप से उन्हें प्रसन्नता हुई यह सोचकर कि 'कम से कम पुत्र होगा तो'। वैसा ही हुआ भी।

(२) शकुन्तला पर दुष्यन्त आकृष्ट हुआ नीलवर्ण के भौंरे के माध्यम से कण्वाश्रम में पहुँचाया भी था कृष्णशार ने ही। उसे सर्वदमन भरत पुत्र के रूप में प्राप्त हुआ [२]।

(३) पुरूरवा उर्वशी पर आकृष्ट हुआ नवजलधर जैसे कृष्ण वर्ण के केशी

---

१. रघुवंश ९.७२–८०

२. शाकुन्तल में भ्रमरबाधा प्रकरण। अंक १ श्लोक २० से २८ तक

असुर के कारण। उर्वशी से ही पुरूरवा को 'आयु' नामक पुत्र प्राप्त हुआ [३]।

'नीललोहित' शिव को यहाँ दो अन्य विशेषण दिए (१) परिगतशक्ति और (२) आत्मभू। आत्मभू यानी स्वयम्भू यानी आत्मचैतन्य। उसके विना कोई क्रिया संभव नहीं, किन्तु वह तो ठहरा स्थाणु। उससे लाभ ही क्या? स्थाणु = ठूँठ में न अङ्कुर, न पत्र, न पुष्प। उसमें सृष्टि की क्षमता का आधान करने का श्रेय है 'शक्ति'—तत्त्व को। परिगतशक्तित्व इसी दिशा का दार्शनिक संकेत है। 'परिगतशक्ति' शब्द को दोनों प्रकार से समझा जा सकता है 'परिगत है शक्ति जिसके द्वारा' और 'परिगत है शक्ति के द्वारा जो'। परिगत यानी संपूर्ण रूप से घिरा हुआ या घिरी हुई। अब आगे कहने को शेष ही क्या है सृष्टि के लिए। इसी परिगतत्व को स्पष्ट करते हुए कालिदास ने रघुवंश का आरम्भ किया जिसमें जगत् के मातापिता को एकशेष समास में रखा गया और **भेदाभेदवाद की अनिर्वचनीयता का** स्वागत किया गया। **स्वातन्त्र्यसंभव** में दम्पती के इस भेदाभेद को रसकुल्या कहा गया —

भेदादभेदं प्रतिपद्य भेदं पुनर्व्रजन्ती रसकुल्यकेव।
दाम्पत्यधारा कमलाशिरासु जवाहरस्याप विवर्त्तनानि।। ५.७८।।

'पहले भिन्न, पश्चात् अभिन्न और पुनः भिन्न रसधारा सी जो दाम्पत्यधारा कमला की नाडियों में विद्यमान थी उसमें स्वयं जवाहरलाल विवर्त्तित हुए'। इस विवर्त्त में स्त्री और पुरुष का विशिष्ट मिश्रण करने वाला कौन? स्वातन्त्र्यसंभवकार का उत्तर है 'प्रजापति' — 'पितामह'

तां रक्तधारायुगलीं नमामः पितामहेन प्रविमिश्र्यमाणाम्।
तरङ्गमालामिव राजहंसी चितिस्त्रिवेणीयति यां प्रविश्य।। ५.७७।।

दाम्पत्य की यह रक्तधारायुगली ही बन जाती है त्रिवेणी, जब इसमें एक तीसरी धारा आ मिलती है। यह धारा होती है चिति की। पहले यह चितिधारा तरङ्गमाला में राजहंसी बनती और पश्चात् उसी में हो जाया करती है प्रविष्ट/निलीन। 'तत् सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्' की कितनी स्फीत व्यक्ति है यहाँ। स्वातन्त्र्यसंभव के पञ्चम सर्ग के २–१८ पद्य और ६६–८० पद्य मननीय भी हैं और रसनीय भी 'सिसृक्षा' और 'उसके प्रभाव' के विषय में। इसी बीच लम्बा मधुमास वर्णन सौन्दर्य और शृङ्गार की अनोखी रूपणा है।

---

३. विक्रमोर्वशीय में प्रथम अंक श्लोक ४ से आगे पूरा नाटक। कुमार आयु के यौवराज्य का वर्णन कवि ने पञ्चम अंक में विस्तारपूर्वक किया है—

आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता।। विक्र० ५.२३।।

भाविकालङ्कार

कविता का वैभव वहाँ प्रकट होता जहाँ शब्द से अर्थ इस रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं कि वे मानों आखों के समक्ष आ खड़े हों। कालिदास में यह कौशल कुमारसंभव के अष्टम सर्ग में उभरा और निखरा है। इस सर्ग में पहले वर्णन हुआ सूर्यास्त का फिर वर्णन हुआ अन्धकार का और तब वर्णन आया चन्द्रोदय का। शिव एक मास तक हिमालय के ही भवन में नवोढा उमा के साथ रहे। फिर निकले सास—ससुर की अनुमति ले बाहर और पहले पहुँचे मेरु पर। वहाँ उन्हें आकाशगङ्गा का आनन्द भी मिला। वहीं नन्दनवन में भी शिव ने पार्वती का शृङ्गार पारिजात पुष्पों से किया, जिसका लाभ केवल इन्द्रपत्नी शची को मिलता रहा। अनन्तर वे गन्धमादन गिरि पर आए। यहाँ हुई शाम। २९ से लेकर ५४वें पद्य तक सन्ध्या का नितान्त बिम्बग्राही और सूक्ष्म वर्णन कर ५५वें पद्य से सुकवि ने आरम्भ किया अन्धकार का वर्णन। ५७वें पद्य तक अन्धकार का यह सूक्ष्मतम वर्णन कर कवि ने अपनाया ५८वें पद्य से चन्द्रोदय का चित्रण ७४वें पद्य तक। ७५वें पद्य में वर्णन किया गन्धमादनगिरि की वनदेवी द्वारा पार्वती को लाल रंग की सूर्यकान्तमणि के पात्र में रखकर कल्पवृक्षमधु अर्पित करने का। शिवजी अनुरोध करते हैं इस मधु का पान कर लेने का और पार्वतीजी उनका यह अनुरोध स्वीकार कर उसका पान कर लेती हैं। अब वे दोनों के वश में हैं शिव जी के भी और मद के भी (७९)। इसके पश्चात् अन्तिम पद्य ९१ तक शिव और शिवा के समागम का हृदयहारी वर्णन है जो दिनरात सौ ऋतुओं (वर्षों) तक चला और ऐसा लगा कि तब तक केवल एक ही रात निकली थी। शिव की प्यास बुझी नहीं इतनी लम्बी अवधि में भी। कवि ने इस स्मरण के साथ कुमारसंभव का यह अद्वितीय सर्ग समाप्त किया कि 'क्या समुद्र के भीतर की अग्नि समुद्र की अपार जलराशि पीकर भी वितृष्ण होती है?

इस संपूर्ण वर्णन को यदि एक वाक्य की उक्ति कहा जाए तो इसे एक दृश्य आलेख कहना होगा जिसमें न छूटेगी गति और न छूटेगा रस।

देखिए यह दृश्य— *'परिपक्व फलिनी (हरफारेवड़ी) के फल जैसे पीले पीले चन्द्रबिम्ब ने एक साथ सुशोभित कर रखा है, आकाश को भी और सरोवर के जल को भी, ठीक वैसे ही जैसे विछुड़कर दूर जा बैठे चक्रवाक और चक्रवाकी ने—*

पश्य पक्वफलिनीफलत्विषा बिम्बलाञ्छितवियत्सरोऽम्भसा।
विप्रकृष्टविवरं हिमांशुना चक्रवाकमिथुनं विडम्ब्यते।। कुमार० ८.६१।।

स्मरणीय है कि यहाँ दोनों ही प्रस्तुत हैं दो चन्द्रबिम्ब और दो चक्रवाक पक्षी। दो चन्द्रबिम्बों में एक आकाश में और दूसरा सरोवर के जल में। चक्रवाकपक्षियों में से

एक इस तट पर और दूसरा उस तट पर। चन्द्रबिम्ब का रंग वही जो चक्रवाक का। एक तीसरी वस्तु भी यहाँ प्रकट है—'चन्द्र के बिम्ब और प्रतिबिम्ब के बीच के महदाकाश के ऊपर सरोवर की कल्पना।' कितना सूक्ष्म और अर्पक है यह बिम्बविधान कालिदास का।

सूर्य पश्चिमदिगन्त में लटका हुआ है और उसकी परछाँई तलाब के जल में यहाँ से वहाँ तक फैली हुई है। ऐसा लग रहा है कि सूर्य ने सरोवरों के जलाशयों पर सोने के सेतुबन्ध बाँध दिए हैं—

पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे! विवस्वता।
दीर्घया प्रतिमया सरोऽम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम्।। कुमार० ८.३४।।

इसी संदर्भ में अन्धकार की परिवृद्धि पर भी कवि की दृष्टि है, जिसमें युगीन समाजदृष्टि का भी संकेत देखा जा सकता है। कवि कह रहा है —

'रात' और 'दिन' दोनों की सन्धि का प्रकाश सुमेरु ने रोक लिया तो यह खुक्क अंधकार निरङ्कुश होकर दिशाओं में छाने लगा है। न ऊपर कुछ भी सूझता, न नीचे, न आसपास, न आगे, न पीछे। तिमिरौघ से घिरा सारा संसार इस समय रात में गर्भवास का अनुभव करता दिखाई दे रहा है —

यामिनीदिवससन्धिसंभवे तेजसि व्यवहिते सुमेरुणा।
एतदन्धतमसं निरङ्कुशं दिक्षु दीर्घनयने विजृम्भते।। कुमार० ८.५५।।

नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः।
लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्त्तते निशि।। कुमार० ८.५६।।

इसका परिणाम क्या? यह कि गुण की कोई पूछ नहीं, सभी केवल समान—

शुद्धमाविलमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत्।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ् महत्त्वमसतां हतान्तरम्।। कुमार० ८.५७।।

'कवि ने इसे असद् व्यक्तियों का प्रभुत्व कहा और धिक्कारा यह कहते हुए कि 'इसमें जो शुद्ध और सफेद है और जो मलिन तथा काला, वे दोनों एक जैसे हैं। इसी प्रकार जो नैष्ठिक या स्थिर (बुद्धि) है और जो चल है वे भी, जो वक्र है और जो सीधा उनमें भी कोई भेद नहीं रह गया है।' यही है वह स्थिति जो गुणों की ओर उन्मुख नहीं होने देती और राष्ट्र पिछड़ा पड़ा रहता है। कितनी मार्मिक है यह उक्ति, कितनी सही है इसकी पीड़ा और अवश्य ही कवि ने इसे अनुभव किया था। इसी को अनुभव किया था महर्षि वेदव्यास ने और आदिकवि वाल्मीकि ने।

कहा जाता है कि विद्या वही आकर्षक होती है जो दुधारु धेनु हो, अर्थकरी हो। परन्तु तब राष्ट्रीय संविधान में पढ़ना लिखना और विशेषज्ञ बनना धनी व्यक्ति के लिए अनिवार्य होना या कर दिया जाना चाहिए। आरक्षण उन विद्याओं के लिए भी

किया जाना चाहिए जो कठिन और तप:साध्य हैं । इक्कीस सौ वर्ष पहले यदि यह अनुभव किया गया तो इतिहास पर उभरे चित्रों पर विचार किया जाना चाहिए कि उनमें मानवसृष्टि के किस वर्ग ने इस घातक प्रवृत्ति के विषय में क्या निर्णय लिया। क्या **'सर्वः सर्वत्र नन्दतु'** का राष्ट्रीय संकल्प चरितार्थ हो सका इस सुदीर्घ अवधि में? क्या **'निष्कारणो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** विधान पर भी ध्यान गया इस सुदीर्घ कालावधि में? यह भी देखा जाए कि पृथिवी के कितने राष्ट्रों की जनता का मस्तिष्क इस ओर झुका। बड़ी ही दर्दनाक और शर्मनाक रही है स्थिति अदूरदर्शी मानव की इस दिशा में बीती सहस्राब्दी के बीच; सहस्राब्दी ही क्यों, वर्त्तमान शताब्दी के बीच। युग दूरदर्शन का है। देखा जाए कि आज के एक या दो दशक कैसे बीते? दूरदर्शी मानव, महाविनाश से विश्व की रक्षा में कारगर कदम उठाने वाले राष्ट्र और राष्ट्राध्यक्षों का क्या हुआ? 'परमाणुअस्त्रों को फ्यूज' कराने वाले विश्वनेताओं को किस राष्ट्र ने कितना सम्मान दिया? उनका यह अभियान अत्यन्त शुभ, अत्यन्त माङ्गलिक और आदरयोग्य था। लगता है कालिदास ने जिन्हें इक्कीस सौ वर्ष पहले धिक्कारा था वे प्रवृत्तियाँ आज भी विद्यमान और सक्रिय हैं। दस्युतावादी भोग आज भी फैला है। घात और प्रतिघात का क्रूर और बर्बर स्वर सुनाई ही दे रहा है। आक्रामक और आक्रान्त विश्वन्यायालयों में समान बल के साथ खड़े हैं और अपने पक्ष को सही सिद्ध करने में लगे हैं। अधिकार पाने की होड़ में लगे भाइयों की भी यही स्थिति है। स्वातन्त्र्यसंभवम् के नए अठ्ठाईसवें सर्ग में कहा गया —

भावी त्वं मयि सति किं नु संप्रभुः,
स्यां नाहं चेत् त्वमपि कथं नु तर्हि भावी।। (२८.३ पूर्वार्द्ध)
'मेरे रहते तू कैसे होगा मुख्य,
यदि मैं नहीं होता तो तू भी कैसे होगा नेता'

ऐसी स्थिति में लाभ किसी और को ही मिलता है —

इत्येवं स्व—पर—परस्पराभियोगध्वस्तानां
भवति सदाऽन्य एव नेता।। (२८.३ उत्तरार्द्ध)

'ये लोग एक दूसरे पर अभियोग लगा लगाकर हो जाते हैं ध्वस्त और, कोई और ही बनता है इनका नेता'।।

आत्माहुति

इसके विरुद्ध मानवीयता की उत्कृष्टतम भूमि का भी महाकवि को सम्यक् स्मरण है। यह भूमि है उपलब्ध 'शरभङ्ग'— नामक महर्षि की 'आत्माहुति' से। आकाशमार्ग से अयोध्या लौट रहे राम 'शरभङ्ग'—नामक महर्षि का तपोवन दिखला

कर कहते हैं–'यह है महर्षि शरभङ्ग का तपोवन। शरभङ्ग महर्षि ने लम्बे अरसे तक यज्ञयागादि से अग्नि को तृप्त किया और अन्त में मन्त्रों से पवित्र कर अपने शरीर की भी यज्ञाग्नि में आहुति दे[१] दी' –

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः।
चिराय संतर्प्य समिद्धिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत्।। रघु० १३.४५।।

वाल्मीकि रामायण में महर्षि सुतीक्ष्ण, शबरी और महर्षि अगस्त्य भी अपने शरीर की आहुति देते हैं। अहिंसापरायण जैन तपस्वी के तप की अत्युत्कृष्ट सिद्धि मानी जाती है, यदि उसके स्थूल शरीर में क्रिमि पड़ जाएँ और उसे खा जाएँ। शरभङ्ग की तपस्या इतनी ऊँची थी कि उन्हें स्वर्ग ले जाने हेतु स्वयं इन्द्र रथ लेकर उपस्थित हुए। महर्षि ने इन्द्र से कुछ ठहरने का अनुरोध किया यह कहते हुए कि 'मुझे श्रीराम के मानुष शरीर के दर्शन करने हैं, वे आने ही वाले हैं।' तभी तक श्रीराम पहुँच गए। सूचना मिलते ही इन्द्र छिप गए और सुतीक्ष्ण ने एकान्त में उनके दर्शन किए। उसके बाद वे इन्द्र के साथ गए। यह घटनापूर्ण कथा भी मनुष्य के स्थूल शरीर का महत्त्व सिद्ध करती है। वाल्मीकीय रामायण का यह अंश अत्यन्त मार्मिक आौर संवेदनशील अंश है। आत्माहुति की ये कथाएँ इस युग में भी दोहराई गई हैं। **सन्त विनोवा** का देहत्याग ऐसी ही घटना है। स्वातन्त्र्यसंभवम् में २७.२२–२९ पद्यों में सन्त विनोवा भावे का यह ऋषित्व विधिवत् वर्णित है। शरीर छोड़ने हेतु आरम्भ किए उनके अनशन को प्रधानमन्त्री इन्दिरा भी नहीं छुड़वा सकीं (२७.२९)। यह भी एक उच्च और उदार आदर्श है इस युग का। सुभाषचद्र बोस ने भी प्राणों की आहुति ही दी थी। भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद और रामप्रसाद विश्मिल का प्राणदान आत्माहुति ही थी। स्व० लालबहादुर शास्त्री का बलिदान भी हमारी दृष्टि में आत्मबलिदान था[२]। अन्त में भारत के युवक प्रधानमन्त्री (भूतपूर्व) का मानवबम से घात भी इसी कोटि में गिना जा सकता है। प्रकारान्तर से ये घटनाएँ रामायण या रघुवंश के उज्ज्वल आदर्शों की पुनरावृत्ति ही हैं।

रघु ने वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना चाहा तो राज्य का दायित्व अपने पुत्र अज को देने का निश्चय किया। अज ने उसे स्वीकार कर लिया, किन्तु भोगेच्छा से नहीं, अपितु पिता की आज्ञा से। इसी राज्यलाभ के लिए कितने ही पुत्र पिता का

---

१. द्रष्टव्य हमारा काव्य 'शरभङ्गम्', कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी

२. **'स्वातन्त्र्यसंभवमहाकाव्यम्'** सर्ग–१९। प्रकाशकद्वय–

(१) १–२८ सर्ग (मूलमात्र)–कालिदाससंस्थान, २८महामनापुरी, वाराणसी–५, १९९०ई०.

(२) १–३३ सर्ग (हिन्दी अनुवादसहित) विशेषकार्याधिकारी, प्रकाशनकक्ष, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी, २००१ ई०.

वध कर चुके थे। महाकवि ने लिखा —

दुरितैरपि कर्तुमात्मसात् प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत्।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया।। रघु० ८.२।।

सतीप्रथा तो प्रसिद्ध ही है जिसमें कोई सती साध्वी अपने पति के साथ जीते जी चिताग्नि का वरण कर लेती है, किन्तु पत्नी के लिए शरीर छोड़ने वाले पति का उदाहरण उपस्थित किया रघु के पुत्र अज ने। अज को स्वयंवर सभा में जिस इन्दुमती ने वरण किया था वह थी 'हरिणी'—नाम की अप्सरा। शापवश उसे मनुष्ययोनि में जन्म लेना पड़ा था। *शाप की अवधि थी स्वर्गलोक के पुष्प के दर्शन तक की।* इन्दुमती ने दशरथ को जन्म दिया। जब वे कुछ बड़े हुए तो अज अपने उद्यान में विहार करने हेतु इन्दुमती के साथ निकले। उसी समय देवर्षि नारद आकाश मार्ग से भगवान् गोकर्णेश्वर के दर्शन के लिए चले। उनकी वीणा में लगी हुई थी नन्दन वन के देववृक्षों के पुष्पों की माला। वायु के वेग से वह गिरी और इन्दुमती के हृदय पर लगी। वह माला दिखाई दी कि इन्दुमती निश्चेष्ट होकर गिरी तो गिरी ही गिरी। उसके प्राण पखेरू उड़ गए। मूर्च्छा अज को भी आई, किन्तु उन्हें होश आ गया और 'गङ्गासरयूसंगम' पर आठ वर्ष के बाद अन्नजल छोड़कर शरीर से छूट गए। आठ वर्षों में दशरथ कवच धारण करने योग्य हो गए थे। शरीर त्यागकर अज स्वर्ग पहुँचे और कालिदास का कहना है कि वे पुनः इन्दुमती से जा मिले। इस बार की इन्दुमती पहले की अपेक्षा अधिक कान्तिमती थी। नन्दन नामक देवोद्यान में उन्होंने पर्याप्त विहार किया। अज इस बीच गम्भीर रूप से अस्वस्थ भी हो गए थे जिससे उन्हें अनशन करने का अधिकार प्राप्त हो गया था।

कवि कालिदास ने एक ओर तो कुलगुरु महर्षि वसिष्ठ के शिष्यों से कहलवाया कि 'आपका विलाप करना व्यर्थ है, इससे क्या, आप यदि इन्दुमती के लिए शरीर छोड़ भी दें तो वह आपको मिलेगी नहीं, क्योंकि परलोक गए प्राणियों के मार्ग अलग अलग हुआ करते हैं। इन्दुमती किस मार्ग से कहाँ गई यह किसी को भी ज्ञात नहीं'—

रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नाऽनुमृतापि लभ्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्।। रघु० ८.८५।।

महर्षि वसिष्ठ के शिष्यों का यह कथन अज के गले नहीं उतरा और वह लौट कर महर्षि वसिष्ठ के ही पास जा पहुँचा था —

स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम्।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः।। रघु० ८.९२।।

परन्तु दूसरी ओर कवि का हृदय साथ है अज के। उसने शास्त्रसंमत न होते

हुए भी अज को स्वर्ग में भी इन्दुमती से मिला ही दिया। प्रीति कितनी प्रिय है कालिदास को ?

अज इन आठ वर्षों में अस्वस्थ भी हो गए थे। उन्हें कोई ऐसा रोग हो गया था जो असाध्य था, अत: उन्हें अनशन कर शरीर छोड़ने का अधिकार भी प्राप्त हो गया था। दिवंगत पत्नी के लिए पति द्वारा शरीर छोड़ने का यह प्रतिमान कालिदास साहित्य की प्रणयी–विश्व के लिए स्मरणीय देन है।

भारतीय विश्वास है कि शरीर यदि अनशन से छोड़ा जाए तो सद्गति होती है। पिछली दशाब्दी मे आचार्य विनोवा भावे ने यही किया। जब उन्हें यह निश्चय हो गया कि वे बचने वाले नहीं हैं तो उन्होंने अन्न जल छोड़ दिया। शरीर छूटने तक वे उपवास ही करते रहे। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने स्वयं पहुँचकर अनशन छोड़ देने का अनुरोध किया, किन्तु वे अपने निश्चय पर अडिग रहे और शरीर छोड़ दिया। आचार्य के इस अवदान का हमने अपने 'स्वातन्त्र्यसंभवम्' में सादर उल्लेख किया है (सर्ग–२७ श्लोक २२–२९) –

नैवेन्दिरामनशनव्रततो विरन्तुं निर्बन्धिनीमयममानयदन्तकाले।
प्रायोपवेशपरिमुक्तशरीरबन्धा मुक्तिं प्रयान्ति मनुजा इति निश्चितार्थः।।

'जब अन्तकाल आया तो विनोवाजी ने अनशन तोड़ने का हठ कर रही इन्दिरा को भी मान नहीं दिया। उन्हें यह निश्चय था कि मनुष्य प्रायोपवेश से शरीर छोड़ दे तो उसकी मुक्ति हो ही जाती है।' (२७.२९)

कवि राजसत्ता से ऊपर

महाकवि कालिदास का एक सन्देश यह भी है कि कवि की सत्ता राजसत्ता से ऊपर होती है, कारण कि संविधान का स्वरूप कवि ही निर्धारित करता और समाज को धर्म का उपदेश भी कवि ही देता है, विशेषत: उस समय जब धर्म में अपवाद का आदर आवश्यक हो।

अयोध्या से राम ने सीता को जनभावना का आदर करते हुए हटाया। परन्तु प्राणदण्ड तो दिया नहीं, अत: प्रश्न उपस्थित था राज्यनिर्वासित के निवासस्थान का। वह व्यक्ति कहाँ रहे? जहाँ रहेगा वहाँ भी शासन, निकालने का आदेश देने वाले शासक का ही रहेगा। यह स्थिति तो वैसी ही होगी कि अपने ही घर में एक कमरे से हटाए व्यक्ति को उसी घर के किसी अन्य कमरे में स्थान देना। राम ने स्वयं निर्णय लिया कि सीता को वाल्मीकि महर्षि के आश्रम के पास तक पहुँचाकर छोड़ दिया जाए। **'प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम्'** (रघु० १४.४५) इसका अर्थ यह हुआ कि वाल्मीकि–आश्रम रामराज्य के बाहर है। राम माने राजा। वाल्मीकि माने निर्माता कवि। राजा छोड़े और कवि बचाए। ऐसी ही स्थिति पैदा हुई यहाँ। आश्चर्य की बात यह कि

कवि को यह अधिकार स्वयं राजसत्ता की ओर से मिल रहा है। राम स्वयं प्रस्ताव कर रहे हैं कि 'सीता को वाल्मीकि–आश्रम के पास छोड़ दिया जाए।'

लक्ष्मण ने वैसा ही किया और क्षमाप्रार्थना की कि 'मैं राजा राम का अनुशासन तोड़ नहीं सकता।' लक्ष्मण स्वयं सीता को छोड़कर महर्षि वाल्मीकि के पास नहीं गए। कदाचित् वे लक्ष्मण को सीता को लौटा ले जाने का आदेश दे देते और तब लक्ष्मण असमञ्जस में पड़ जाते। स्वयं वाल्मीकि ने ध्यान किया और सीता के परित्याग का हेतु जान लिया। उन्होंने जान लिया कि राम ने जनापवाद से क्षुभित होकर यह निर्णय लिया है और यह भी जान लिया कि वह अपवाद झूठा है, तब भी उन्होंने राम से उसके मार्जन का अनुरोध नहीं किया और सीता की पूरी व्यवस्था यह कहते हुए कर दी कि बेटी! यह समझो कि तुम तुम्हारे पिता महाराज जनक के ही घर आई हो।' सीता को दो पुत्र हुए। उनका भी संस्कार स्वयं महर्षि ने किया और उन्हें अपना काव्य याद कराया। उसका गान सुन राम ने पूछा कि यह काव्य किसकी कृति है और तुम दोनों को गाने की शिक्षा किससे प्राप्त हुई है तो बालकों ने एक ही उत्तर दिया 'महर्षि वाल्मीकि' अर्थात् रामायण के रचयिता और हमें संगीतशिक्षा देने वाले–दोनों हैं महर्षि वाल्मीकि। वाल्मीकि जी राम के अश्वमेध में स्वयं अयोध्या में उपस्थित हैं। वे कुश और लव दोनों को राम के पुत्र बतलाते हैं। राम का हृदय कृतज्ञता से आप्लावित है। केवल अपना शरीर छोड़ राम वाल्मीकि जी को अपना सर्वस्व अर्पित कर देते हैं, किन्तु कवि थे कारुणिक। उन्होंने राम से सीता को अपना लेने का सामाजिक अनुरोध किया–

स तावाख्याय रामस्य मैथिलेयौ तदात्मजौ।
कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः संपरिग्रहम्।। रघु० १५.७१।।

श्रीराम ने शर्त रखी 'सीता अपने चरित्र की शुद्धि पर जनता को आश्वस्त कर दे तो मैं उसे और उसके इन दोनों पुत्रों को स्वीकार कर लूँगा'।

महर्षि वाल्मीकि ने अपने शिष्यों से सीता को बुलवाया और कहा 'पुत्रि! तुम अपने पति के समक्ष लोक का तुम्हारे चारित्र के विषय में जो संशय है उसे दूर करो'–

तां दृष्टिविषये भर्त्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः।
कुरु निस्संशयं वत्से! स्ववृत्ते लोकमित्यशात्।। रघु० १५.७९।।

सीता ने माता पृथिवी से प्रार्थना की–'मातः! मैं वाणी, मन और कर्म से अपने पति के प्रति एकनिष्ठ रही होऊँ तो मुझे अपने भीतर ले ले' –

वाङ्मनःकर्मजः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।
तथा विश्वम्भरे देवि! मामन्तर्धातुमर्हसि।। रघु० १५.८१।।

इतना कहते ही पृथिवी फटी, नागफणा के ऊपर अवस्थित सिंहासन पर बैठी माता पृथिवी प्रकट हुई और सीता को गोद में ले पाताल में समा गई, राम 'नहीं नहीं' कहते रह गए। —

तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी ।
समुद्ररसना साक्षात् प्रादुरासीद् वसुन्धरा ।।
सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् ।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन् पातालमभ्यगात् ।।

(रघु० १५.८३–८४)

राम को पृथिवीमाता पर क्षोभ हुआ तो कुलगुरु वसिष्ठ ने उन्हें शान्त कर लिया।

इस पूरे घटनाचक्र में कवि की भूमिका विधाता की भूमिका है। उसने अपने आश्रम को काव्य के माध्यम से अयोध्या से जोड़ा और अयोध्या की भूमि में ही सीता का लीलासंवरण कराया। विघटन के विरुद्ध खड़ी हुई स्वरमयी कविता और उसने समाज के दूषित विकल्पों में सत्य और शुचि संकल्पों की सृष्टि की। यह कार्य राम नहीं कर सकते थे, वे राजा थे ओर अभियुक्त भी। उनका शासन भी इस प्रकार के चित्तसंशोधन में समर्थ न होता, क्योंकि उसमें विधि की भाषा को महत्त्व मिला रहता है या निषेध की भाषा को। उसमें विमर्श और विश्वास, आदर और संप्रत्यय का कोई स्थान नहीं। निष्कर्षत: कवि राजा की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र और प्रमाणपुरुष है। यदि शासक के ही ऊपर अभियोग हो तो निर्णायक कौन होगा ? उत्तर है 'कवि'। आज राम को अयोध्या का उत्तराधिकारी प्राप्त है और जीवन की चरितार्थता भी। किसके प्रसाद से हुआ यह ? स्पष्ट 'कवि के प्रसाद से'। भारतभूमि में वर्त्तमान युग में यही स्वप्न देखा था काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के निर्माता पं० मदनमोहन जी मालवीय और शान्ति निकेतन के संस्थापक कविवर रवीन्द्रनाथ ने। काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के दो कुलपतियों ने तत्कालीन भारत के विश्वप्रतिष्ठ प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू का उनके सामने ही प्रतिवाद किया था, एक सर् सर्वपल्ली राधाकृष्णन्[१] और दूसरे आचार्य नरेन्द्रदेव[२]। सर राधाकृष्णन् उस समय उपराष्ट्रपति थे और उन्हें राष्ट्रपति पद की सीढ़ी चढ़नी थी। प्रधानमन्त्री भी इतने सरल और उदार थे कि उन्होंने अपने प्रतिवाद के पीछे के सत्य को महत्त्व दिया।

---

१. डॉ० राधाकृष्णन् ने रामकृष्णमिशन के सभागार के उद्घाटन के समय अध्यक्ष पद से।
२. आचार्य नरेन्द्रदेव ने काशीहिन्दूविश्वविद्यालय की एक छात्रसभा में ।

व्यक्ति—स्वातन्त्र्य

इस प्रकार की स्वतन्त्रता कालिदास को भुलाए नहीं भूलती। जब कुश के पुत्र अतिथि का राज्याभिषेक हुआ तो उसने जो पहला कार्य किया वह था 'स्वतन्त्रता' का कार्य। उसने (१) जो कैद थे उन्हें कैद से मुक्त किया, (२) जो वधार्ह थे उन्हें वध से बचाया, (३) बैलों के कन्धों से जुए उतरवाए और (४) गायों का दुहना बन्द कर दिया (रघु० १७.१९) यहाँ तक कि शुक आदि जो क्रीडापक्षी पिंजरों में बन्द थे उन्हें भी मुक्त करा दिया और वे यथेष्ट दिशा में उड़ सके (रघु० १७.२०)। कवि के स्वयं के शब्दों में —

बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम् ।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद् गवाम् ।।
क्रीडापतत्त्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः ।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद् यथेष्टगतयोऽभवन् ।। रघु० १७.१९—२०।।

इस प्रकार स्वातन्त्र्य प्रेम राजतन्त्र का भूषण कहा जाएगा। 'गायों का दूध उनके प्रसवों के लिए छोड़ देना' कितनी बड़ी दूरदर्शिता है। बैलों के कन्धों पर से जुए उतरवाना कृषिप्रधान राष्ट्र में अद्भुत घटना है। इसका अर्थ पशुधन के भी श्रम का नियन्त्रण किया जा सकता है। पशु हो या मनुष्य स्वस्थ शरीर उनकी संपत्ति है और वे संपत्ति हैं राष्ट्र की।

स्वतन्त्रता का एक भेद वाणी की स्वतन्त्रता भी है। सीता एक वर्ष राम से अलग रावण के यहाँ रहीं। इस घटना के आधार पर लोकमानस में गलत विचार भी उठ ही सकते थे। यदि वे उठे तो गलत क्या हुआ? जो व्यक्ति लंका में सीता की वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ है उसकी इस प्रकार की शंका का उत्तर ही क्या? यहाँ शंका और विश्वास की टक्कर थी। इसका एक उत्तर राम के द्वारा राज्य का हस्तान्तरण भी था, किन्तु उससे सीता की शुचिता सिद्ध न होती। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता कि 'राम सीता को पवित्र मानते हैं'। इसके लिए तो वे सीता की अग्निपरीक्षा ले ही चुके थे। प्रश्न था लोकधारणा का। इसके लिए 'जानकीजीवनम्' में मित्रवर डॉ०राजेन्द्र मिश्र ने एक उपाय प्रस्तुत किया और एक उपाय 'उत्तरसीताचरितम्' में हमने। डॉ० मिश्र ने गलत अफवाह उड़ाने वाले अपराधी को राम के समक्ष सभा में प्रस्तुत किया और उससे उसकी गलती स्वीकार करवाई, फलतः सीता के परित्याग का प्रश्न ही नहीं उठा। हमने इस समाधान में सीता के परिनिर्वाण का प्रश्न छूटा देखा। अतः उन्हें अयोध्या से दूर कराया और वहीं दिखलाया उन्हें योगसाधना द्वारा भूमि में प्रविष्ट। 'उत्तरसीताचरितम्' के दशम सर्ग में यह घटना बड़ी ही संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत है। महाकवि कालिदास ने भी यही मार्ग अपनाया। परन्तु, महत्त्व की बात यह है कि झूठी अफवाह पर किसी प्रकार की रोक नहीं लगाई। भाषण ओर अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को महाकवि ने भी बरकरार रखा, न छुआ न खण्डित किया। भवभूति

ने इस लोकापवाद की खबर लाने वाले सेवक को 'दुर्मुख' कहकर उसकी दुष्टता को अभिव्यक्त किया, किन्तु कालिदास ने उसके विरुद्ध कोई भी टिप्पणी करना उचित नहीं माना। यह उनकी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है।

रघुवंश के १५वें सर्ग में एक ब्राह्मण का बालक पुत्र नहीं रहा तो वह राम के द्वार पर जाकर कहता है—'हे पृथिवी! तू बड़ी ही शोचनीय है जो दशरथ के हस्त से गिरी ओर राम के हाथ में आ पड़ी' (१५.४३) राम ने उसके कष्ट का हेतु सुना और उसका निराकरण किया। वे स्वयं पर किए अधिक्षेप पर नाराज नहीं हुए।

स्पष्ट है कि कालिदास प्रत्येक व्यक्ति में निर्भीकता भी देखना चाहते हैं।



समस्याओं का सफल समाधान (यम, नियम)

समस्याओं का सफल समाधान है 'यम' और 'नियम' का पालन। यम है **'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य** और **अपरिग्रह'** (पा.यो.सू. २.३०) इसी प्रकार नियम हैं **'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान'** (पा.यो.सू. २.४०)। महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सभी का प्रतिपादन किया है।

१. यम

(i) अहिंसा

हिंसा का अर्थ है घात यानी स्थूलशरीर का नाश यानी विश्वविनाश। किसी भी राष्ट्र को क्या यह मान्य हो सकती है? क्या कोई भी साहित्यकार इससे घृणा नहीं करेगा? महाकवि कालिदास भी हृदय से उन्मुख है अहिंसा के प्रति। हिंसा होती है द्रोह से। अहिंसा का लक्षण महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में दिया–'सर्वथा सर्वदा सर्वभूताऽनभिद्रोह:' = अर्थात् 'सभी भूतों (जड जङ्गम) के साथ कायिक, वाचिक और मानसिक, अणु और महद् दोनों प्रकार के अभिद्रोह की तीनों कालों में वर्जना। अर्थ यह कि अहिंसा एक मानसिक प्रतिपत्ति और आन्तरिक प्रवृत्ति है। उसी का होता है परिणाम बाह्य हिंसा। कालिदास इस प्रकार की अहिंसात्मक प्रवृत्ति के बलवत्तर पक्षधर हैं।

[१] महाकवि कालिदास कितने ही पुराने 'कल' के तो कवि हैं ही, वे नितनवीन और चिरनूतन 'आज' के साथ भी समरस हैं। उनकी प्रतिभा वह हेमपर्णा हंसी है जो सामयिकता और शाश्वतता के दो स्वर्णिम डैनों पर उड़ती है, और उस अन्तरिक्ष में उड़ती है जिसकी व्याप्ति काल–कवल नहीं, कालातीत है। उनकी वाणी संवादमयी है। उसके निर्मल पट के पीछे कोई ऐसी चेतना छिपी है जो हमारे सुख–दु:ख, आशा–निराशा, व्यथा–सन्ताप और अन्तरतम तड़प का स्पर्श कर रही है, उसके पीछे छिपा कोई महान् दुष्यन्त हमारी चेतना की व्याकुल शकुन्तला को अनुकूल संवाहन दे रहा है, हलकी थपकियाँ दे सुला रहा है।

आज की प्रमुख समस्या है–युद्ध ओर रक्तपात। अस्त्र–शस्त्रों की अविश्रान्त प्रतिद्वन्द्विता से युद्ध की कालदंष्ट्रा विश्वमानव को दिनों–दिन और भी पास आती

---

१. ज्ञानोदय, वर्ष–१९, अंक–२, अगस्त १९६७ में प्रकाशित।

प्रतीत हो रही है। सर्वग्रासी मृत्यु का विकराल और वीभत्स जबड़ा और–और फटता दिखाई दे रहा है। सुरक्षा–परिषद् और राष्ट्र–संघ की स्निग्ध छाया में हम इस समस्या को यथासम्भव टालने के प्रयत्न में हैं। महाकवि कालिदास भी इस समस्या में हमारे साथ हैं। युद्ध और रक्तपात की जटिल समस्या से उनका भी मस्तिष्क टकराया था और आज से इक्कीस शती पूर्व उन्होंने भी इसके समाधान पर विचार किया था।

कालिदास–साहित्य में साम्राज्यनीति और युद्ध

कालिदास का साहित्य यद्यपि कौटिल्य द्वारा सिद्धान्तित, चन्द्रगुप्त–मौर्य–द्वारा मान्यरूप से निर्धारित तथा शकारि विक्रमादित्य–द्वारा अनुमोदित साम्राज्यनीति का साहित्य है पर उस समय की भारतभूमि शासन–सूत्रों की जनपदीय और आटविक विविध इकाइयों में विभक्त थी, इसलिए उस पर साम्राज्य की कल्पना राष्ट्रव्यापी संघर्ष और महान् युद्ध की ही कल्पना थी। साम्राज्य का माध्यम था–दिग्विजय। वह भले ही अश्वमेध या विश्वजित् यज्ञ की पृष्ठभूमि पर अंकित एक धर्मविजय रहा हो, था वह युद्धाह्वान ही। कालिदास ने इसे अपनाया है। वे रघुवंश के नायक रघु को पूर्व की असम घाटियों से दक्षिण की केरलभूमि तक और पश्चिम की अपरान्त भूमि से लेकर उत्तर के वंक्षु तट तक युद्धयात्रा में भेजते हैं। वे चौदह या अट्ठारह समुद्री उपद्वीपों पर भी भारत का आधिपत्य जतलाते हैं–(रघु० ६.३८)। उनका 'कुमारसम्भव' कुमार कार्तिकेय के रूप में तारकवध के लिए अपेक्षित एक सेनानायक को जन्म देने की योजना का महाकाव्य है। 'शाकुन्तल' की कथा भी 'सर्वदमन' वीर के प्रसव की योजना है। 'विक्रमार्वशीय' राक्षसों के विरुद्ध पुरूरवा के ही पुत्र और्वशेय 'आयु' के अस्त्रकौशल से समाप्त होने वाला नाटक है। 'मालविकाग्निमित्र' भी कुमार 'वसुमित्र' की विजयलक्ष्मी से अंकित रूपक है। निश्चित ही कालिदास के सभी चरितकाव्य युद्ध की ऊष्मा से व्याप्त हैं। इतने पर भी महाकवि कालिदास युद्धवादी कवि होने के कलंक से मुक्त हैं। वे साम्राज्यवादी अवश्य हैं, किन्तु सामन्तवादी नहीं हैं।

साम्राज्यनीति और युद्ध का उद्देश्य

साम्राज्य–कल्पना और दिग्विजय की युद्धयात्रा के पीछे हमारा एक निश्चित उद्देश्य था। वह था–राष्ट्र के समुदय और समुत्थान के लिए उसकी समुद्र तक व्याप्त स्थल–वेदिका का शासकीय एकीकरण। इसकी आवश्यकता कौटिल्य ने भी पँहचानी थी और कहा था, "सेना बटोरने और मित्र जुटाने से भी अधिक लाभकर है संघ–लाभ। संघ अधृष्य होते हैं।"–(अर्थशास्त्र–११।१।१)। स्वतन्त्रता के पूर्व कविवर जयशङ्कर प्रसाद ने भी कहा था :

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय ।
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता बन जाय।। कामायनी ३.६३

स्वतन्त्रता के पश्चात्, जनपदीय शासनों की जो टुकड़ियाँ भारतमाता की शिराएँ अलग–अलग तान रही थीं, शान्ति और सहअस्तित्व में सक्रिय और व्यावहारिक निष्ठा रखनेवाले स्वतन्त्र भारत ने भी उनका विलीनीकरण अपना प्रथम कर्त्तव्य समझा था। उसने अपनी सीमा में आने वाले समस्त उपनिवेशों का भी उच्छेद किया था। साम्राज्य और तदर्थ युद्ध के पीछे कालिदास का भी यही उद्देश्य है। यह तथ्य उनके विजेताओं के चरित से स्पष्ट है।

कालिदास के विजेता

कालिदास के नायक विजेता अवश्य हैं, किन्तु हूणों के समान बर्बर आक्रान्ता नहीं है। वे वीर अवश्य हैं, किन्तु एलेग्जेण्डर, अशोक या नेपोलियन के समान क्रूर शौर्य–प्रदर्शक नहीं। उनकी दृष्टि में केवल शौर्य पाशविक वृत्ति है– **'शौर्यञ्चापदचेष्टितम्'**–(रघुवंश १७.४७)। वे धर्मविजयी हैं। अशोक ने डेढ़ लाख व्यक्तियों को बन्दी और दो लाख से भी अधिक व्यक्तियों को मृत्युग्रास बनाकर जिस कलिंग जनपद पर आधिपत्य प्राप्त किया था, कालिदास का रघु भी उसी कलिंग–जनपद को जीतता तो युद्ध–द्वारा ही है, किन्तु न तो वह कलिंग–राज का राज्य ही छीनता है और न उसे मारता ही है। वह सन्तुष्ट है– उसके प्रति कलिंग–नाथ की अधीनतामात्र से। रघु कलिंग की सम्पत्तिमात्र को राष्ट्रीय कोष में सम्मिलित करता है। अर्थशास्त्र की भाषा में कालिदास उसे धर्मविजयी कहते हैं :

गृहीत–प्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्। (रघुवंश ४.४३)

कलिंग–विजय के पश्चात् पश्चात्ताप–पीडित अशोक ने भी कहा था :

अविजितं हि विजितं मन्ये यत् तत्र वधो
वा मरणं वा अपवाहो वा जनस्य।
इच्छति हि देवानां प्रियः सर्वभूतानामक्षतिम्।
एतच्च मुख्यतमं देवानां प्रियस्य यो धर्मविजयः।
तमेव च विजयं मन्यन्तां यो धर्मविजयः।

–(अशोकलेख १३, अड्यार संस्करण)

अर्थात्, ''मैं इस विजय को विजय नहीं मानता, क्योंकि यह वध, बन्ध और मृत्यु से कलुषित है। मैं चाहता हूँ कि किसी भी प्राणी की क्षति न हो। इसलिए

प्रधान विजय वही है जो धर्मविजय हो और वस्तुतः धर्मविजय को ही विजय समझना चाहिए।'' समाज के अस्तित्व की रक्षा और अभ्युदय के उपाय ही धर्म हैं। जो धर्मविजय है उसका प्रथम लक्ष्य रक्षा ही हो सकता है।

कालिदास के नायक लोभविजयी नहीं हैं। वे प्रजा से जितना लेते हैं उससे हजारगुना अधिक प्रजा को देते हैं– (रघुवंश–१.१८)। दिग्विजेता रघु भी राष्ट्र के कोने–कोने से एकत्रित विराट् धनराशि को पाई–पाई करके जनहित में लगा देता है। यहाँ तक कि उसके अपने उपयोग के लिए उसके पास शेष रहते हैं मिट्टी के पात्र। उसका विरुद है– 'चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद् विभूतिम्'– (रघु० ६.७६, ५.२)।

कालिदास के नायक असुरमार्गी भी नहीं हैं। असुर–विजय का मुख्य उपाय है कूटयुद्ध। कालिदास के विजेता उसके विरुद्ध सन्मार्ग योद्धा हैं । वे अतिथि नामक एक राजा के विषय में लिखते हैं–'उसे कूटयुद्ध की विधि आती थी, किन्तु वह केवल सन्मार्ग से युद्ध करता था और इतने पर भी विजयश्री उसी के पास अभिसार करती थी'।

कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन् सन्मार्गयोधिनि।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी।। (रघु० १७.६९)

कालिदास के नायकों को राजपद का कोई गर्व नहीं। वे प्रजा की स्वतन्त्रता के ही प्रेमी हैं। यही अतिथि ठीक वैसे ही प्रजा का नियन्त्रण करता है जैसे उदित हुआ सूर्य :

प्रजाः स तन्त्रयाञ्चक्रे शश्वत् सूर्य इवोदितः। (रघु० १७.७४)

वह स्वतन्त्रता का इतना प्रेमी है कि पिंजरों में बँधे शुक–सारिकाओं को भी बन्धमुक्त कर देता है :

क्रीडापतत्त्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद् यथेष्टगतयोऽभवन्।। (रघुवंश १७.२०)

राजपद के गर्व की तो बात ही दूर है, कालिदास के नायक राजपद के लिए उत्सुक तक नहीं हैं। अशोक, अजातशत्रु और उदायु ने जिस राज्य के लिए अपने पूज्य पुरुषों का वध किया, कालिदास का अज उसी राज्य को केवल इसलिए अपनाता है कि उसके पिता रघु की वैसी आज्ञा है। अशोक आदि के राज्यलोभ की भर्त्सना के स्वर में कालिदास कहते हैं :

दुरितैरपि कर्तुमात्मसात् प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत्।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया।। (रघु० ८.२)

निश्चित ही ऐसे चरित के विजेता राष्ट्रीय अखण्डता के ही प्रेमी हैं, युद्ध या रक्तपात के नहीं।

युद्ध—परिहार के उपाय

युद्ध त्याज्य है, इसलिए कि उसमें रक्तपात होता है। किन्तु कभी—कभी धर्मरक्षा अथवा सत्पक्ष की जीत के लिए वह अपरिहार्य हो जाता है। कौरवों का असत् आग्रह ही था महाभारत के युद्ध का कारण। ऐसी स्थिति में करना क्या चाहिए? कालिदास बतलाते हैं। उनकी कल्याणी प्रतिभा मार्ग खोज निकालती है। वह अनेक उपाय प्रस्तुत करती है। सबसे पहले वह वहाँ जाती है जहाँ कलह की जड़ है, कलह की जड़ है हृदय की रूक्षता में। बुद्धि का आग्नेय ताप जब मानव—हृदय या उसकी करुणा का स्निग्ध उत्स सुखा देता है तब स्वार्थों की विषाक्त चट्टानें टकराती हैं और गर्व तथा ईर्ष्या के ज्वालामुखी भभकते हैं। कालिदास इसके विरुद्ध हृदय में स्नेह और माधुर्य की प्रतिष्ठा पर बल देते हैं :

न हि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम्।
कार्यसिद्धिपथस्त्वन्यः स्नेहेनाप्युपलभ्यते।। (माल० ४.६)

'जिनके हृदय उदार और शोभन होते हैं वे अभीष्ट—लाभ के लिए केवल कर्कश तार्किकता को नहीं अपनाते। वे स्नेह को भी अपना उपाय मानते हैं।'

महाकवि पुनः कहता है एक ऐसी भी शक्ति है जो न केवल उत्तेजित मानव को, अपितु उद्विग्न पशु को भी वश में ला सकती है। वह शक्ति है 'माधुर्य—शक्ति'। उनका पद्य है :

सकृद् विविग्नानपि हि प्रयुक्तं
माधुर्यमीष्टे हरिणान् निरोद्धुम्।। (रघु० १८.१५)

महाकवि कालिदास अपने सूत्रों के भाष्य भी प्रस्तुत करते हैं। वे स्नेह और माधुर्य की उपर्युक्त महिमा विविध संवाद और प्रसंगों—द्वारा प्रस्तुत करते हैं। स्नेह का वरिष्ठ रूप है काम— 'स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते।' काम है हृदय की रागात्मकता। कालिदास का कहना है कि रागशक्ति दण्डशक्ति से बड़ी है। कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग के इन्द्र और काम के परस्पर संवाद का तात्पर्य यही तत्त्व है। इन्द्र दण्डशक्ति का प्रधान देवता है। 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' के ऋङ्मन्त्रों से लेकर पुराणों के आश्वमेधिक आख्यानों और वृत्रवध के उपाख्यानों तक इन्द्र के पराक्रम की प्रसिद्धि है। इन्द्र का भी बल है वज्र। रघु के वक्षःस्थल पर जब वज्र विफल हो गया तो इन्द्र ने युद्ध बन्द कर दिया—(रघुवंश ३)। इसी प्रकार तारकासुर के गले में वज्र हँसुली के समान निष्क्रिय सिद्ध हुआ तो देवसमाज ने हार मान ली (कुमारसम्भव २)।

कालिदास का यही इन्द्र काम से कहता है : 'सखे काम, मेरे दो अस्त्र हैं, एक वज्र और दूसरे तुम। किन्तु तुम वज्र से भी अधिक सफल हो!'

'उभे ममास्त्रं कुलिशं भवांश्च, त्वं सर्वतोगामि च साधकं च।'

(कुमार० ३.१२)

कुमारसम्भव में ही इन्द्र काम की प्रशंसा पुनः करता है :

'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः' (३.२०)

—तुम्हारी शक्ति अत्यन्त स्पृहणीय और विस्मयावह है।

वह हेतु भी प्रस्तुत करता और कहता है :

'चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रम्' (३.२०)

—'सखे काम, तुम्हारे पुष्पनिर्मित अतएव मधुस्रावी चाप से जो सफलता प्राप्त होती है वह अधिक स्पृहणीय है, क्योंकि उसमें रक्तपात और संहार का कालुष्य नहीं रहता।'

भारतीय देवशास्त्र में पराक्रम के अधिदेवता के रूप में प्रसिद्ध देवराज इन्द्र के मुख से उसकी दण्डशक्ति वज्र की अपेक्षा काम को बलवत्तर और स्पृहणीय बतलाकर कालिदास ने जिस माधुर्य—पथ का निर्माण किया था इतिहास उस पर चला है। महाक्षत्रप रुद्रदामा और समुद्रगुप्त के अभिलेखों से यह तथ्य प्रमाणित है कि सामाजिक संगठन ओर विभिन्न शक्तियों के संयोजन के लिए कन्योपायन एक सक्षम आौर समर्थ उपाय रहा है। प्रभावती गुप्ता और जयश्री भी ऐसी ही कन्याएँ हैं। स्वयं कालिदास की मालविका भी एक ऐसी ही कन्या है। विदर्भ जनपद की शान्ति का उपाय अग्निमित्र से मालविका का सम्बन्ध ही है। रघुवंश की नागकन्या कुमुद्वती को महाराज कुश के मानववंश तथा कुमुद के नागवंश की चिरसन्धि का बीज प्रतिपादित करते हुए कालिदास ने लिखा है—

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं
लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पञ्चमं तक्षकस्य।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद् वैनतेया—
च्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास।। रघु० १६.८८।।

विक्रमोर्वशीय में देवराज इन्द्र पुरूरवा से अपना सम्बन्ध बनाये रखने के लिए उर्वशी का पुरूरवा के ही साथ रहे आना स्वीकार करते हैं— (अंक—५)। अभिज्ञानशाकुन्तल में बिछुड़ी शकुन्तला से दुष्यन्त को पुनः मिलाने का उपक्रम भी देवराज ही करते हैं। निस्सन्देह यदि रागात्मक सम्बन्ध बने रहें तो कोई कारण नहीं कि समाज में कलह हो। कन्योपायन या कन्या—पुत्र—सम्बन्ध मानव पर मानव की स्नेहपिच्छल और मांगलिक विजय है। ऐसा ही कोई रागात्मक सम्बन्ध उत्तरापथ के महाराज हर्षवर्धन और दक्षिण

के वीर पुलकेशिन् के बीच रहा होता तो उत्तर और दक्षिण की दो दिशाओं में भारतराष्ट्र की एक ही वेदिका पर दुर्भाग्यपूर्ण द्वैराज्य की स्थापना सातवीं शती में न हुई होती।

इतिहास में ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें रागात्मकता सम्बन्ध का कारण न बन संघर्ष का कारण बनी है। कालिदास ने इस वास्तविकता को भी आँका है। इतिहास में संयोगिता—स्वयंवर की कलहपूर्ण दुष्परिणति बाद में हुई, कालिदास ने इन्दुमती—स्वयंवर द्वारा उसका रेखांकन बहुत पहले ही कर दिया था। स्वयंवर में विदर्भ—सुन्दरी इन्दुमती ने स्वयंवरसभा में उत्तरकोशल के राजकुमार अज का वरण किया तो असफल अनुराग के राजाओं ने अज पर छिपकर धावा बोल दिया—(रघुवंश—७.३५)। युद्ध टाला नहीं जा सका। अज ने भी दृप्त पार्थिववाहिनी का सामना डटकर किया—(रघुवंश ७.३६)। रक्तवाहिनी बह उठी। कालिदास ने घटना को यहाँ तक तो आने दिया, किन्तु वे मानववंश का महाभारत जैसा सामूहिक संहार सह न सके। उन्होंने टक्कर को विवेक से सुलझाया। स्वयंवर में पहुँचने के पूर्व कालिदास राजकुमार अज को प्रियंवद यक्ष से सम्मोहनास्त्र दिलवा देते हैं। सम्मोहनास्त्र की विशेषता है—'शत्रुहिंसा के बिना शत्रु पर विजय।' प्रियंवद कहता है :

सम्मोहनं नाम सखे! ममास्त्रं प्रयोग—संहारविभक्तमन्त्रम्।
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते॥ (रघु० ५.५७)

अन्त में अज इसी अस्त्र का प्रयोग करता है और दृप्त राजन्यों का युद्धाभिनिवेश शान्त होता है। अस्त्रदाता प्रियंवद और अस्त्र सम्मोहन। निश्चित ही वाक्पारुष्य और दण्डपारुष्य के जो दो दोष नीतिकारों ने राजकीय व्यक्तित्व में परिहार्य बतलाये हैं, कालिदास कथा—सूत्र का संयोजन उसी पीठिका पर कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मानवीय एकता का एक आधार वाणी की मधुरता भी है। कालिदास इसे अपने पात्रों से चित्रित भी करते हैं।

मधुर वाणी और सम्मोहन—शक्ति मानवीय गुण हैं। वे वहाँ सफल होते हैं जहाँ मानवता के बीज शेष रहते हैं। किन्तु समाज में एक ऐसा भी वर्ग होता है जो एकमात्र संहार को ही अपनी सिद्धि का उपाय मानता है। युद्ध ही जिसका देवता है। दण्डनीति ही जिसकी विद्या है। कौटिल्य के अनुसार इस पक्ष का प्रवर्तन दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य से हुआ है। 'दण्डनीतिरेवैका विद्येत्यौशनसाः'— (अर्थशास्त्र १.२)। निश्चित ही इस पक्ष के अनुयायी ही प्राचीन भाषा में असुर या दैत्य हैं। दण्डशक्ति देवों का भी बल है किन्तु उनका एक माध्यम स्नेह, माधुर्य या काम भी है। देवों की यह शक्ति दानवों पर आजमायी तो जाती है, ओर इस शक्ति को अपनी सफलता का पूरा भरोसा भी रहता है, परन्तु कालिदास को वह मान्य नहीं। कालिदास का काम कहता है :

अध्यापितस्योशनसापि नीतौ प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते।
कस्यार्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः।। (कुमार० ३.६)

—*'देवेन्द्र, आपका ऐसा भी शत्रु मेरे लिए दुर्जेय नहीं जिसने स्वयं शुक्राचार्य से दण्डनीति प्राप्त की हो। मेरी रागात्मक वृत्तियाँ उसे भी धराशायी कर सकती हैं '*। कालिदास किसी भी दैत्य को इस प्रकार के शान्ति—उपाय से सत्पक्ष का अनुयायी होता नहीं बतलाते। उलटे वे कहते हैं— *'दुर्जन उपकार से शान्त नहीं होता, उसकी शान्ति का उपाय अपकार ही है।'*

शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः। (कुमार० २.४०)

वे रावण, तारक और केशी नामक राक्षसों का वध ही चित्रित करते हैं। जिस रक्त में दैत्यता का ऐकान्तिक प्रभुत्व हो उसका वह जाना ही कालिदास को मान्य है। किन्तु इसके लिए अस्त्र अनिवार्य है। कालिदास उसके लिए भी सन्नद्ध हैं। उनका प्रत्येक वीर अस्त्र—विद्या का पारंगत आचार्य और कुशल प्रयोक्ता है। रघु ने अपने अस्त्र—कौशल से देवराज इन्द्र की प्रत्यंचा और रथ की पताका भी काट दी थी—(रघु० ३.५६,५९)। देवशक्ति पर मानवशक्ति की जीत जतलाते हुए रघु ने इन्द्र की शची—द्वारा शृंगारित भुजा पर अपने नाम से अंकित बाण गँपा दिया था—(रघु०३.५५)। इतना अस्त्र—कौशल रघु को अपने पिता दिलीप से ही प्राप्त हुआ था। कालिदास के शब्दों में दिलीप केवल राजाओं में ही प्रमुख नहीं थे, वे धनुर्विद् आचार्यों में भी अद्वितीय थे :

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।
न तद्गुरुः केवलमेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः।। (रघु०३.३१)

दशरथ, दुष्यन्त और पुरूरवा शब्दवेधी बाण चलाने में सिद्धहस्त हैं। कुश के पास गारुडास्त्र है। इस प्रकार कालिदास के नायक और वीर विजेता शस्त्रविद्या के आचार्य हैं। वे शस्त्र की अवज्ञा नहीं, पूजा करते हैं और यह कोई दोष नहीं है। मानवीय प्रतिष्ठा के लिए जितना दण्ड या राक्षसत्व अपेक्षित है, औषध निर्माण में अपेक्षित विष के समान वह ग्राह्य है। यद्यपि अस्त्र की जीत मानवता की हार है तथापि रक्षा और निर्माण के लिए अपेक्षित धर्मविजय का वह शृंगार है। दोष है अस्त्र का दुरुपयोग। कालिदास अस्त्र के उपयोग में सन्तुलन के पक्षपाती हैं।

अस्त्रप्रयोग में सन्तुलन

कालिदास की दृष्टि में अस्त्र—प्रयोग केवल नैतिकता ही नहीं है, एक धर्म भी है। वे सन्तुलित अस्त्र—प्रयोग के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भगवान् राम का ज्येष्ठ पुत्र कुश अपने पिता से प्राप्त जैत्र आभरण के अपहरण के सन्देह में नागराज

कुमुद पर गारुडास्त्र का सन्धान करता है। किन्तु कुमुद को विनीतभाव से उपस्थित देख वह उसे बापस ले लेता है : **'सौपर्णमस्त्रं प्रतिसंजहार'** (रघुवंश १६.८०)। महाराज दशरथ मृगया में केवल हिंसक और उत्पाती पशुओं के ही प्राण लेते हैं। क्रूर वराह को धराशायी करते और घातक व्याघ्र का मुखरन्ध्र शरों से भर देते हैं। सिंहों को मारकर उनसे हाथियों के वध का बदला लेते हैं। किन्तु वे मृग और मयूर के प्रति संवेदनशील हैं–(रघुवंश ९) खड्ग–नामक गैंडों के ऊँचे सींग ही वे काटते हैं, उनकी दीर्घ आयु से उन्हें कोई द्वेष नहीं है।

इस अस्त्र–सन्तुलन का मूक संकेत शाकुन्तल में मुखर सिद्धान्त बन गया है। मृगया का प्रसंग शाकुन्तल में भी आरम्भ में ही आता है। दुष्यन्त एक हिरन का पीछा करता हुआ मंच पर आता है। हवा में कुलाँचे भरते इस वातप्रमी को दुष्यन्त ज्यों ही मारने की स्थिति में आता है उसे एक निषेध–स्वर सुनाई देता है–**'आश्रम–मृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः'**–यह मृग आश्रम का मृग है, यह अवध्य है! मृग अर्थात् वन्य पशु। पशु भले ही वन्य हो वह वध्य तब होता है जब वह उत्पाती हो, दुष्ट हो। यह मृग आश्रम का मृग है। पालतू और विनीत है। फिर यह मृग हिरन है, जिसका हिंसा से कोई सम्बन्ध नहीं। इसे केवल मृगयारस के लिए मारना अन्याय है। विडम्बना यह है कि इस अन्याय पर आरूढ हैं स्वयं राष्ट्रपति दुष्यन्त। किन्तु कालिदास का कवि यह अन्याय होने देता नहीं। उसका एक अकिंचन वैखानस दुष्यन्त को ललकारता है। आश्रम–मृग की अवध्यता का स्वर उसी का है। कालिदास का सम्राट् तपस्वी के समक्ष झुकता है। तपस्वी सामने आकर कहता है, **'तत् साधु कृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्'**–भलीभाँति खींच चुके हैं तो क्या, अपना अस्त्र बापस लें। और अस्त्रोपयोग की दिशा में सम्राट् से कहता है : **आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि** (शाकु० १.११)

–आपने जो अस्त्रसिद्धि की है उसका उद्देश्य है आर्त और विपन्न की रक्षा, निरपराध का वध नहीं।

दुष्यन्त बाण उतार लेता है–''अस्त्रसाधना का उद्देश्य आर्तत्राण और परिहार्य केवल दोष''–कितना जीवित और शाश्वत है महाकवि का यह मन्त्र? मानवता की यह विडम्बना भला किस प्रज्ञावान् को सह्य होगी कि वह अपनी साधना और शक्ति का उपयोग करे आत्मनाश में। कौन चाहेगा कि सहस्र–सहस्र वर्षों की कल्याण–साधना से मानव ने समाज–संस्था के जिस अंकुर को विशाल वृक्ष का रूप दिया है, युद्ध का प्रमत्त गज उसे छिन्न–भिन्न करे, अविवेक और आवेश के विषधर उसकी जड़ में विघटन का दाहक और शोषक विष उगलें। यह यदि वर्तमान को अप्रिय और अमान्य है तो अतीत को भी कदापि मान्य और प्रिय नहीं रहा। महाकवि कालिदास इसके उदग्र प्रमाण हैं।

वाणी और व्यवहार में माधुर्य की प्रतिष्ठा, स्नेह और आत्मीयता की यथासम्भव स्थापना, अस्त्र—साधना में पूर्ण तप किन्तु उसके उपयोग में सन्तुलन—महाकवि कालिदास के मानवहितवादी और रक्तपातविरोधी स्वर में निहित ऐसे मन्त्र हैं जो मानवता के अरुणोदय में जगाये गये हैं और निःश्वासों के ही समान मानव—वंश के सनातन साथी रहे हैं। ऐसे ही मन्त्रों ने अतीत को वर्तमान तक पहुँचाया है और ऐसे ही मन्त्र वर्तमान को आयति तक लिये चलने के ऐकान्तिक और अमोघ साधन हैं।

हिंसा का सबसे बड़ा स्थान है युद्ध। कालिदास साहित्य में युद्ध है, किन्तु उसमें हिंसा नगण्य सी है। 'कुमारसंभव' (३.८) में युद्ध है, किन्तु मानसिक जिसमें 'कामदहन' आता है। रघुवंश में युद्ध का एक प्रसङ्ग चतुर्थ सर्ग में रघु की दिग्विजय के प्रसङ्ग में आता है जिसमें रक्तपात अत्यन्त ही कम मात्रा में है। जहाँ पश्चिमी तट से फारस की ओर चलते समय संघर्ष हुआ वहाँ बर्बर हूणों की ही हत्या का उल्लेख किया गया, वह भी सांकेतिक रूप में। संकेत था उनकी कपोलपाटन—क्रिया। विधवा के कपोल चीर दिए जाते थे हूँणों में। कालिदास ने इस प्रथा को याद किया और लिखा —

तत्र हूणाऽवरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटनादेशि बभूव रघुचेष्टितम्।। रघु० ४.६८।।

इस प्रकार, किए गए रक्तपात को कालिदास ने पर्यायोक्तविधि से ही प्रस्तुत किया। उन्होंने पूर्वदिशा के शासकों के लिए लिखा कि *'रघु ने रास्ते में आए राजाओं की और वृक्षों की एक सी गति की—उन्हें फलों से रहित कर दिया, उखाड़ डाला और खण्डित कर दिया'*—

त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः।
तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः।। रघु० ४.३३।।

इस दिशा में पड़े सुह्म लड़े ही नहीं, झुक गए (४.३५) वङ्गों को उखाड़ा, किन्तु, पुनः वहीं प्रतिरोपित कर दिया (४.३६), उत्कलीयों ने रघु को कलिङ्ग का मार्ग दिखलाया, लड़े नहीं (४.३८), कलिङ्ग के वीरों ने रघु का सामना किया, किन्तु उनके साथ रघु का युद्ध बाणों से हुआ और वह 'माङ्गलिक स्नान' जैसा कर जयश्री को प्राप्त हुआ (४.४१), रघु धर्मविजयी योद्धा था, अतः उसने महेन्द्रनाथ की श्री ही ग्रहण की, भूमि नहीं (४.४३), दक्षिण में पाण्ड्यराज रघु का प्रताप सह न सके (४.४९), (केरल) अपरान्त (त्रिकूटाचल) में रघु की लड़ाई नहीं हुई (४.५३—५८), पारसीक पश्चिम में फैले हुए थे। उनसे रघु का तुमुल संग्राम हुआ (४.६२) दाढ़ी मूँछ वाले उनके सिर भूमि पर बिखरे पड़े थे। लग रहा था कि मधुमक्खी के छतन्ने हों। बचे पारसीक रघु की शरण में आ गए (४.६४), उत्तर दिशा में हूण और काम्बोजों से समाना हुआ। हूण मारे गए

और काम्बोज झुक गए। उन्होंने रघु को उत्तमोत्तम अश्व भेट किए और बहुत बड़ी द्रव्यराशि भी (४.६३—७०)। आगे रघु हिमगिरि पर चढ़ा। वहाँ गङ्गास्रोतों से आगे बढ़ते समय उसका सामना हुआ पर्वतीय गणों से (४.७७)। उनसे हुआ घोर युद्ध (४.७७)। रघु ने उत्सव संकेतों को जीता और पहुँचा आसाम की ब्रह्मपुत्र घाटी में (४.८१)। वहाँ प्राग्ज्यौतिष और कामरूप देश के शासक उससे लड़े नहीं, प्रत्युत कामरूपेश्वर ने समर्पित किए हाथी (४.८४)। रघु अयोध्या लौट आए।

इस पूरे प्रसङ्ग में रक्तपात का उल्लेख किसी भी युद्ध में नहीं किया गया। वस्तुत: **कालिदास को मानवरक्तपात प्रिय नहीं था।**

युद्ध का दूसरा प्रसङ्ग इन्दुमती स्वयंवर के बाद आता है। वहाँ असफल राजा मार्ग में अज से इन्दुमती को छीनने का यत्न करते हैं। भयंकर युद्ध होता है। रक्तपात भी होता है। अन्त में अज संमोहनास्त्र का प्रयोग करते और रक्तपात नहीं होने देते। संमोहनास्त्र के परिचय में कहा गया है 'उसके प्रयोग से विजय तो मिल ही जाती है, परन्तु शत्रुहिंसा नहीं होती **'न चारि हिंसा विजयश्च हस्ते'** (रघु० ५.५७)।

अहिंसा के अद्‌भुत दृश्य रघुवंश के मृगयाप्रसंग में मिलते हैं। दशरथ मृगया करने निकले, किन्तु मारे उन्होंने तीन ही प्राणी। वराह, महिष और सिंह। जंगली वराह बहुत खूँखार होते हैं। वे शिकारी पर उलटा वार करते (९.५९—६०)। उन्हें रघु ने पेड़ों में छेद दिया। महिष की आँख में बाण मारा, वह भी ढह गया (९.६१)। सिंहों को मार कर रघु ने युद्ध में जीत दिलाने वाले हाथियों के ऋण से मुक्ति पाई (९.६५)। परन्तु इसी जाति के व्याघ्र को मारा नहीं, उसके चौड़े मुख में बाण भर दिए (९.६३)। गैंडे दिखाई दिए तो उन्हें नाक पर ऊगे सींग काटकर छोड़ दिया (९.६४)। अन्य पशु थे चमरी मृग। उनकी पूँछ में राजचिह्न चमर होता है। केवल वही भल्लनामक बाण से छिना लिया गया (९.६६)। पक्षियों में मयूर तो पास से ही उड़ा, परन्तु दशरथ ने उसे लक्ष्य नहीं बनाया। उन्हें उसके पिच्छ देखकर प्रिया के केशपाश का स्मरण आ गया (९.६७)। मृगयूथ दिखाई दिया, जिसके आगे चल रहा था दृप्त कृष्णशार मृग, बीच में थी हिरनी जिसे उसके छौने स्तनपान के लिए बार बार रोक रहे थे। उस यूथ को दशरथ ने तितरबितर कर दिया तो पूरा वन श्याम हो उठा (९.५५—५६)। एक मृग को उसकी प्रिया रोकती दिखाई तो दशरथ के मन में दया आ गई और उस पर खींचा बाण लौटा लिया (९.५७)। अन्य हरिणों पर दशरथ की दृष्टि गई तो उन्हें दिखाई दिए उनके भयातुर नेत्र आौर स्मरण आ गई उन्हें प्रियानयनों की विभ्रमचेष्टाएँ। फलत: कान तक खींचा बाण भी उन्होंने उतार लिया (९.५८)।

ये हैं उज्ज्वल चित्र दयापूर्ण अहिंसा और आवश्यक हिंसा के कालिदाससाहित्य

में। स्पष्ट है कि कालिदास प्रीति के कवि हैं। संयम उनका प्रमुख धन है और वे किसी भी प्राणी में उसका अभाव पसन्द नहीं करते, किन्तु हिंसक को प्राणदण्ड देने में भी उन्हें हिचकिचाहट नहीं होती।

कालिदास अहिंसावादी हैं यह सत्य है, किन्तु वे हिंसा को भी धर्म का स्थान देते हैं, जहाँ वह अनिवार्य हो जाती है। आततायी, राक्षस और जो हिंसा को ही साधन बनाकर चलते हैं ऐसे प्राणियों पर वे उन मूल्यों को लागू नहीं करते जो अभी अभी प्रतिपादित किए गए हैं। राम का रावण के साथ युद्ध विवशता थी। इसी प्रकार भरत का गन्धर्वों के साथ (१५.८८) और शत्रुघ्न का लवणासुर के साथ संघर्ष भी (१५.१५–२६)। कुश का उसके पिता श्रीराम से प्राप्त और उन्हें महर्षि अगस्त्य से प्राप्त एक कड़ा सरयू में जलविहार के समय गिर गया। खोजने पर वह मिला नहीं। गोताखोरों ने निवेदन किया–'लगता है सरयू के इसी ह्रद में रह रहे कुमुद नामक नाग ने वह कड़ा उठा लिया है।' कुश ने उस कड़े के साथ पिता श्रीराम का संबन्ध जुड़ा देखकर कुमुद पर शरसन्धान किया तभी तक सरयू के जल से कुमुद अपनी बहिन कुमुद्वती के साथ प्रकट हुआ और विनयपूर्वक बोला 'मेरी इस छोटी बहिन ने इस कड़े को उठा लिया था। अपराध क्षमा हो। आपका कड़ा और यह छोटी बहिन आपको अर्पित हैं।' कुश ने अपना चढ़ाया बाण उतार लिया, क्योंकि नम्र शत्रु को न मारना सज्जनता का व्यवहार हुआ करता है (१५.७९–८५)।

कालिदास गलत हिंसा पर शिकारी को दण्ड भी देते हैं। ऐसी गलती स्वयं महाराज दशरथ से हुई । नियमत: हाथी का वध युद्ध को छोड़ अन्य किसी भी स्थिति में वर्जित था। उनके पिता अज ने नर्मदा के जल से प्रकट हुए एक हाथी के उपद्रव को शान्त करने हेतु उस पर घातक बाण नहीं छोड़ा था। छोड़ने में भी उन्होंने शिथिलता बरती थी और धनुष की प्रत्यञ्चा को पूरी तरह से नहीं खींचा था, क्योंकि उन्हें विदित था कि राजा के लिए हाथी का वध निषिद्ध है। किन्तु दशरथ हो गए रजोगुण से निमीलित और उन्होंने हाथी की चिंघाड़ के भ्रम में बाण छोड़ दिया, जिससे एक मुनिकुमार घायल हुआ। आवाज थी घड़ा भरने की जिसे चिंघाड़ समझ लिया गया था। दशरथ को शाप मिला पुत्रवियोग से मृत्यु का। कहा जा चुका है कि वह उनको वंशाङ्कुर सुलभ कराने वाला सिद्ध हुआ। उसका दशरथ ने प्रवृत्तिमार्ग के अनुसरण में स्वागत किया, ऐसा नहीं कि जिससे वियोग से मरना है उसे होने ही न दिया जाए, जैसा कि राक्षसराज हिरण्यकशिपु और कंस का सिद्धान्त था। इस घटना को चित्रित करते हुए कालिदास ने स्पष्ट लिखा 'विद्वान् भी कभी–कभी अपथ में पैर रख देते हैं, रजोनिमीलित होकर'–

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत् कृतवान् पङ्क्तिरथो[१] विलङ्घ्य यत्।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः।। रघु०९.७४।।

दशरथ ने सन्तति के लिए महर्षि ऋष्यशृङ्ग के आचार्यत्व में पुत्रीया इष्टि की। चार पुत्र चारों पुरुषार्थों से उन्हें प्राप्त हुए, और कैकेयी की [२]लोकमङ्गलकारिणी नीति में पड़कर उन्हें शरीर छोड़ना ही पड़ा, पुत्र राम के वियोग में ही।

(२) सत्य

इस शृंखला में अहिंसा के आगे आने वाली कड़ी है सत्य, उसके आगे अस्तेय, उसके आगे ब्रह्मचर्य और उसके आगे की अन्तिम कड़ी है अपरिग्रह। अहिंसा के ही समान सत्य से लेकर अपरिग्रह तक की ये चार कड़ियाँ भी मानसिक अभ्यास भी हैं। महाकवि कालिदास में इनको भी उचित स्थान मिला है, जिसमें इस देश की संस्कृति बैठी मिलती है।

सत्य का स्वरूप महर्षि पतञ्जलि ने दिया 'यथार्थे वाङ्मनसे सत्यम्। (पा.यो.सू. २.३० व्यासभाष्य) सत्य का अभ्यासी वही बोलता है जो वह सोचता है। दूसरे शब्दों में मन और वाणी में एकता है सत्य। जैसा विचार वैसा ही व्याहार है सत्य की व्यावहारिक व्याख्या। महर्षियों ने इसका फल बतलाया है–'सत्यप्रतिष्ठायां योगिनो वाचमर्थोऽनुधावति' (पायोसू० २.३०)। यह चरितार्थ मिलता है शापवचनों में (मेघ० १.१, कुमार० ४.४१, रघु० १.७७, ९.७८–७९, शाकु० ४.१)। महाकवि कालिदास के दशरथ इस आचरण को परिहास–कथा में भी नहीं तोड़ते। वाणी का भूषण सत्य तो है ही कालिदास के शब्दों में उसके साथ दो दोष नहीं होने चाहिए एक कृपणता (दीनता) और दूसरा रूक्षता। दशरथ इन्द्र की प्रभुता मानते थे, परन्तु उनके भी समक्ष दीन वचन नहीं बोलते थे। साथ ही शत्रु से भी वे रूक्ष या परुष वाणी नहीं बोलते थे। इन्हीं के साथ वे परिहास में भी असत्य भाषण करना नहीं जानते थे–

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे, न वितथा परिहासकथास्वपि।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता।। रघु० ९.८।।

बड़े के समक्ष दीन वचन बोलना, परिहास में मिथ्या भाषण करना और शत्रु को अपशब्द कहना मानव का स्वभाव है, परन्तु उसमें संयम टूटता है, अतः उच्चता

---

१. पंक्ति शब्द वाचक है १० संख्या का, अतः पंक्तिरथ का अर्थ हुआ दशरथ। इस प्रकार की उक्ति को आचार्यों ने सदोष माना है।

२. राम को लोकमङ्गल के लिए वन भेजा गया था। इसकी सूत्रधारिणी थीं माता कैकेयी। द्रष्टव्य हमारा उत्तरसीताचरितम् १.३५। वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड में ऐसे सूत्र हैं जिनमें राम स्वयं वन में आना चाहते थे।

के विपरीत होता है वैसा आचरण। उच्च आदर्शों के परिपालन के लिए आवश्यक है मन में आक्रोश या क्रोध न आने देना। दशरथ के लिए 'रोषरहित'—शब्द का प्रयोग कवि ने कदाचित् इसीलिए किया। 'रोषरहित' होने का तात्पर्य संयम है। उसी से वाणी में उक्त तीनों विशेषताएँ आ सकती हैं। रघुवंशी सत्य की रक्षा के लिए मितभाषी होते (रघु० १.७) उनकी वाणी सूनृत भी होती है (रघु०८.९२, १४.१६)। कुमारसंभव के पञ्चम सर्ग में ब्रह्मचारी वटु ने शिव के विषय में जो जो कहा वह पार्वती को प्रिय भले ही न हो, परन्तु उसमें असत्यता नहीं थी, यद्यपि वह कुल मिलाकर परिहास ही था। ब्रह्मचारी ने शिव में 'अमङ्गलाभ्यासित्व' दिखलाते हुए कहा कि वे साँप लपेटे रहते हैं (कुमार० ५.६६), शोणित बिन्दु बरसाती गजचर्म पहने या ओढ़े रहते हैं (कुमार० ५.६७), श्मशान में रहते हैं (कुमार ५.६८), चिताभस्म धारण किए रहते हैं (कुमार० ५.६९), उनका वाहन है बूढ़ा बैल (कुमार० ५.७०), वे कपालधारी हैं (कुमार० ५. ७१), आँखें उनकी तीन तीन और डरावनी (कुमार० ५.७२), निर्धन इतने कि शरीर पर वस्त्र तक नहीं (कुमार० ५.७२), तुम्हारा ऐसे शिव से विवाह तो श्मशान—शूल का वैदिक सत्कार है (कुमार० ५.७३)। शिव ऐसे ही हैं। इसलिए उनके लिए इस प्रकार का कथन पूर्णत: सत्य है। यह परिहास इसलिए है कि ये सभी दोष स्वयं शिव ही प्रकट कर रहे हैं। शिव ही आए थे ब्रह्मचारी बटु के वेश में। इसी कारण उन्होंने पार्वती के साथ जिस भाषा का प्रयोग कुमारसंभव ५.३२—५० तक किया और पार्वती के अंग प्रत्यंग का उल्लेख किया वह पहले तो धृष्टता सा लगा, उसमें प्रेम जैसा भी भासित हुआ, परन्तु अन्त में जब वक्ता शिव के स्वरूप में आ गया तो लगा कि वह सब उचित और प्रिय था। ब्रह्मचारी ने पहले तो पार्वती को टकटकी लगाकर देखना आरम्भ किया जो किसी भी कन्या को अच्छा नहीं लगता, फिर जब बोलना शुरू किया तो रुकने का नाम भी लेना उचित नहीं समझा, बहुत देर तक बोलते ही चला गया और विशेषता यह कि उसे अपनी इस कमजोरी का ज्ञान भी था, क्योंकि वह स्वयं को 'चपल' कहता, और अपनी चपलता को स्वाभाविक भी जतलाता है। कारण के रूप में प्रस्तुत करता है कि मैं 'द्विजाति' हूँ (५.४०) इसीके साथ वह पार्वती को बहुक्षमा कह डालता है,उसका अभिप्राय यह कि जब तुमने पंचाग्नि तप तक सह लिया तब मुझे सह ही लेगी तुम। देखिए इस ब्रह्मचारीने पार्वतीसे क्या क्या कह डाला—

१. तुमने स्वयं जिन्हें सींचा है उन इन लताओं में लाल लाल कोपलें तो आ रही हैं जो तुम्हारे ओंठों से होड़ लेंगी, जिन (ओठों) से अलता एक लम्बी अवधि से छूट चुका है इतने पर भी जिनकी रक्तिमा रक्षित है (कुमार ५.३४) यह हुआ अधर का वर्णन।

२. हे नीले उत्पलों से नेत्रवाली? यह हुआ नेत्र का वर्णन।

३. हरिणों पर तो तुम प्रसन्न हो जो अपने चञ्चल नेत्रों से तुम्हारे इन नेत्रों की समता करने में लगे हैं (कुमार० ५.३५) यह भी नेत्रों का वर्णन है।
४. पार्वती तुम रूपवती हो और जो यह माना जाता है कि रूप पाप कराता है वह गलत है। रूपवती होते हुए भी तुम आदर्श हो शील में तपस्वियों के लिए भी (कुमार० ३.३६)।
५. पार्वति! तुम्हारे भीतर यौवन खिल उठा है तब भी तुमने बुढ़ापे में शोभा देने वाले वल्कल क्यों धारण कर रखे हैं (कुमार० ५.४४)।
६. पार्वति! वह युवक कितना निष्ठुर है जो तुम्हारे कपोलों पर लटकी पीली पीली जटाओं की उपेक्षा कर रहा है (कुमार० ५.४७)।
७. ओहो! देखो तो तुम्हारे अंग प्रत्यंग सूर्यातप से कितने झुलस गए हैं? (कुमार० ५.४८)।
८. पार्वति! लगता है तुम तप कर रही हो किसी वर को पति के रूप में पाने के लिए। सो, मेरा भी पूर्वाश्रम में किया तप सञ्चित है। मैं उसका आधा भाग तुमको अर्पित करता हूँ ताकि तुम्हें तुम्हारा अभीष्ट मिल जाए, परन्तु चाहूँगा उस वर को जानना (कुमार० ५.५०)। पार्वती ने स्वयं उत्तर देना उचित नहीं समझा और अपनी सखी को संकेत दिया कि वह उत्तर दे। अवश्य ही पार्वती को बटु का भाषण अच्छा नहीं लगा था। सखी ने भी पार्वती की सही सही बात सुना दी ('अगूढ—सद्भाव' कुमार० ५.६२)। ब्रह्मचारी पुनः पूर्ववत् बोला—

१. अरे तुम तो हर कुछ चाहने का हठ कर रही हो 'अवस्तुनिर्बन्धपर' (कुमार०५.६६)।
२. पार्वति! यदि शिव मिल भी गए तो परिणाम यह होगा कि 'तुम्हारे रक्त चन्दन से अलंकृत स्तनों पर चिताभस्म आ लगेगी' (कुमार० ५.६९)।
३. हे बाल मृग से चञ्चल नेत्रों वाली पार्वति! क्या शिव में वर का टूटा फूटा कोई एक लक्षण भी है (कुमार० ५.७२)। शरीर विरूपाक्ष, जन्म का पता नहीं और धन संपत्ति की क्या बात, पहनने को वस्त्र भी नहीं।

ब्रह्मचारी की उक्त उक्तियाँ कितनी उचित हैं सोचिए। किन्तु सर्वथा उचित ही हैं, क्योंकि यह सब जिस अनुराग को अभिव्यक्ति दे रहे हैं वह उसी शिव का अनुराग है, जिसके लिए पार्वती तपोनिरत है। यह एक प्रकार की संवृतिवक्रता है। इसमें केवल काव्यत्व नहीं, एक प्रकार का नाट्य भी छिपा है। कुतूहल की भी यहाँ पराकाष्ठा है।

यह परिहास परिणत होता है रस में। रस भी, रस नहीं रसराज शृङ्गार में। इसी प्रकार का परिहास शाकुन्तल में मिलता है। प्रियंवदा ने शकुन्तला के स्तनों पर वल्कल बाँध दिया था, परन्तु कुछ कसकर। शकुन्तला कहती है, तूने अधिक कस दिया है यह

वल्कल। प्रियम्वदा कहती है मुझे नहीं, उलाहना दे अपने यौवन को, जिसने स्तनों को इतना विस्तार दे दिया है – **'आत्मनः स्तनविस्तारयितृ यौवनमुपालभस्व'** (शाकु० १.१७.२–४)। दुष्यन्त इस घटना को छिपकर देख रहा है। जब उसे शकुन्तला के स्तनों को देखने का अवसर मिल जाता है तो उसका अभिलाष यानी काम बिन्दु से सिन्धु बन जाता है। यहाँ परिहास कितना अधिक प्रासंगिक और उपयोगी है।

इन्दुमती जब स्वयंवर में सात राजाओं को छोड़कर आठवें अज के पास पहुँची उसका भाव बदल गया। सुनन्दा ने ताड़ लिया और बोली 'आर्ये! बढ़ें आगे।' वधू इन्दुमती ने उसे टेढ़ी दृष्टि से देखा (रघु० ६.८२)।

पार्वती का वधूशृङ्गार हो रहा था। एक प्रसाधिका ने पैर में अलता लगाया और आशीर्वाद दिया–'अब इससे पति के सिर की चन्द्रकला का स्पर्श करना' तो पार्वती ने उसे एक माला लगाई।

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान।। (कुमार० ७.१९)

इन परिहासों में हास अंग बना रहा शृङ्गार का। पार्वती अपने शरीर पर उभरे संभोग के चिह्न दर्पण में देख रही थीं। पीछे खड़े दिखाई दिए शिव तो वे लाज में डूब गई।

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
प्रेक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया।। (कुमार०८.११)

अश्वघोष श्लोक बना सकते हैं और उसमें कविता भी उतार सकते हैं, किन्तु क्या वे जीवन के उपर्युक्त हासपरिहासों को भी उतार सकते हैं? आचार्यों का कहना है 'यावत् पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्' = 'रस में डूबी प्रतिभा ही काव्य में रससृष्टि कर सकती है।' कालिदास स्वयं रसपूर्ण जीवन जीते और संसार में संसारी बनकर रहते हैं।

शाकुन्तल में जब विदूषक को दुष्यन्त से शकुन्तला की प्रशंसा सुनने को मिली और उसने जाना कि वह दुष्यन्त पर आकृष्ट हैं तो कहा 'मित्र, शीघ्रता कीजिए, कहीं ऐसा न हो कि वह किसी इङ्गुदीतेल से चिकने सिर वाले के गले मढ़ दी जाए'। (शाकु० २.११.१)।

राजा कहता है 'घर से माताओं का आदेश आया है तुरन्त लौटने हेतु और इधर तपस्वियों की इच्छा है इष्टिविघ्न रोकने हेतु यहीं रहा आऊँ। समझ नहीं पा रहा हूँ क्या करूँ' तो विदूषक कहता है 'त्रिशङ्कु के समान बीच में ही अटके रहो' (शाकु० २.१८.१७)। राजा जब शकुन्तला के प्रति अपना अनुराग व्यक्त करता है तब विदूषक पुनः ग्राम्य लहजे में बोल बैठता है 'जैसे पिण्डखजूर खाते खाते कोई ऊब

जाए और इमली चाहे' (शाकु० २.१०.१)। प्राय: सभी उक्तियों में विदूषक की उक्तियाँ ऐसी ही हैं। मालविकाग्निमित्र का विदूषक अधिक व्यावहारिक और घटनाचतुर है। वह दो नाट्याचार्यों में लड़ाई करवाता और नायिका को नायक के समक्ष अधिकतम खुले अंग में नृत्य के साथ प्रस्तुत होने का अवसर देता है। विक्रमोर्वशीय में हास—परिहास के अधिक अवसर हैं और वहाँ परिस्थितिजन्यता भी है। विदूषक ने उर्वशी के प्रति पुरूरवा के आकर्षण का रहस्य खोल दिया, किन्तु पुरूरवा के पूछने पर कि तुमने इस रहस्य से किसी को अवगत तो नहीं करा दिया विदूषक चुप्पी साध लेता है और बार बार पूछने पर कहता है 'मैंने अपनी जीभ इतनी नियन्त्रित कर रखी है कि मैं यह बात खुद तुमको भी नहीं बतला सकता' (विक्र० २.३.४—५)। प्रेक्षक को तो विदित है कि निपुणिका उससे रहस्य—भेद करा चुकी है, अत: परिहास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

विक्रमोर्वशीय में 'भूर्जपत्रघटना' (२.१२—२०, विशेषत: २.१४.२, २.२०.५) परिस्थिति—जनित परिहास का सर्वोत्तम उदाहरण है । उर्वशी ने पुरूरवा को जो प्रेमपत्र लिखा था उसे पुरूरवा ने विदूषक को सौंप दिया, विदूषक के हाथ से वह हवा के झोंके में उड़ गया और देवी के हाथ लग गया। दोनों उसे खोज रहे हैं तभी देवी उसे देती हुई कहती हैं 'आर्यपुत्र आवेग में न आएँ, यह रहा वह भूर्जपत्र' (विक्र० २.२०.५)। राजा कहता है 'हम इसकी खोज नहीं कर रहे हैं' तो रानी उत्तर देती है 'अपना सौभाग्य (प्रिया प्रेम) छिपाना स्वाभाविक ही है' (विक्र० २.२०.१०—११)। यहाँ सौभाग्यशब्द स्त्रीपुरुष के अन्योन्य प्रेम के अर्थ में आया है (हमारा लेख सागरिका—४.२)।

रानी सामने है और उर्वशी का प्रेमपत्र भी, तो राजा विदूषक से पूछता है—'अब क्या उत्तर देना चाहिए तो वह ग्राम्य लहजे में उत्तर देता है 'चोरी करते समय पकड़ा गया चोर जो उत्तर देता है' (विक्र० २.२०.८—९)। नाट्यकला की दृष्टि से यह पूरा प्रसङ्ग अतीव कुतूहलपूर्ण और ललित है। मुझे स्मरण नहीं आता कि सुप्रसिद्ध नाट्यकार शेक्सपियर के किसी भी नाटक में ऐसा रसनीय और मधुर कोई भी प्रसंग है। भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' में सपत्नी द्वारा सपत्नी होने जा रही सुन्दरी के लिए माला बनाने का प्रसङ्ग भी ऐसा ही है, किन्तु उसमें विरह की पीड़ा का अनुवेध भी है, अत: लालित्य में किञ्चित् उदासी सी आ जाती है। किन्तु विदेशी नाट्य योजना में ऐसी भी स्थिति नहीं दिखाती।

इस सुदीर्घ और विस्तृत परिहासयोजना में असत्य का कहीं भी स्पर्श नहीं। साथ ही इसमें सूनृतता भी रक्षित है (रघु० ८.९२, १४.६)।

(३) अस्तेय

अस्तेय में स्तेय का अर्थ है दूसरे के अधिकार की वस्तु पर दूसरे अनधिकारी अन्य किसी व्यक्ति का अधिकार। इससे उलटा होगा अस्तेय। कालिदाससाहित्य में इस मनोवृत्ति को भी ठीक से प्रस्तुत किया गया है। दिलीप रक्षा में इतने दक्ष हैं कि 'चोरी' का अस्तित्व केवल 'चोरी' शब्द तक सीमित रह गया था। – इसका अर्थ यह कि अस्तेय में 'नञ्' सर्वथा अभाव के लिए है, अपरिग्रह के 'नञ्' के समान 'अल्प' अर्थ में नहीं।

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः।
व्यावृत्ता यत् परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता।। रघु० १.२७।।

दिलीप के ही विषय में रघुवंश के षष्ठ सर्ग में कहा गया–'दिलीप के शासन में जो विलासिनी सुन्दरियाँ विहारस्थलों में भी सुधबुध खोकर सो जाती थीं, उनके वस्त्रों को वायु भी छू नहीं सकता था, उनके आभूषणों के लिए हाथ फैलाने का साहस कौन करता' –

यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाभरणाय हस्तम्।। रघु० ६.७५।।

कालिदास के समय चोरी के लिए राजदण्ड था प्राणहरण। शाकुन्तल में छठे अंक का धीवर–वृत्तान्त इसका प्रमाण है। धीवर एक ऐसी अँगूठी बेचता पकड़ाया था जिसमें रत्न का नगीना था और दुष्यन्त का नाम अंकित था। उसे पकड़कर दुष्यन्त के पास लेकर पहुँचे राजपुरुष राजाज्ञा की प्रतीक्षा करते समय कहते हैं–

सूचक : मेरे हाथ फुरफुरा रहे हैं इस वध्य को माला पँहनाने हेतु[१]।

जानुकः (देखकर) हमारे मालिक पत्र लिए आ रहे हैं। अवश्य ही या तो यह कुत्तों से नुँचवाया जाएगा या बनाया जाएगा गिद्धबलि (शाकु० ६.२.११–१३)।

जब आदेश निकलता है छोड़ देने का तो कहा जाता है–'अरे यह यमराज के यहाँ पहुँच कर लौट आया' (शाकु० ६.२.१७)। इसी प्रकार धीवर को राजा की ओर से पुरस्कार दिया जाता है तो कहा जाता है–'यह है अनुग्रह कि शूल[२] पर से उतार कर हाथी पर बिठा दिया गया' (शाकु० ६.२.२२)। स्पष्ट है कि चोरी के लिए

१. मृच्छकटिक में वध्य चारुदत्त को करवीर की माला पहनाई गई थी।

२. शूल पर चढ़ाकर शूलीनामक प्राणदण्ड दिया जाता था। हाथी पर बैठने का अधिकार तीन ही व्यक्तियों को प्राप्त था (१) राजा (२) दूलह और (३) नगर श्रेष्ठी। दुष्यन्त ने प्राणदण्ड के स्थान पर धीवर को इतना बड़ा इनाम दे दिया कि वही बन गया नगर का सर्वाधिक धनपति, नगरसेठ।

कालिदास के समय प्राणदण्ड निश्चित था।[1]

कार्त्तवीर्य धनुष लिए सामने आ खड़ा होता था किसी के भी मन में अकार्य (गलत) करने की इच्छा उठते ही, अतः उसने अपनी प्रजा के मन से भी अविनय हटा दिया था—

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवँश्चापधरः पुरस्तात्।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाऽविनयं विनेता।। (रघु० ६.३९)

अस्तेय की प्रतिष्ठा हो जाने पर महर्षि पतञ्जलि का कहना है सभी दिशाओं से सभी रत्न आ बरसते हैं (पा०यो०सू० २.३७)। यही कारण था कि जब रघु ने दिग्विजय से प्राप्त सम्पूर्ण सुवर्ण का कण—कण कर वितरण कर दिया और १४ कोटि निष्क या सुवर्ण मुद्राओं की आवश्यकता पड़ी तो रघु के कोष में सुवर्ण की वृष्टि हो गई (रघु० ५.२९)। पुरूरवा को भी उर्वशी से मिलाने वाली संगमनीय मणि स्वयं ही प्राप्त हुई (विक्र० ४)।

(४) ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का प्रथम और मुख्य अर्थ है ब्रह्म की चर्या। ब्रह्म शब्द का एक अर्थ है पुरुष में शुक्र और नारी में शोणित। इनकी रक्षा ब्रह्मचर्य का प्रथम अर्थ हुआ। महर्षि पतञ्जलि ने इसकी प्रतिष्ठा का फल बतलाया है [2]वीर्य या पौरुष का लाभ। कालिदास मनुवंश की रक्षा में हेतु उसका अपना वीर्य बतलाते हैं—'स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः' (रघु० २.४)। रघु इन्द्र को हरा देता है। उसका अमोघ वज्र रघु के वक्षःस्थल पर मोघ ठहरता है (रघु ३.६३)। रघुवंश के पूर्वपुरुष ककुत्स्थ दानवों से लड़े थे देवराज इन्द्र को वृष बनाकर उसके कन्धे पर बैठकर (रघु० ६.७२) कुश ओर दुष्यन्त दोनों ही परस्त्रीविमुख हैं और वे भी इन्द्र के आधे सिंहासन पर बैठते हैं, अपने वीर्य के प्रभाव से ही (रघु० १६.८, १७.७ शाकु० ५.१४, ७.१)।

वीर्यलाभ का एक प्रभाव गुरु से शिष्य में विद्या का संक्रमण भी महर्षि व्यास[3] और वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है। 'नन्दिनी'—वृत्तान्त इसी का उदाहरण है। निश्चित ही गुरु वसिष्ठ ने दिलीप को नन्दिनी गौ के साथ ही कोई **'नन्दिनी'**—नामक विद्या भी

---

१. हाथी पर बैटने का अधिकार तीन ही व्यक्तियों को प्राप्त था (१) राजा (२) दूलह और (३) नगर श्रेष्ठी दुष्यन्त ने प्राणदण्ड के स्थान पर धीवर को इतना बड़ा इनाम दे दिया कि वही बन गया नगर का सर्वाधिक धनपति, नगरसेठ ।

२. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः — पा.यो.सू. २.३.८

३. पा.यो.सू. २.३८ पर व्यासभाष्य —'यस्य लाभाद् अप्रतिघान् गुणानुत्कर्षयति। सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवति।'

दी थी। तभी अश्वमेध–यज्ञ का अश्व अलक्षित होते ही नन्दिनी उपस्थित हो जाती है और अश्व दिखाई पड़ जाता है (रघु० ३.४०,४१)। कहा भी गया है **'स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्, ततः प्रातिभात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम्'** (पा.यो.सू. ३.३५–३६)।

ब्रह्मशब्द का दूसरा अर्थ है 'सत्ता, ज्ञान और आनन्द का संपिण्डित वह अन्तिम तत्त्व जो नित्य भी होता है और व्यापक भी, जिससे वेदश्रुतियाँ प्रकट होती हैं और जिसकी भावना से पुनर्जन्म का चक्र निवृत्त हो जाता है'। इसी कारण ब्रह्म का एक अर्थ वेद भी है। सप्तर्षियों को शिव ने स्मरण किया तो वे कृतकृत्य हो गए और बोले–

यद् ब्रह्म सम्यगाम्नातं यदग्नौ विधिना हुतम्।
यच्च तप्तं तपस्तस्य विपक्वं फलमद्य नः ।। कुमार० ६.१६।।

यहाँ ब्रह्म शब्द स्पष्ट रूप से 'वेद' के लिए प्रयुक्त है।

महर्षि कण्व नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे अर्थात् वे जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत धारण किए रहे (शाकु० १.२३.२५)।

(५) अपरिग्रह

'अपरिग्रह'–शब्द में जो 'नञ्' है वह अल्पार्थक है। वह अस्तेय के 'नञ्' के समान सर्वथा अभाव अर्थ में नहीं। तदनुसार अपरिग्रह का अर्थ होगा अल्प परिग्रह अर्थात् उतना ही परिग्रह जितना अपरिहार्य हो। आवश्यकता से अधिक का परिग्रह प्रपञ्च है जो त्याज्य है। यह भी सत्य है कि परिग्रह का सर्वथा त्याग व्यवहार जगत् में संभव नहीं यद्यपि पातञ्जल योगसूत्र २.३० के भाष्य में– व्यास जी ने अपरिग्रह का अर्थ विषयों की अस्वीकृति ही किया है–

'विषयाणामर्जन–रक्षण–क्षय–सङ्ग–हिंसा–दोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः'
(पा.यो.सू. १.३०) इस तत्त्व का निरूपण श्रीभागवत में इस प्रकार किया गया है–

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।

कितने थोड़े में विश्व की आर्थिक विषमता को समाप्त कर दिया गया इस अपरिग्रहयोग के द्वारा। कालिदास के [1]शिव ऐश्वर्य के प्रमुख अधिष्ठाता हैं, किन्तु उनमें अपरिग्रहयोग की ऐसी प्रतिष्ठा है कि वे कृत्ति ही ओढ़ कर सन्तुष्ट रहते, यद्यपि भक्तों पर बरसाते रहते हैं अनेक प्रकार के विपुल फल (माल० १.१)। रघु के मानस में जब प्रशम प्रतिष्ठित हो गया तो उनके लिए मिट्टी का ढेला और सुवर्णपिण्ड बराबर हो गए (रघु० ८.२१)। अपरिग्रह के लिए कालिदाससाहित्य के अन्य सन्दर्भ ये हैं–

---

१. 'एकैश्वर्यस्थितोऽपि प्रणतबहुफलो यः स्वयं कृत्तिवासाः' माल० १.१।

शाकु० ७.१२, रघु० ५.३१; १३.३९; १५.७०—७१; कुमार० ५.२८।

अपरिग्रह का फल है जन्मकथन्ताबोध (पा.यो.सू. २.३९)। कालिदास इसे भी निम्नलिखित सन्दर्भों में प्रस्तुत करते हैं— कुमार० १.२१; रघु० १०.३१, १४.६२।

ये हुए यम। इनके लिए कालिदाससाहित्य के निम्नलिखित स्थल भी देखे जा सकते हैं—

कुमार० १.५८; ३.१६, ५.४; रघु० १.३५ ९०, ९५; ३.४४, ६५; ५.२८; ८.११; ९.२२; १३.७०; १४.८२; विक्र० ३.२.

यमों का इसी रूप में जैनधर्म के 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ में भी निरूपण है। यानी यम भारत की संयमप्रधान सभी संस्कृतियों में समानरूप से मान्य हैं।

(२) नियम

नियम हैं शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। इनका निरूपण भी कालिदास साहित्य में विस्तारपूर्वक हुआ है।

(क) शौच

शौच के अन्तर्गत दो प्रकार की शुचिता आती हैं (१) बाह्य और (२) आन्तर। बाह्य शौच है शरीर से अशुचि वस्तु का स्पर्श न करना। आन्तर शौच है चित्त के मैल को हटाना जिसके परिणाम होते हैं सौमनस्य, सौमनस्य से एकाग्रता, एकाग्रता से इन्द्रियजय और उससे 'आत्मा' के दर्शन की योग्यता [१]। इनके अन्तर्गत अवद्यस्पर्शनिरास शिष्ट नागरों के ही समान तपस्वियों में भी स्वत: प्रिय होगा।

(ख) संतोष

जो तपस्वी केवल दूर्वाङ्कुर ग्रहण कर जीता उसमें संतोष की मात्रा कितनी बड़ी होगी यह स्वयं सोचा जा सकता है (रघु० १३.३९)।

(ग) तप

तप का तप शब्द से ही कालिदास ने १३० बार उल्लेख किया है। ये सन्दर्भ हैं—

तप्, तपस्—कुमार० १.२६, ५४, ५७, ५७; २.५६; ३.४, १२, २४, ७१, ७४; ४.४२; ५.२—४, ६, १८, १८, २८, २९, ३३, ४१, ५२, ५९, ६१, ६४, ८६; ६.१०, ११, १६, ७.६५; रघु० १.६९, ९४; ५.५, १३, ५५, ६.२१; ८.७९, ८०; १०.२५, ४३; ११.१३, २३, ३३, ८८; १३.५०; १४.६६; १५. १०, १२, ३७, ५१,

---

१. पा.यो.सू.—२.४०, व्यासभाष्य तथा सूत्र २.४१।

५३, १७.६५; १८.९; १९.२; शाकु० १.१७,२२,२.१४, १५; ३.२; ५.९, १३, १४, १४; ७.१२, १२, ३४. **तपस्** — रघु० १३.४१, शाकु० ७.९, १२. **तपस्यत्**—कुमार०३. १७; रघु०१५.४९. **तपस्विन्**—कुमार०३.३४,६५,७४; ५.२९, ३६; ६.१०,३४; ८. ४७; रघु० १.४९; ३.१८;९.७२,७६; १०.१९; ११.१२,८८; १३.४१; १४.९, ६७, ७५; १५.२७; शाकु०१.१३, १७, २४; २.१२, १४, १५, १८, १९; ४.२; ५. २,१३,१४,२०,२८; ७.१२; विक्र०१.१० .**तप**—कुमार०४.४४; ५.२३; शाकु० ३.१५,१६. **तपन**—रघु०४.१२; विक्र० ३.१६. **तपनीय**—कुमार० ८.८१; रघु० १८.४५, माल०४.३. **तपःकृश**—कुमार०५.६१. **तपःक्षम**—शाकु०१.१७. **तपःपरामर्शविवृद्धमन्यु**— कुमार०३. ७१. **तपःप्रतिबन्धमन्यु**—रघु०८.८०; **तपःप्रभाव**—शाकु०७.३.४. **तपःप्रभावसिद्ध**— रघु०१५. ४२. **तपःफल**—कुमार०५.४१. **तपस्विकन्या**—शाकु०१.१६, २४; २.१२; **तपस्विकार्य**—शाकु०२.१८. **तपस्विगाढा**—रघु०९.७२. **तपस्विदर्शनोचित**—शाकु०५.१०. **तपस्विनी**— रघु० १४.६४; शाकु०७.३१.३. **तपस्विवेशक्रिया**— रघु०१४.९. **तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्व**—रघु० १४.७५. **तपस्विसामान्य**—रघु०१४.६७. **तपःसमाधि**—कुमार०३.२४, ५.६ **तपःसाक्षिन्**—कुमार०५.६. **तपःसाधन**—कुमार०५.५२;रघु०१३.५०. **तपःसिद्धि**—कुमार० ६.११, रघु० १.९४. **तपःषड्भाग**—शाकु० २.१४.

(घ) स्वाध्याय

स्वाध्याय का अर्थ है योगोचित साहित्य का अध्ययन। तपोनिरत पार्वती को स्वाध्यायनिरत (अधीतिनी) कहा जाता है (कुमार० ५.१६) प्राजापत्य तपस्वी सप्तर्षि वेदाख्य ब्रह्म का सम्यक् अभ्यास करते हैं (कुमार० ६.३४), वेद ही है मोक्षशास्त्र। योगदर्शन भाष्य में महर्षि व्यास वेदाभ्यास को स्वाध्याय मानते हैं (पा.यो.सू. २.३२)।

(ङ) ईश्वरप्रणिधान

ईश्वर को पुरुषविशेष कहकर उसकी विशेषता बतलाई गई कि उसको क्लेश, कर्मविपाक, और उनके संस्कार छू नहीं पाते –

(१) 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (पा.यो.सू. १.२४)

(२) सर्वज्ञ यानी जिसमें ज्ञान पराकाष्ठा को प्राप्त रहता है—

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (पा.यो.सू. १.२५) 'यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य सः सर्वज्ञः अतीतानागत—प्रत्युत्पन्न—प्रत्येक—समुच्चयातीन्द्रियग्रहणम् अल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजम्, एतद् विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः'—व्यासभाष्य।

(३) वह गुरुओं का भी गुरु है क्योंकि उसमें कालसीमा नहीं रहती—
'स हि पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनाऽनवच्छेदात्' (पा.यो.सू. १.२६)।

(४) उसका नाम है ओंकार। वह उसका वैसे ही वाचक है जैसे राम का वाचक राम—
'तस्य वाचकः प्रणवः' (पा.यो.सू. १.२७)। इस प्रणव का जप करने और ईश्वर की भावना करते रहने से मन एकाग्र हो जाता है।

(५) 'तज्जपस्तदर्थभावनम्', (पा०यो०सू १.२८)।

स्वयं कालिदास ईश्वर को तम से परे स्थित अव्यय पुरुष बतलाते हैं (रघु० ८.२४)

ईश्वर शब्द जिस 'ईश्' धातु में 'वरच्' प्रत्यय लगने से बनता है उसी से 'ईश' शब्द भी बनता है और 'ईशानशब्द' भी। ईश्वरी—शब्द ईश्वर का स्त्रीलिंग शब्द है। इन सबके प्रयोग कालिदाससाहित्य में इन सन्दर्भों में देखे जा सकते हैं—

ईश् — रघु० १४.३८, १८.१३. **ईश** — कुमार० २.९; ३.३४, ५९; ५.८१; ६.८०; ७.९५. रघु० २.६७; ३.६६; ४.८३; ५.१, ६२; ६.४४; ७.३३, ३७; १०. २०; ११.२०; १२.८४; १४.४३ शाकु० १.१; माल०१.१. **ईशान**— कुमार० ७.५६. **ईश्वर** —कुमार० ३.६३; ४.११; ६.१२, ५३, ७५; ७.३१, ७२; ८.५०, ८०; रघु० २.२; ३.३; ५, ३०, ४६, ५२, ६४, ६८; ४.६९, ७०, ८१, ८४; ५.३२, ३९; ६.२, २०, ४०; ८.५, १५, २०, ३३, ४६; ९.६, २१, २४, १०.५५, ७३; ११.१, ३५, ४०, ६१; १२.११, ८९; १३.५७, ६९, ७२,७७; १५.७, ५८, ९०, ९१; १६. ४२; १८.२४; १९.१५, शाकु० ७.४, २७; माल० ४.३, विक्र० १.१, २.१८, ४.३७. **ईश्वरनियोगपरिपन्थी**— विक्र०२.१८. **ईश्वरव्याहति**— कुमार० ३.६३; **ईश्वरेच्छा**— रघु० ८.४६.

कालिदास ईश्वर की सिद्धि का शास्त्रार्थ भी जानते हैं। उन्हें उसका निष्कर्ष विदित है । निष्कर्ष 'ईश्वर की सिद्धि आप्तवचन (वेदवचन) से ही हो पाती है। अनुमान द्वारा आप्तवचनों का समर्थनमात्र संभव होता है' —

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा।। (रघु० १०.८०)

भगवन्! पृथिवी आदि जो आपकी महिमा है वह तो प्रत्यक्ष है, किन्तु उसी की इयत्ता जानना संभव नहीं, फिर आप तो सिद्ध होते हैं आप्तवाक् और अनुमान से। आपके विषय में क्या कहा जाए।

किन्तु कालिदास ईश्वर को प्रत्यक्ष भी मानते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, और आकाश ये सभी प्रत्यक्ष हैं ही, सूर्य तथा चन्द्र भी प्रत्यक्ष हैं और आत्मा तो

केवल प्रत्यक्ष ही है। आकाश भी कुछ दर्शनों में प्रत्यक्ष ही माना गया है और वायु भी। वायु का तो त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता ही है (शाकु० १.१)। ईश्वर क्षेत्र अर्थात् इसी स्थूलशरीर के भीतर मिल जाता है (कुमार० ३.५०, ६.७७)। अष्टमूर्त्ति शिव स्थिरभक्ति से सुलभ हो जाते हैं (माल० १.१)। नारद जी गोकर्णधाम में ईश्वर को वीणा सुनाते हैं (रघु० ८.३३)। रघु की योगसमाधि की अन्तिम सीढ़ी ईश्वरप्रणिधान ही है (रघु० ८.२२,२४)।

सामर्थ्यवान् को भी ईश्वर कहा जाता है। सामर्थ्य परमेश्वर में भी रहता ही है, अत: सामर्थ्यवान् अर्थ में जितने ईश्वरशब्द कालिदास साहित्य में मिलते हैं उन सबको परमात्मा रूपी अर्थ में लिया जा सकता है। कालिदास साहित्य में ऐसे प्रयोग ६६ से कम नहीं। इसी प्रकार 'ईश' शब्द भी २१ बार प्रयुक्त मिलता है। ईशानशब्द ही ऐसा है जिसका प्रयोग कालिदास साहित्य में केवल एक बार हुआ है।

इस प्रकार कालिदास सहित्य में प्राप्त 'यम' और 'नियम' के सन्दर्भ खोजे गए। अब आता है अष्टाङ्गयोग का तीसरा अंग आसन। कालिदास साहित्य में इसके भी विविध प्रयोग मिलते हैं।

(३) आसन

आसन के विषय में महाकवि कालिदास अत्यन्त जागरूक हैं। भगवान् पतञ्जलि ने योगसूत्र में आसन में दो विशेषताएँ बतलाई हैं १. स्थिरता और २. सुखत्व–'स्थिरसुखमासनम्' (पा०यो०सू २.४६)। इनमें स्थिरता है अनन्त समय तक बने रहना–(अनन्तसमापत्ति) और सुखत्व है प्रयत्न में शिथिलता (प्रयत्नशैथिल्य)। एतदर्थ योगसूत्र है २.४७ – 'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्'। इस पर व्यासभाष्य है–'भवतीति शेष:। प्रयत्नोपरमात् सिध्यत्यासनम्, येन नाङ्गमेजयो भवति। अनन्ते वा समापन्नं चित्तम् आसनं निर्वर्त्तयति।'

आसन दो प्रकार के होते हैं 'स्थण्डिल' (पीठ) आदि रूप तथा 'शारीर'। गीता में आसन के विषय में निम्नलिखित व्यवस्था दी गई है–

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन:।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।। ६.११ ।।

कालिदास इसी आख्या को आधार बनाते और इसी के अनुसार भगवान् शिव को देवदारु की वेदिका पर शार्दूलचर्म बिछाकर समाधि लगाए हुए दिखलाते हैं। वे पर्यङ्कबन्ध आसन लगाए हुए हैं (कुमार० ३.४४–४५)। पर्यङ्कबन्ध का अर्थ घेरण्डसंहिता में योगपट्ट के द्वारा पीठ, दोनों घुटने और दोनों पिड़रियों का बन्धन बतलाया गया है (शब्दकल्पद्रुम)। किन्तु कुमारसंभव ३.४५ में बतलाया गया है–'दोनों हथेलियाँ गोद में

कमल जैसी लग रही थीं, अत: बन्धन का प्रश्न ही नहीं उठता। वाचस्पति मिश्र ने घुटनों तक हाथ फैलाकर सोने को माना था पर्यङ्क। वह अर्थ भी यहाँ संगत नहीं ठहरता। पर्यङ्कबन्ध को वीरासन भी मल्लिनाथ आदि ने माना था (रघु० १३.५२)। यहाँ यह पद्मासन जैसा ही है। हेमाद्रि, चारित्रवर्धन, सुमतिविजय इस विषय में मल्लिनाथ से ही सहमत हैं। किन्तु प्रयाग के पास की भूमि में तपोरत मुनि वेदिमध्य में अध्यासित बतलाए गए हैं, अत: पद्मासन का अभिप्राय यहाँ लागू नहीं होता। यहाँ वल्लभदेव ने वीरासन का रूप बतलाया था पैर के अँगूठे के अग्रभाग पर खड़े होकर सूर्य का दर्शन करना। यही हो सकेगा यहाँ मान्य। वल्लभ और हेमाद्रि ने चतुर्वर्गचिन्तामणि और गरुडपुराण के आधार पर वीरासन का अर्थ किया था निम्नलिखित–

उत्थितस्तु दिवा तिष्ठेदुपविष्टस्तथा निशि।
एतद् वीरासनं प्रोक्तं महापातकनाशनम्।।

'दिन भर रहे खड़ा और रात में जाए बैठ' तो यह स्थिति होगी वीरासन। महापातकों का नाशक है यह।'

किन्तु यह यहाँ लागू नहीं होता, क्योंकि रात में वृक्षों का बैठना संभव नहीं है। वस्तुत: वीरासन भिन्न है और पद्मासन भिन्न। वीरासन का तो स्वरूप वही मान्य है जो ऊपर वल्लभ ने बतलाया, पद्मासन के लिए मल्लिनाथ और हेमाद्रि द्वारा दिया निम्नलिखित स्वरूप ही मान्य होगा–

एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितम्।
इतरस्मिन् पदं चान्यद् वीरासनमुदाहृतम्।।

जहाँ तपस्वियों को वीरासन लगाए दिखलाया गया है वहाँ दी वृक्षों की उपमा से सिद्ध होता है कि तपोरत तपस्वी भी अहर्निश जागते रहते थे।

कालिदाससाहित्य में आसन शब्द निम्नलिखित स्थलों में सुलभ है – कुमार० ३.२; ६.५३ ग २; ७.१२, ७०, ८६; रघु० २.६; ६.१, ४, ६, १६, ७३; ७.१, ८.१८; १०.७; १३.६, ५२; १७.७, २१, २८; १८.४०; शाकु० २.१७; ६.८; ७.२६; माल० १.१३, १३, १६, २०, विक्र० ५.११

आसन शब्द के विविध प्रयोग कालिदाससाहित्य में इस प्रकार हुए हैं–

आसनबन्ध– रघु० २.६; **वेत्रासन**– कुमार० ६.५३; **रत्नासन**– रघु० ६.४; **महार्हासन**– रघु० ६.६; **व्यवहारासन**– रघु० ८.१८; **धर्मासन**– शाकु० ६.८; **गजदन्तासन**– रघु० १७.२१; **सिंहासन**– रघु० ६.१, १८.४०; **वीरासन**– रघु० १३.५२; **पद्मासन**– कुमार० ७.८६; **कमलासन**– (ब्रह्मा) कुमार० ७.७०; **अम्बुरुहासन**– (ब्रह्मा) रघु० १३.६ **अर्धासन**– रघु० ६.७३, शाकु० ७.१; **आसनार्ध**– रघु० ६.१६;

१७.७; **आसनोपविष्टः**— माल० १.१३; **आसनस्थ**— शाकु० ७.२६; **आसनपरिग्रह**— कुमार० ६.५३; मा० १.१६; **क्लृप्तासन**— कुमार० ७.१२; **आसनसन्निकर्ष**— कुमार० ३.२.[1]

रघुवंश में गोचारण के प्रसङ्ग में नन्दिनी के बैठने पर दिलीप को भी आसनबन्धधीर कहा गया (रघु० २.६)। यहाँ बन्धशब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि यह आसन शारीर कोटि का था। इस शब्द से यह भी संकेत मिलता है कि गोचारण के समय में ही दिलीप योगाभ्यास भी कर रहे थे। कुमारसंभव में ब्रह्माजी को पद्मासनस्थ कहा (कुमार० ७.८६)। यहाँ पद्मरूपी आसन के साथ ही पद्मनामक आसन अर्थात् योगशास्त्र में प्रसिद्ध 'पद्मासन' भी लिया जा सकता है। योगशास्त्र में 'सिंहासन' नामक भी एक आसन प्रसिद्ध[2] है, कालिदाससाहित्य में भी सिंहासन शब्द[3] का प्रयोग है, किन्तु वह योगासन नहीं है।

---

१. इनमें योगासन के रूप में आसनबन्ध (रघु०२.६), वीरासन (रघु०१३.५२), 'पद्मासन और 'सिंहासन' को लिया जा सकता है। व्यवहारासनशब्द धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र से संबन्धित माना जा सकता है। अन्य प्रयोग सामान्य रूप में लिए जा सकते हैं। —(शेष अगले पृष्ठ पर)

स्थिरसुखत्व

आसन का लक्षण 'स्थिरसुखमासनम्' (पा.यो.सू. २.४६—४७) किया गया है जिसकी व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि योगसूत्र के भाष्यकार महर्षि व्यास 'स्थिरसुख' शब्द को एक प्रकार की विशेष आसन का नाम भी मानते हैं। उनका भाष्य है— 'तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्यङ्कम्, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनम्, उष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं यथासुखञ्चेत्येवमादीनि' (पा.यो.सू. २.४६)।

यहाँ योगसूत्र पर जो शङ्करभगवत्पाद के नाम से विवरण छपा है उसमें 'स्थिरसुख' के स्थान पर 'स्थितप्रस्रब्धि' पाठ है। इसका अर्थ करते हुए इसी विवरण में कहा गया है—

स्थितप्रस्रब्धिः। अन्येनापि प्रकारेण स्वयमुत्प्रेक्ष्य स्थितप्रस्रब्धिः।
अनायासो येन भवति तदप्यासनं स्थितप्रस्रब्धिर्नाम।

आसन का परिणाम बतलाते हुए स्वयं पतञ्जलिजी ने सूत्र लिखा—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ पायोसू २.४९॥

'आसन लग जाने पर श्वासप्रश्वास की गति टूट जाती है जिसे प्राणायाम कहा जाता है'।

श्वास प्रश्वास का अर्थ करते हुए स्वयं भाष्यकार ने लिखा—'सत्यासनजये। बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः। कोष्ठ्यस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासः। तयोर्गतिविच्छेदः उभयाभावः प्राणायामः। (पा.यो.सू.भाष्य २.४९)।

२. हठयोगप्रदीपिका १.५०

३. रघुवंश ४.४

(४) प्राणायाम

प्राणायाम—शब्द में आयाम का अर्थ है निरोध। प्राणों का निरोध हुआ प्राणायाम। आयाम के स्थान पर अयाम शब्द भी प्राणायाम—शब्द में माना जा सकता है। 'याम' यानी 'यम' यानी प्रच्छर्दन अर्थात् श्वास का छोड़ना। अयाम का अर्थ होगा 'न छोड़ना'। अन्ततः प्राणों का निरोध ही फलित होगा। 'आयाम' शब्द नाट्यशास्त्र आदि में लम्बाई के लिए भी प्रसिद्ध है। अतः 'अ—याम' शब्द यहाँ अधिक उपयुक्त होगा।

i. भगवान् शिव ने समाधि लगा रखी थी। उसमें अन्तश्चारी प्राणवायु का निरोध कर रखा था अतः वे वातरहित स्थान में रखे निष्कम्प प्रदीप से लग रहे थे। श्रीगीता में यही उपमा दी गई है समाधिस्थ योगी को—**'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा मता'** (गीता ६.१९)। 'अन्तश्चारी वायु' से यहाँ 'कुम्भक' दशा की ओर संकेत किया गया।

ii. विक्रमोर्वशीय में भी यही अभिप्राय व्यक्त किया गया जब नान्दीपद्य में शिव को स्थाणुरूप अव्ययपुरुष कहते हुए बतलाया गया कि मुमुक्षुजन जिसे प्राणों आदि को नियमित कर अपने भीतर ही खोजते रहते हैं। यह भी कहा गया कि वही है 'ईश्वर' शब्द का वास्तविक मुख्य वाच्य, अन्य किसी में ईश्वर शब्द लागू होता ही नहीं (विक्र० १.१)। प्राणों का नियमन क्या हो सकता है 'प्राणायाम' के अतिरिक्त?

iii. शाकुन्तल के मारीच आश्रम में एक तपस्वी 'स्थाणु' सा 'अचल' बतलाया गया। निश्चित ही उसने प्राणायाम कर रखा होगा। 'प्राणानामनिलेन' पद्य शाकुन्तल का असाधारण पद्य है (शाकु० ७.१२)। वैसा ही है 'वल्मीकार्धनिमग्न०' (शाकु० ७.११) पद्य।

iv. महाकवि सन्ध्योपासन का भी वर्णन करता है। भगवान् शंकर कुमारसंभव में सन्ध्योपासन करते (कुमार० ८.४८) और विक्रमोर्वशीय में चित्रलेखा और सहजन्या सूर्योपस्थान करती दिखलाई जाती है (विक्र० ४.४१)। रघुवंश में महाराज दिलीप सन्ध्यासमय लौटते और सान्ध्य विधि का अनुष्ठान पूरा करते दिखलाए गए हैं (रघु० २.२३)। संध्या में प्राणायाम अपरिहार्य ही होता है।

(५) प्रत्याहार

प्रत्याहार योग का पाँचवा अंग है। इसका अर्थ हैं 'मन का विषयों से लौटाया जाना' **स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः** (पा.यो.सू २.५४)

ततः परमा वश्यता इन्द्रियाणाम्। (पा.यो.सू. २.५५)

कालिदास समाधिस्थ शिव को आत्मसाक्षात्कार करता निरूपित करते हैं, किन्तु पहले प्रत्याहार दिखलाते हैं– 'शिव आत्मा का साक्षात्कार अपने भीतर कर रहे हैं, किन्तु इसके लिए उन्होंने पहले मन का निरोध किया और उसे नौ इन्द्रियों में से किसी से बाहर नहीं जाने दिया' –

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्र/वेद–विदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्।। (कुमार० ३.५०)

अभ्यास–निगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये।। (रघु० १०.२३)

इन दोनों श्लोकों से प्रत्याहार स्पष्ट है। इनके अलावा

प्रत्याहरण	विक्र० १.१६
प्रत्याहृत	माल० ५.१६
निगृहीत	रघु० १४.५२

आदि शब्दों से भी प्रत्याहार का अभिप्राय स्पष्ट होता है।

(६) धारणा

'धारणा' छठा योगाङ्ग है। इसके अन्तर्गत चित्त को अपने शरीर के ही किसी स्थान में एकाग्र किया जाता है। ये स्थान हैं नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, नासिकाग्र, आदि–**'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा** (पा.यो.सू. ३.१)। कालिदास का रघु धारणा का अभ्यास करने के लिए कुशों से पवित्र आसन पर बैठता है (रघु० ८.१८)। भगवान् शिव समाधिवश्य चित्त को हृदयकोष में स्थिर करते हैं (कुमार० ३.५०)। वे नासिकाग्र को भी देखते हैं (कुमार० ३.४०)।

(७) ध्यान

'ध्यान' योग का सातवाँ अंग है। यह धारणा से आगे का सोपान है। इसमें केवल 'ध्येय' का ही ज्ञान होता रहता है –

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (पा.यो.सू. ३.२) ।

कालिदाससाहित्य में मारीच आश्रम के तपस्वी रत्नशिलाओं के घर में ध्यान करते हैं (शाकु० ७.१२)। कुमारसंभव में शिव जहाँ ध्यानमग्न थे वहीं जा पहुँचा काम (कुमार० ३.४३)। नवोढा पार्वती के साथ शिव जिस मणिशिलागृह में प्रवेश करते हैं वहाँ सभी विभूतियाँ ध्यान से ही आ पहुँचती हैं (कुमार० ८.८१)। महामुनि वसिष्ठ दिलीप के यहाँ सन्तति न होने का कारण ध्यान से जान लेते हैं (रघु० १.७३)। प्रयाग के पास की वनभूमियों में बसे आश्रमी जन वीरासन लगाते और ध्यान का अभ्यास करते हैं (रघु० १३.४२), महर्षि मारीच शकुन्तला को मिले शाप का वृत्तान्त ध्यान से

जान चुके (शाकु० ७.३२)। शापित दुष्यन्त को शकुन्तला का ध्यान नहीं आता (शाकु० ६.७)। ब्रह्म ही ध्येय है और ब्रह्म ही ध्याता (कुमार० २.१५)। दुष्यन्त स्मरण आते ही शकुन्तला का ध्यान कर विह्वल हो जाता है (शाकु० ६.९)। मेघ को देखते ही यक्ष बहुत देर तक ध्यानमग्न रहा (मेघ० ३)। रघु ध्यान के अभ्यास से शरीरगत पाँचों प्राणों को वश में कर लेते हैं। ये हुए योग के १—७ अङ्ग। अन्तिम अष्टम अंग है 'समाधि'।

(८) समाधि (योग)

योगदर्शन में योग का अन्तिम अर्थ है समाधि। इस तक पहुँचने के लिए सोपान हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान। ये सब कालिदाससाहित्य में पर्याप्त मात्रा में सुलभ हैं जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, किन्तु समाधि के अर्थ में भी योग शब्द का प्रयोग कालिदाससाहित्य में बिखरा मिलता है [१]।

---

१. अन्य अर्थों में योग शब्द के प्रयोग कालिदाससाहित्य के निम्नलिखित सन्दर्भों में देखे जा सकते हैं — कुमार० ५.६७; ७.६, ५५, ७८; ८.७८, ७८; रघु० १.४६, ३.२६; ५.६०, ७२, ६.६५, ८५; ७.३; ९.१८, ४४; १०.८६; ११.५६; १३.२९, ७६; १५.३५; १६.८४; १७.७८; १८.२, ४६; शाकु० २.१० (चित्रे निवे), १५ (अध्याक्रा०); ७.२२ (स्मृतिभि०), विक्र० २.४, (निषिञ्चन्)। इनमें से रघुवंश के ९.१८, १०.८६, १८.४६., शाकुन्तल के २.१५ पद्य में योग का अर्थ है राजनीति का अंग 'योग' अर्थात् उपाययोजना। कुमारसंभव के ८.७८ पद्य में 'योग' का अर्थ उपयोग है। अन्य सन्दर्भों 'योग'— शब्द के 'योग' से अन्य शब्द बनाए गए हैं यथा प्रीतियोग (कुमार० ७.५५), सान्निध्ययोग (कुमार० ७.७८, रघु० ७.३), योगतारा (कुमार० ८.७३), दैवयोग (रघु० ५.६०), तरुणारुणरागयोग (रघु० ५.७२), समगुणयोग (रघु० ६.८५), अलिकदम्बकयोग (रघु० ९.४४), प्रत्ययप्रकृतियोग (रघु० ११.५६), बाष्पयोग (रघु० १३.२९), बुधबृहस्पतियोग (रघु० १३.७६), साधर्म्ययोग (रघु० १७.७८), सुवृष्टियोग (रघु० १८.२), सत्त्वयोग (शाकु० २.१०), रक्षायोग (शाकु० २.१५), भक्तियोग (विक्र० १.१)। इनमें से रघुवंश ११.५६ में व्याकरणशास्त्रसंमत योग अर्थ में योग शब्द का प्रयोग है, रघु० १३.५७; १८.२; कुमार० ८.७३ इन स्थलों में ज्योतिषशास्त्र से संबन्धित अर्थ में, कुमार०७.५५ तथा रघु०६.८५ में कामशास्त्र से संबन्धित अर्थ में तथा रघुवंश ७.३ पद्य में धर्मशास्त्र से संबन्धित।

'अरिह' योग (रघु० ९.१८) शब्द में योगशब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र के तन्त्रयुक्ति प्रकरण का योग है।

—'सुवृष्टियोग' शब्द को कृषिशास्त्र से संबन्धित माना जा सकता है।

'दैवयोग' शब्द में योग का अर्थ लोकप्रसिद्ध 'भाग्य' किया जा सकता है। अन्यत्र केवल 'योग' शब्द ही प्रयुक्त है, किन्तु कुमार० ७.६, रघु० १.४६, तथा शाकु० ७.२२ में यह ज्यौतिषशास्त्र से संबन्धित है। विक्र० के २.४ पद्य में 'स्नेहदाक्षिण्ययोग' शब्द की कल्पना की जा सकती है।

उक्त सन्दर्भों के लिए द्रष्टव्य हमारी 'कालिदासग्रन्थावली' का १९८६ में काशीहिन्दूविश्वविद्यालय से प्रकाशित द्वितीय संस्करण।

रघुवंश के राजा योग से ही छोड़ते हैं शरीर (रघु० १.८), रघुवंशमहाकाव्य का नायक रघु योगसमाधि से ही तम से परे अवस्थित अव्यय पुरुष को प्राप्त करता है (रघु० ८.३३), लक्ष्मण सरयूतीर पर शरीर छोड़ते हैं योग से ही (रघु० १५.८५), पुष्यनामक राजा पुनर्भव से छूट जाता है जैमिनि महर्षि से प्राप्त योगविद्या से (रघु० १८.३३), सती योग से ही शरीर छोड़ती, किन्तु फिर से जन्म लेने हेतु मेना के गर्भ से पार्वती के रूप में प्रकट होती है (कुमार० १.२१), पार्वती जी अपने भावी पति शिव के दर्शन के लिए पहुँचती और उसी क्षण शिव योग से परमात्मा का दर्शन कर आँख खोलते हैं (कुमार० ३.५८), स्थिरधी रघु योग से तब तक विराम नहीं लेता जब तक उसे परमात्मा के दर्शन नहीं हो जाते (रघु० ८.२२), भगवान् विष्णु ने जो शयन किया था वह उनकी योगनिद्रा थी (रघु० १०.१४, १३.६), चित्रकूट और प्रयाग के बीच के तपस्वी महर्षियों के वृक्ष भी योगाधिरूढ से लगते हैं (रघु० १३.५२), अयोध्या की अधिदेवता में योग का प्रभाव नहीं था, किन्तु वह कुश के बन्द शयनकक्ष में पहुँच गई (रघु १६.७), यमनियमादि के अभ्यास से योगी को उसके भीतर ही ईश्वररूपी स्थाणु सुलभ रहता है (विक्र० १.१), योगी अपने भीतर ही शिव को सुख से पा लेते हैं (कुमार० ६.७७), योगी कार्त्तवीर्य जैसा राजा न भूतो न भविष्यति (रघु० ६.६८), अज मन्त्रियों से मन्त्रणा करता और उसका पिता रघु योगियों से (रघु० ८.१७)। भगवान् विष्णु ज्योतीरूप हैं, उन्हें योगी हृदय में ही पा लेते हैं (रघु० १०.२३)।

कालिदाससाहित्य में समाधि शब्द सुलभ है। निम्नलिखित स्थलों में समाधि का अर्थ वही है जो योग में।

१. हिमालय की पत्नी मेना समाधिमती थी (कुमार० १.२२),
२. पार्वती समाधि में बाधक थी तब भी शिव ने उनकी सेवाएँ स्वीकार की (कुमार० १.५९)।
३. पार्वती ने अपने रूप को अवन्ध्य करने हेतु समाधि को ही सही उपाय माना। (कुमार० ५.२)
४. पतिप्राप्ति के लिए पार्वती को समाधि आवश्यक नहीं। वे सुन्दर जो हैं (कुमार० ५.४५)।
५. हर के प्रसंख्यान में अप्सराओं की गीति बाधक नहीं बनी (कुमार० ३.४०)।
६. हरिणी अप्सरा समाधिभेदिनी थी (रघु० ८.७९)।
७. समाधि से देवरज डरा और माण्ड/शातकर्णी ऋषि को अप्सराओं के छल में बाँध लिया (रघु० १३.९)।
८. इन्द्र अन्यसमाधिभीरु था, इसीलिए उसने विश्वामित्र के पास मेनका को

भेजा, जिससे शकुन्तला का जन्म हुआ (शाकु० १.२३.३१ पृ० ५४४)।

९. शिवजी ने मन को समाधि से वश में कर रखा था (कुमार० ३.५०)।

१०. दशरथ ने इन्द्रियों को समाधि से जीत लिया था इसलिए वे 'यम' में निरत व्यक्तियों में प्रथम थे (रघु०९.१)।

११. रघु ने अव्ययपुरुषत्व प्राप्त किया था योगसमाधि से ही (रघु० ८.२४)।

१२. वसन्तऋतु तप:समाधि के प्रतिकूल पड़ता है (कुमार० ३.२४)।

१३. पार्वती फलोदय तक साधती हैं तप:समाधि (कुमार० ५.६)।

१४. पार्वती जब तप:समाधि से शिव को पाने में सफल नहीं होती तो वे घोर तप करना शुरू करती हैं (कुमार० ५.८)।

१५. मालविका का चित्र जिसने बनाया उसकी समाधि शिथिल हो गई होगी, क्योंकि चित्र में मालविका का पूरा रूप उभरा नहीं (माल० २.२)।

१६. दिलीप का निर्माण विधाता ने महाभूतों की समाधि से किया होगा, नहीं तो उसके सभी गुण परार्थैकफल कैसे होते (रघु० १.२९)?

इन प्रयोगों में से कुछ में तो योग और समाधि शब्द चित्त की एकाग्रता के लिए प्रयुक्त हैं और कुछ में चित्तवृत्ति के निरोध के लिए। इनसे समाधि की सबीजता[१] और निर्बीजता, एवमेव संप्रज्ञातता तथा असंप्रज्ञातता स्पष्ट हैं। इसी प्रकार इनसे स्पष्ट है—वह समाधि भी जिसे अध्यात्मप्रसाद[२] कहा जाता है जो निर्विचारवैशारद्यरूप है तथा वह समाधि भी जिसकी संज्ञा है 'धर्ममेघ'[३] तथा जिसका स्वरूप है प्रसंख्यान रहने पर भी अकुसीदता।

इससे यह भी स्पष्ट है कि योगाभ्यास दोनों का ही साधन है पुनर्जन्म का भी और अपुनर्भव यानी मोक्ष का भी। इस जन्म में जो दु:साध्य होता वह भी योग से सुखसाध्य बन जाता है। कलाओं में कुशलता पाने के लिए भी चित्तैकाग्रतारूप समाधि असाधारण कारण है। लोकव्यवहार में भी योग के द्वारा परोपकार करना सरल है। योगशक्ति वज्र को भी विफल कर सकती है। इस कारण योगियों से वज्रधारी इन्द्र भी डरता है। यह योग गुरुशिक्षा से ही सिद्ध हो पाता है, अपने आप नहीं। गुरुशिक्षा के साथ भी भक्ति और स्थिरता अपेक्षित होती हैं। अपेक्षित ही नहीं, अतितराम् अपेक्षित।

---

१. योगशास्त्र में चित्त की एकाग्रता ही है सबीज और संप्रज्ञात समाधि। इसी प्रकार चित्त की निरुद्धता ही है निर्बीज और असंप्रज्ञात समाधि।

२. पा.यो.सू. १.४७ = 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:'।

३. पा.यो.सू. ४.२९, 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघ:'।

योगाङ्ग

योगाङ्ग का अर्थ है योगकारण। अङ्ग शब्द कारण अर्थ में आठवीं, नवमीं शताब्दी में भी प्रचलित था इसीलिए वामनाचार्य ने 'काव्यकारण' शब्द के लिए 'काव्याङ्ग' शब्द का प्रयोग किया है। योग के कारण तीन हैं–

१. अभ्यास + वैराग्य–अर्थात् इन दोनों का युग्म,
२. ईश्वरप्रणिधान तथा
३. अभिमतध्यान।

ये तीनों स्वतन्त्र रूप से अन्योन्यनिरपेक्ष रहते हुए सिद्ध करते हैं योग को। किन्तु इन सबमें अभ्यासवैराग्ययुग्म[1] अपरिहार्य हैं। चाहे ईश्वरप्रणिधान हो चाहे अभिमतध्यान। इन दोनों में भी अभ्यास और वैराग्य सहायक बनते हैं। इनमें अभ्यास है चित्त में वृत्तियाँ न जागें और वह शान्ति की ओर अग्रसर रहा आए। इस स्थिति को ही यम और नियम द्वारा परिभाषित किया गया है[2]।

वैराग्य है किसी भी विषय की इच्छा न होना, चाहे वह लौकिक हो चाहे अलौकिक[3]। यह है कारण अभ्यास में, क्योंकि यह संभव होगा विवेक होने पर। जब विषय की इच्छा नहीं तो कैसा यत्न? यह हुई शास्त्र की बात।

अब इसे देखा जाए कालिदाससाहित्य में। –

१. योगी जन अपने ही हृदय में अवस्थित विष्णुरूपी ज्योति को अभ्यास द्वारा निगृहीत मन के द्वारा खोजते रहते हैं (रघु० १०.२३)।
२. भगवान् शिव (ईश्वर) हैं आत्मेश्वर (कुमार० १.५९)।
३. उन्हें न लौकिक विषय चाहिए और न अलौकिक (कुमार० ६.२६) वे अर्धनारीश्वर हैं किन्तु सभी यतियों में प्रथम हैं (माल० १.१)।

---

१. पा.यो.सू. १.३९ 'यथाभिमतध्यानाद्वा'।

२. पा.यो.सू. १.१२–१३ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

३. पा.यो.सू. १.१५–१६ दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।
तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

व्यासभाष्यम् – 'दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात् तच्छुद्धिप्रविवेका–प्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताऽव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्द्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। तस्योदये सति योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते–'प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्या क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसङ्क्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते, मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव परा काष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।

४. जो हैं राजर्षि वे भी विनीत पुत्रों को उत्तराधिकार दे पत्नीसहित वन में रहते और नियम का पालन करते हैं (रघु० ३.७०; ७.७१; ८.११, ९४; १८.७, ९, १२, २६, २८, ३१, ३३; १९.१, २; विक्र० ५.१७; शाकु० ७.३५)।
५. वसिष्ठ और अरुन्धती, अत्रि और अनसूया तथा काश्यप और दाक्षायणी परम वशी और महान् योगी हैं कालिदाससाहित्य में (रघु० १.५६, २.७, १२.२७, १३.५१, कुमार० ६.११, १३, ९१ शाकु० ७ अन्त)
६. दण्डकारण्यवासी मुनिजन अपना शरीर भी यज्ञाग्नि में होमकर देते हैं, इतने विरक्त हैं वे (रघु १३.४५ आदि)।

यह है कालिदाससाहित्य में उपलब्ध गाथा अभ्यास और वैराग्य की। इनमें से अभ्यास के अंग दो प्रकार के हैं १. बहिरङ्ग ओर २. अन्तरङ्ग। बहिरङ्ग अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार। अन्तरङ्ग—अङ्ग हैं धारणा, ध्यान और समाधि। महर्षि पतञ्जलि ने इन सबका विस्तृत प्रतिपादन किया है, जो प्रस्तुत किया जा चुका है।

ईश्वर

योग के विषय में अन्य विषय भी कालिदाससाहित्य में मिलते हैं। पहले जो आठ अंग प्रस्तुत किए उनमें से अन्तिम धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीन के समुदाय को 'संयम' भी कहा जाता है **'त्रयमेकत्र संयमः'** (पा.यो.सू. ३.४)। कालिदास शिव के मन को 'संयम' से स्तिमित अचञ्चल बतलाते हैं (कुमार० ६.५९)। कण्व स्वयं को 'संयमधन' कहते हैं (शाकु० ४.१९)। मारीच आश्रम में अप्सराओं के बीच साधा जाता है संयम (शाकु० ७.१२)। शिव के तपोवन के सभी तपस्वी संयमधन हैं (कुमार० ३.२४)। काम जिन शिव को देखता है वे संयम किए हुए हैं (कुमार० ३.४४)। शिव सर्वोत्कृष्ट संयमी हैं (कुमार० ६.३४)। दिलीप के गुरु वसिष्ठ संयमी हैं (रघु० १.४८)। संयमी तत्त्वज्ञान के द्वारा इन्द्रियों को जीत लिया करते हैं (रघु० ४.६०)। दिलीपवंशीय लोग अन्तिम अवस्था में संयम का जीवन व्यतीत करते हैं (रघु० ८.११)। संयम प्राणियों को आश्रय भी देता है और सुख भी (शाकु० ७.१८)। इन स्थलों में से कुछ में संयम को तितिक्षार्थक भी माना जा सकता है।

ईश्वरप्रणिधान से चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग भी सध जाता है (पा.यो.सू. १.२३) प्रणिधान का एक अर्थ उपस्थान या स्तवन भी होता है। कालिदाससाहित्य में भगवान् शिव, विष्णु और ब्रह्मदेव की स्तुतियाँ मिलती हैं। तारकासुर के वध के लिए इन्द्रादि

देवजन पितामह ब्रह्मदेव की (कुमार० २.२–१५) तथा रावण से संत्रस्त देवगण भगवान् विष्णु की (रघु० १०.१५–३२) स्तुति करते हैं। औषधिप्रस्थ पहुँचकर वे पुनः भगवान् शिव की स्तुति करते हैं (कुमार० ६.७५–८३)। इस बीच स्वयं कवि कालिदास अपनी ओर से भी भगवान् की स्तुति करने में चूकते नहीं (कुमार० ६.८८, ८९, ९५)। बरात में भगवान् शिव की स्तुति ब्रह्मा भी करते हैं और भगवान् विष्णु भी। वे 'जय जय' बोलते हैं। इस वाणी से भगवान् शिव की महिमा में अभिवृद्धि होती है। कैसे? वैसे ही जैसे हविष्य से वह्नि में **'जयेति वाचा महिमानमस्य संवर्धयन्त्या हविषेव वह्निम्'** (कुमार० ७.४३)।

उधर कालिदास की श्रद्धा त्रिमूर्त्तिसंप्रदाय में भी है। उनके मत में शिव ही हैं ब्रह्मा और विष्णु, ब्रह्मा ही हैं शिव और विष्णु। उसी प्रकार विष्णु भी हैं शिव और ब्रह्मा। एक ही मूर्त्ति तीन रूपों में प्रकट हो गई, जिनमें कोई किसी से बड़ी नहीं, न कोई किसी से छोटी—

एकैव मूर्त्तिर्बिभिदे त्रिधा सा समान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद् वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ।। कुमार०७.४४।

पुनः कहते हैं *'— आप हैं तो त्रिमूर्त्ति, किन्तु सृष्टि में। उसके पहले आप अकेले ही थे। भेद तो आपने बाद में अपनाया। क्यों? इसलिए कि आपको तीनों (सत्त्व, रजस्, तमस्) गुणों में विभाग करना था अर्थात् उनमें मात्रागत उच्चावचभाव लाना था'*—

नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे।। (कुमार० २.४)

पुनश्च रघुवंश में भगवान् विष्णु से कहा जाता है— *'आपको प्रणाम। आप पहले तो (ब्रह्मा के रूप में) विश्व का निर्माण करते हैं, उसके बाद आप ही करते हैं उसका भरण (विष्णु रूप में) और अन्त में आप ही कर डालते हैं उसका संहार (रुद्र के रूप में)। यह सब तो आपकी महिमा का प्रकाश है'*—

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने।। (रघु० १०.१६)
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः।। (कुमार० २.६)

यह सब आप करते, परन्तु किस साधन से? त्रैगुण्य 'सत्त्व, रजस्, तमस्' से। इसी कारण हैं तो आप अविक्रिय, परन्तु गुणों में अनेक रूपों में प्रकट होते हैं। मूलभूत वर्षाजल का रस (स्वाद) एक ही होता है, परन्तु भिन्न भिन्न स्थानों में वह बदला हुआ मिलता है ऐसी ही है आपके ऐक्य और अनेक की स्थिति —

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः।। (रघु० १०.१७)

दिव्य सप्तर्षि भगवान् शिव की स्तुति में कहते हैं — *'हमें आपका साक्षात्कार हो तो रहा है, परन्तु हम यह नहीं समझ पा रहे हैं कि यह आपका कौन सा रूप है। क्या वह जिससे आप इस व्यक्त विश्व की रचना करते हैं, या वह जिससे इसका पालन करते हैं, या वह जिससे इसको आप बटोर लेते हैं, जिसे संहार कहा जाता है–*

साक्षाद् दृष्टोऽसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा।
प्रसीद कथयात्मानं न धियां पथि वर्त्तसे।। कुमार० ६.२२।।
किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत्।
अथ यस्तस्य संहर्त्ता भागः कतम एष ते।। कुमार० ६.२३।।

मेघदूत का यक्ष है तो प्रमत्त, किन्तु भगवान् महाकालेश्वर और भगवान् विष्णु में उसकी श्रद्धा अगाध है (मेघ० ३४, ३६, ४३, ४४, ५०, ५२, ५५, ५६, ५८, ६०, ७१, विष्णु मेघ० १, १५, ५७, १०८)। शङ्खण के पुत्र हरिदश्व को विश्वसह नामक पुत्र काशीपति बाबा विश्वेश्वर की कृपा से ही प्राप्त हुआ (रघु० १८.२५)। विश्वसह का पुत्र भी भगवान् विष्णु का अंश था (रघु० १८.२५)। जो भक्त अपने समस्त कर्म भगवान् को अर्पित करते जाते और भगवान् में चित्त लगाए रहते हैं उनको सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है और वे आप में ही विलीन हो जाते हैं–

त्वदावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्म्मणाम्।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयःसन्निवृत्तये।। रघु० १०.२७।।

इस ईश्वरप्रणिधान में स्वयं ईश्वर (शिव) ही सबसे आगे हैं। वे स्वयं स्वयं की आत्मा का ज्ञान भी रखते हैं, वे स्वयं स्वयं की सृष्टि करते हैं और स्वयं का स्वयं की आत्मा में कर लिया करते हैं विलय–

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे।। (कुमार० ६.५०)

ईश्वर में जो भक्तियोग स्थिर हो जाता है उससे सभी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं (विक्र० १.१)। इस प्रकार ईश्वर के स्मरण में महाकवि कालिदास की निष्ठा अनन्य है।

'ईश्वर' का वाचक है प्रणव (पा.यो.सू.१.२७)। कालिदास प्रणव को प्रणव ही कहते हैं–

उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्।। कुमार० २.१२।।

कालिदाससाहित्य में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पञ्च क्लेश, उनके कारण पाप और पुण्य के संस्कार, उनके फल जाति, आयु तथा भोगों का भी अनेक स्थलों में स्मरण किया गया है।

१. शरीर भूतों का एकान्तविध्वंसी पिण्ड है, (रघु २.५७),इत्यादि वैराग्य में।
२. मेघदूत में उपनिबद्ध **'मामाकाशप्रणि'** आदि वियोगानुभूतियों में (मेघ० १०४),
३. **'एषा मनो मे'** (विक्र० १.२०) इत्यादि राग–प्रवृत्तियों में,
४. **'कुशं द्विषामङ्कुशवस्तु'** (रघु० १६.८१) इत्यादि द्वेष में
५. दशरथ (रघु० ९), दुष्यन्त (शाकु० १) के मृगयाभिनिवेश में,
६. **'अखण्डं पुण्यानां फलम्'** (शाकु० २.११) इत्यादि पुण्योल्लेख में,
७. **'परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि'**(विक्र०४.३)इत्यादि दुःखप्रसंग में,
८. शाकु०५.२, रघु०८.८७; १४.५७,६२,६६ इत्यादि में जो 'पातक–दुःख–जन्म–आयु' के भोगों का निरूपण है उससे यह तथ्य स्पष्ट है।

ईश्वरप्रणिधान का एक फल विघ्नविनाश भी है (पा०यो०सू० १.२९)। इसमें कारण है ईश्वर की अणिमादि से व्यक्त ऐश्वर्य की पराकाष्ठा (पा०यो०सू० १.२४)। महाकवि कालिदास इस तथ्य से अवगत हैं। कालिदाससाहित्य में इसका भी उल्लेख अनेक बार हुआ है। यथा–

१. **अणिमादिगुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम् ।**
शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्धचन्द्रं बिभर्त्ति यः।। कुमार० ६.७५।।
२. **एकैश्वर्य–स्थितोऽपि प्रणतबहुफलो यः।।** माल० १.१
३. **यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।।** विक्र० १.१
४. **प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।।** रघु० १०.२८।।
५. **अष्टमूर्त्तित्व** कुमार० १.५७, ६.२६, ७.८७; रघु० २.३५; शाकु० १.१; माल० १.१; विक्र० १.१.

ईश्वर को योगशास्त्र में सर्वज्ञ कहा गया है, उसे आदि गुरु कहते हुए काल से अनवच्छिन्न बतलाया गया है–

१. **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः** (पा.यो.सू. १.२४)
२. **तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्** (पा.यो.सू. १.२५)।
३. **स पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनाऽनवच्छेदात्** (पा.यो.सू. १.२६)

४. **तस्य वाचकः प्रणवः** (पा.यो.सू. १.२७)

५. **तज्जपस्तदर्थभावनम्** (पा.यो.सू. १.२८)

६. **ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽन्तरायापायश्च** (पा.यो.सू. १.२९)

महाकवि कालिदास भी ईश्वर की इन विशेषताओं का उल्लेख करते हुए अघाते नहीं।

सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक्।। रघु० १०.२०।।

त्वं पितॄणामपि पिता देवानामपि देवता।
परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि।। कुमार० २.१४।।

यावदेतानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
मातरं कल्पयन्त्वेतामीशो हि जगतः पिता।। कुमार० ६.८०।

जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः।। कुमार० २.९।।

चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्था चतुर्युगा।
चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात्।। रघु० १०.२२।।

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते।। रघु० १३.६।।

'आप सर्वज्ञ हैं, परन्तु स्वयं अविज्ञात हैं, सबके उत्पादक आप, किन्तु आप स्वयं स्वयंभू। सबके प्रभु आप, आपका प्रभु कोई नहीं। आप स्वयं एक, परन्तु सर्वरूप धारण करने वाले।

आप पितरों के भी पिता हैं, देवों के भी देव हैं, पर से भी पर यानी परात्पर हैं, विधाता के विधानकर्त्ता हैं आप।

तुम्हारी पुत्री को स्थावर और जङ्गम सभी प्रकार के भूत माता मानें, क्योंकि शिव जगत्पिता हैं।

जगत् की योनि होते हुए भी स्वयं आपकी कोई योनि नहीं, आप जगत् का अन्त हैं, परन्तु आपका अन्त नहीं। जगत् के आदि उत्पत्ति केन्द्र आप ही हैं, किन्तु आपका आदि नहीं। आप जगत् के स्वामी, किन्तु आप पर स्वामी कोई नहीं।

ज्ञान जिसका फल है चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, आप से ही होता है, काल की चतुर्युगात्मक अवस्था भी आपसे ही उत्पन्न होती है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों से युक्त लोक आप से बनते हैं

आपके मुख भी चार हैं।

नाभिकमल पर बैठे प्रथम ब्रह्मा जिसकी स्तुति करते रहते हैं, ऐसे भगवान् विष्णु सारे लोकों को बटोर कर इसी (समुद्र) के भीतर योगनिद्रा में निलीन होते रहते हैं जब युगान्तवेला आती है।

ये सब ऐसे ही उद्गार हैं महाकवि के।

ईश्वर शरीरधारण क्यों करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर है 'लोकानुग्रह'। (पा.यो.सू.भाष्य १.२५)। कालिदास भी इस अभिप्राय को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं–

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः।। रघु०१०.३१।।

'भगवन् ! आपको कुछ अप्राप्त नहीं है जिसे प्राप्त करने हेतु आप जन्म लें और लीलाएँ रचें। इनका एक ही है हेतु–लोकानुग्रह'।

सप्तर्षियों से भगवान् शिव कहते हैं– *'आप यह भलीभाँति जानते हैं कि मेरी कोई भी प्रवृत्ति स्वार्थमूलक नहीं हैं'–*

विदितं वो यथा स्वार्था न मे काश्चित् प्रवृत्तयः।
ननु मूर्त्तिभिरष्टाभिरित्थम्भूतोऽस्मि सूचितः।। कुमार०६.१६।।

ये भगवान् शिव जिस चित्तवृत्ति से गृहीत होते हैं उसकी संज्ञा है प्रमाण (पा.यो.सू. १.६)। प्रमाण तीन हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (पा.यो.सू. १.७)। महाकवि कालिदास प्रमाणों के विषय में भी जागरूक हैं। न्यायशास्त्र ईश्वर को अनुमानसाध्य मानता, सांख्य और मीमांसा ईश्वर मानते ही नहीं। वेदान्त ईश्वर को मान लेता है, किन्तु कर्मपराधीन। योगशास्त्र ऐसा शास्त्र है जो ईश्वर को मानता और उसकी व्यावहारिक व्याख्या करता है। कहा जा चुका है 'पुरुषविशेष है ईश्वर'। पुरुष है ईश्वर तो उसे प्रत्यक्ष भी होना चाहिए। कालिदास ईश्वर को प्रत्यक्ष भी मानते हैं। वे ईश्वर को, जैसा कि बतलाया जा चुका है, आठ आठ रूपों में प्रत्यक्ष मानते हैं। ये आठ रूप हैं पाँच महाभूत, सूर्य, चन्द्र तथा यजमान की चेतना। किन्तु ये आठ ईश की महिमा हैं और उनका भी समग्र आकलन संभव नहीं हो पाता। पृथिवी के ही कितने हैं रजःकण यह कौन कह सकता है, कितने हैं पुष्प, कितने हैं उनमें परागकण, कितनी हैं सूर्यरश्मियाँ, और कितने हैं आकाश में तारे यह कौन गिन सकता है? समुद्र में जल के कण कितने हैं यह कौन कह सकता है? इस प्रकार मनुष्य की शक्ति से पृथिवी आदि का परिच्छेद भी संभव नहीं, तब इन सबकी समष्टि और उसके भीतर अविभक्त, नित्य, शाश्वत रूप से विराजमान शिव को परिच्छिन्न रूप में समझ लेना कैसे संभव है, अतः शिव को एक ही मानना पर्याप्त है। उन शिव का भी आठ–आठ रूपों में

प्रत्यक्ष हो ही रहा है। किन्तु इनमें से सात, (पृथिवी से सूर्य तक) परिवर्त्तमान हैं और अन्तिम एक चित्तत्त्व अपरिवर्त्तित। वह ज्ञान रूप भी है, क्योंकि चित् शब्द ज्ञान का वाचक है। सर्वोपरि बात है उसकी आनन्दरूपता। शिव आनन्दघन हैं। सत्+चित्+आनन्द= सच्चिदानन्द हैं। उनमें विलीन होना ही है स्वतन्त्रता या मुक्ति।

जो अष्टमूर्त्ति के ईश्वरत्व में संदिग्ध है उनके लिए ईश्वर के साधक प्रमाण हैं **१. आप्तवाक् और २. अनुमान**। आप्तत्व है सत्यत्व। ईशोपनिषद् आप्त है। उसमें न किसी को ठगने की बात सोची जा सकती (विप्रलिप्सा), न भ्रम की और न प्रमाद की, क्योंकि वह पुरुषरचित नहीं है, अपौरुषेय है और यदि पौरुषेय भी है तो वह पुरुष जिसने इसे बनाया 'ईश्वर' है। ईश्वर की वाणी है वेद। ईश्वर स्वयं वेद में कहता है 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' = यह जो दिखाई दे रहा है इसके कण कण में वास है ईश्वर का अर्थात् मेरा'। इसी प्रकार के अनेक वचन हैं जो ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं।

अनुमान है कार्य से कारण का अनुमान। मकान देख मकान बनाने वाले चेतन पुरुष का अनुमान सही अनुमान है। पृथिवी जल आदि के पिण्डों का निर्माण भी अपने आप न होकर, किसी चेतन कर्त्ता का किया निर्माण है। वही है ईश्वर। अनुमान का स्वरूप यह है–

'विश्वपिण्डं सकर्तृकं पिण्डत्वाद्, घटपिण्डवत्, यत् सकर्तृकं न भवति तत् पिण्डतामेव नैति, किं पुनर्देशकालनियन्त्रितपिण्डताम्। यश्चास्य कर्त्ता स एवेश्वरः' महिम्नःस्तोत्र में इसका प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया गया है, और स्तुतिकुसुमाञ्जलि आदि ग्रन्थों में भी। ईश्वरसिद्धि पर प्राचीन आचार्यों के स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं, विशेषतः कश्मीरी शैवदर्शन में। शिवदृष्टि इस दर्शन का प्रथम ग्रन्थ है और ईश्वरप्रत्यभिज्ञा आदि परवर्त्ती अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें ईश्वर की सिद्धि भी है और उसकी पँहचान का भावनापूर्ण विचार भी। उदयनाचार्य की न्यायकुसुमाञ्जलि भी ईश्वरसिद्धि का ग्रन्थ है।

यह अनुमान आप्तवाक्य का समर्थन करता है। इस कारण अन्त में अनुमान ईश्वरसिद्धि में लड़खड़ाता है, तब भी आदरणीय है। बिजली तार में दिखाई नहीं देती, किन्तु उससे उसका अभाव नहीं माना जाता, क्योंकि स्पर्श करने पर तार में बिजली का अनुभवात्मक प्रत्यक्ष होता है।

ईश्वर को योगभाष्य में बुद्धि का प्रतिसंवेदी कहा गया है (पा०यो०सू० भाष्य १.७) कालिदास भी इसी स्वर में स्वर मिलाते और ईश्वर को बुद्धि के कारण का भी कारण बतलाते हैं–**'अव्यक्तो व्यक्तकारणम्'** (रघु० १०.१८)। पुराणों में ईश्वर के अन्य गुण भी मिलते हैं। कालिदास उन्हें भगवत्स्तुति में उपस्थित करते जाते हैं (कुमार० सर्ग २,६ रघु० सर्ग १०) नान्दीपद्य तथा भरतवाक्यों में।

योग की सिद्धि यथाभिमत ध्यान से भी संभव है (पा.यो.सू. १.३९)। कालिदास इस तथ्य को भी प्रस्तुति देते हैं। पार्वती ध्यान करती हैं अपने अभिमत शिव

का। जब रात का तृतीय अर्थात् अन्तिम भाग शेष रहता तब करतीं पार्वती अपने नेत्र निमीलित। उस समय दिखाई देते शिव (कुमार० ५.५७) ही। रात्रि में तीन ही होते हैं याम। अन्तिमं भाग होता है ब्राह्ममुहूर्त्त। यही है वह समय जब प्रतिभा भी जागती है (रघु० १७.१)।

अभी तक पातञ्जलयोगदर्शन के समाधिपाद और साधनपाद नामक प्रथम दो पादों की सामग्री कालिदाससाहित्य में देखी गई, यद्यपि विभूतिपाद और कैवल्यपाद की सामग्री भी अंशत: आ गई हैं। अधिक स्पष्टता के लिए–

कैवल्यपाद : की सामग्री भी कालिदास साहित्य के निम्नलिखित सन्दर्भों में सुलभ है–

नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टे: केवलात्मने (कुमार० २.४)।

त्वमेव हव्यं होता च भोग्यं भोक्ता च शाश्वत:।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत् परम्।। (कुमार० २.१५)

एकस्त्वं सर्वरूपभाक् (रघु० १०.२०)

विभूतिपाद : की सामग्री भी कालिदास ने पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत की है।

द्रव: संघातकठिन:, स्थूल: सूक्ष्म:, गुरुर्लघु:।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चापि प्राकाम्यं ते विभूतिषु।। कुमार० २.११।।

भगवन्! विभूतियाँ आप में अनगिनत हैं। 'आप द्रवरूप भी हैं और घन (कठिन) भी, स्थूल भी हैं और सूक्ष्म भी, गुरु भी हैं और लघु भी, इसी प्रकार आप व्यक्त भी हैं और अव्यक्त भी।'

साक्षाद् दृष्टोऽसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा।
प्रसीद कथयात्मानं न धियां पथि तर्त्तसे।। कुमार० ६.२२।।

भगवन्! आप दिखाई तो दे रहे हैं, परन्तु हम यह नहीं समझ पा रहे हैं कि यह आपका कौन सा स्वरूप है।'

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विष:।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्य वेद कस्तव।। रघु० १०.२४।।

'भगवन् ! आप अजन्मा हैं, किन्तु जन्म ग्रहण भी करते हैं, आपके भीतर कोई इच्छा नहीं, इतने पर शत्रुओं का संहार भी आप करते रहते हैं। जब (प्रलयकाल में) आप सोए रहते हैं तब भी रहते हैं जागरूक ही। आपकी वास्तविक स्थिति, भला कौन जान सका है।'

भगवान् शिव की वास्तविकता को जानता ही कौन है **'न सन्ति याथार्थ्यविद: पिनाकिन:'** (कुमार० ५.७७)। सभी विभूतियाँ शिव के कौतुकागार में केवल ध्यान

करते ही उपस्थित हो गई = **'ध्यानसंभृत –विभूतिमी०'** (कुमार०८.८१),

महामुनि वसिष्ठ में तप की सिद्धि थी तब भी दिलीप के लिए उन्होंने वन में सुलभ सामग्री की व्यवस्था की, इसलिए कि उनकी अपेक्षा थी कि दिलीप 'नियमों (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय ओर ईश्वरप्रणिधान) का पालन करें (रघु० १.९४)। इसी प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने शत्रुघ्न के लिए खास इन्तजाम किया, क्योंकि उनमें तप का प्रभाव था –

सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया गुरुः।
कल्पवित् कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम्॥ रघु० १.९४॥

तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम्।
तपःप्रभावसिद्धाभिर्विशेष–प्रतिपत्तिभिः ॥ रघु० १५.१२॥

सिद्धि के लिए प्रसिद्ध देवयोनियाँ भी कालिदाससाहित्य में विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं। यक्ष, किन्नर, राक्षस, देव, पितर, सिद्ध और महर्षि कालिदाससाहित्य में सर्वत्र सुलभ हैं। इन सबसे योगदर्शन की जो विभूतियाँ हैं वे भी भलीभाँति प्रतिपादित हैं कालिदाससाहित्य में।

योगदर्शन लगभग सांख्यदर्शन जैसा ही है। कतिपय विद्वान् तो सेश्वर सांख्य और योगदर्शन को एक ही मानते हैं। इन दोनों दर्शनों की जो परिभाषाएँ हैं वे लगभग मिलती जुलती हैं। कालिदास इन दोनों दर्शनों की परिभाषाओं का भी जहाँ तहाँ प्रयोग करते हैं। 'प्रसंख्यान, प्रणिधान, धारणा, ध्यान' आदि परिभाषाओं के ही समान अव्यक्त, त्रैगुण्य आदि ऐसी ही परिभाषाएँ हैं–

'त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्त्तिनीम्।
तद्ददर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥ कुमार० २.१३॥

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति॥ रघु० १३.६०॥

किं येन सृजसि व्यक्तम्' (कुमार० ६.२३ पूर्वोद्धृत) तथा

'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान'–(सांख्यकारिका?) मिलती जुलती पदावली के ही उद्गार हैं।

श्रीगीता में प्रसिद्ध कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग भी कालिदाससाहित्य में प्राप्त हैं । सुदर्शन (रघु०१९.२) तप तो करते हैं, परन्तु फल की इच्छा से रहित रहते हुए। यही है कर्मयोग। 'भक्तियोग' के लिए कालिदास विक्रमोर्वशीय की नान्दी में 'भक्तियोग' शब्द का ही प्रयोग करते देखे जाते हैं–**'स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभः'**। जहाँ तक ज्ञानयोग का सम्बन्ध है उसका मुख्य लक्षण है 'समत्व'। रघु को कालिदास **'समलोष्टकाञ्चन'** बतलाते हैं (रघु० ८.२१)।

इस प्रकार कालिदाससाहित्य में योगदर्शन की योगविद्या तो सुलभ है ही, सांख्य और पुराणों में प्रतिपादित योगविद्या भी सुलभ है। ऐसा इसलिए कि कालिदास भारतीय जीवन के कवि हैं और उसमें योगसाधना बड़ी ही गम्भीरता के साथ प्रविष्ट है [१]।

योगविद्या : भारतीय अस्मिता की विद्या

यदि पश्चिमी विश्व से पूछा जाए कि उसकी असाधारण उपलब्धि क्या है तो वह उत्तर देगा 'विज्ञान' जो सही उत्तर होगा। किन्तु ऐसा ही प्रश्न यदि भारत से पूछ दिया जाय तो उसका एकमात्र उत्तर होगा 'योगविद्या' । यह भी सत्य होगा। ऊपर दिए विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवि को यह तथ्य विदित था।



१. इस पूरे विवेचन के लिए द्रष्टव्य हमारा लेख 'कालिदाससाहित्ये योगविद्या' १९७७ के अखिल भारतीय कालिदास समारोह, उज्जैन में पठित तथा सागरिका–१५.३ में प्रकाशित।

कालिदाससाहित्य में देववृक्ष

कालिदाससाहित्य दिव्यविभूतियों और आधिदैविक तत्त्वों से ओतप्रोत है। देववृक्ष भी ऐसे ही वृक्ष हैं।

अमरकोष के अनुसार निम्नलिखित पाँच वृक्षों को देववृक्ष माना जाता है—
१. हरिचन्दन २. सन्तानक ३. मन्दार ४. पारिजात तथा ५. कल्पवृक्ष ।

(१) हरिचन्दन

हरिचन्दन देववृक्ष भी है और पृथिवीलोक का वृक्ष भी। महाकविकालिदास ने इसका प्रयोग देववृक्ष के रूप में तीन बार किया है और पार्थिववृक्ष के रूप में एक बार। इसका उपयोग लेप में किया जाता है। लोग रक्तचन्दन को भी हरिचन्दन मानते हैं।

i. पार्वती अपने स्तनों पर लगाती हैं हरिचन्दन। शिव से विवाह होते ही उन पर लगने लगेगा चिताभस्म। कितना अशोभन होगा यह—

अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिनेत्रवक्षः सुलभं तवापि यत्।
स्तनद्वयेऽस्मिन् हरिचन्दनाङ्किते पदं चिताभस्मरजः करिष्यति।। कुमार०५.६९।।

ii. महेन्द्र की कलाई में भी हरिचन्दन लगा रहता है। वहीं गड़गड़ा रही प्रत्यञ्चा को रघु ने अर्धचन्द्र बाण से काट डाला—

ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम्।
रघुः शशाङ्कार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद् बिडौजसः।। रघु०३.५९।।

iii. असुरवध के बाद दुष्यन्त को इन्द्र ने अपने सिंहासन के आधे भाग में बिठाया और उसे हरिचन्दनाङ्कित वह माला पहना दी जो उन्होंने स्वयं पहन रखी थी, अतः जिसमें उनके वक्षःस्थल पर लगा हरिचन्दन लग गया था—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा।। (शाकु०७.२)

iv. पाण्ड्यदेश का राजा स्वयं तो था श्यामवर्ण का, किन्तु उसने विलेपन कर रखा था हरिचन्दन का। इसलिए वह उस पर्वत सा लग रहा था जिसपर सूर्य की प्रथम किरणें (लालपीले रंग की) छाई हों।

ये हुए 'हरिचन्दन के चार प्रयोग। इनमें हरिचन्दन, चन्दन जैसा ही वृक्ष है जिसे घिस कर लगाया जाता है। पाण्ड्यदेश के राजा के पक्ष में यह पार्थिव वृक्ष है। देवताओं

के पक्ष में यही है देववृक्ष।

(२) सन्तानक

सन्तानक यानी सन्तान। 'क' प्रत्यय यहाँ स्वार्थ में है अर्थात् सन्तान ही कहलाएगा सन्तानक। इसके केवल तीन प्रयोग मिलते हैं कालिदास साहित्य में।

i. भगवान् राम जब अवतार ग्रहण करते है तब महाराज दशरथ के भवन में सन्तानकपुष्पों की वृष्टि होती है –

सन्तानकमयी वृष्टिर्भवने तस्य पेतुषी।
सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाऽभवत्।। रघु० १०.७७।।

ii. भगवती पार्वती के विवाह के अवसर पर पिता हिमाचल के नगर ओषधिप्रस्थ के महापथों पर सन्तानकपुष्पों की वर्षा होती है–

सन्तानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे।। कुमार० ७.३।।

iii. ओषधिप्रस्थ का उद्यान सन्तानकों की घनी छाया में विद्याधरयात्रियों को सोने का अवसर देता है–

सन्तानक–तरु–च्छायासुप्तविद्याधराध्वगम्।
यस्य चोपवनं बाह्यं सुगन्धिर्गन्धमादनः।। कुमार० ६.४६।।

इस प्रकार 'सन्तानक' नामक देववृक्ष सुगन्धित पुष्प और छाया के लिए स्पृहणीय है।

(३) मन्दार

'मन्दार' का प्रयोग कालिदास साहित्य में १० बार हुआ है। इनमें से केवल एक बार इसका प्रयोग सामान्य रूप से हुआ है। शेष ९ प्रयोगों में इसको पुष्प और छाया के लिए स्मरण किया गया है।

i. शाकुन्तल के मारीच आश्रम में जो 'मन्दार' वृक्ष हैं उन्हें स्वयं माता अदिति ने सींच कर बड़ा किया है। मातलि कहता है –

हम दोनों महर्षि मारीच के आश्रम में आ पहुँचे हैं। यहाँ के मन्दारवृक्षों को स्वयं माता अदिति ने पाला पोषा है। अदिति यानी महेन्द्र की जननी–

अदितिपरिवर्द्धित–मन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः (शाकु.७.१२.२,पृ.६४३)

ii. अलका की कन्याएँ मन्दाकिनी के तट पर ऊगे और जमे मन्दारवृक्षों की छाया में धूप से बचती हैं–

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः॥ मेघ० ६६ प्रक्षेप॥

iii. आकाशगङ्गा के तटों पर भी मन्दार लगे हैं जिनके पुष्पों की वर्षा से उसका जल सुगन्धित है –

आप्लुतास्तीरमन्दारकुसुमोत्करवीचिषु।
व्योमगङ्गाप्रवाहेषु दिङ्नागमदगन्धिषु॥ कुमार० ६.५॥

iv. अलका में जब रात को अभिसारिकाएँ अभिसार करती हैं तो उनका मार्ग दिन में मन्दारपुष्पों से समझ में आ जाता है, क्योंकि वे जहाँ तहाँ उनके अलकों से गिरे रहते हैं –

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥ मेघ० ७०॥

v. विक्रमोर्वशीय में उर्वशी की शिखा मन्दारपुष्पों से अधिवासित रहती थी–

मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः।
सैव प्रिया संप्रति दुर्लभा मे किमेनमस्रोपहतं करोमि॥ विक्र०४.३५॥

vi. स्वयंवर में आए मगधराज के वर्णन में सुनन्दा कहती है कि इन्द्र सदा इसी राजा के यहाँ बना रहता है, क्योंकि इसके यज्ञ सदा होते ही रहते हैं। फलतः वियुक्त शची के केश 'मन्दार'–शून्य रहे आते हैं–

क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोल–लम्बान् मन्दारशून्यानलकाँश्चकार॥ रघु० ६.२३॥

vii. यक्षी द्वारा वर्धित बालमन्दारवृक्ष फूल के गुच्छों से लद गया है।अब उसके गुच्छे हाथ से ही तोड़े जा सकते हैं –

हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः॥ मेघ० ७३॥

viii. इन्द्र ने चाह रहे पुत्र को नहीं, अपितु शत्रुविजेता दुष्यन्त को पँहनाना उचित समझा 'मन्दारमाला' को– (शाकु० अन्तर्गत० ७.२ पूर्वोद्धृत पृ० १६०)

ix. विक्रमोर्वशीय की नायिका मन्दारमाला ही पँहने हुई थी–

मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदयकम्पः।
मुहुरुच्छ्वसता हृदये परिणाहवतोः पयोधरयोः॥ विक्र० १.७॥

x. भगवान् शंकर की महिमा ऐसी कि भले ही वे स्वयं संपत्तिहीन हों और उनका वाहन हो वृष (बैल और धर्म) तथापि मदमत्त दिग्गज पर चलने वाला इन्द्र प्रणाम के समय उन (शिवजी) के चरणों की अंगुलियों को खिले 'मन्दार'–पुष्पों

की धूलि से अरुण बना देता है—

असंपदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्र—मन्दार—रजोऽरुणाङ्गुली।। कुमार० ५.८०।।

साहित्यअकादमी से छपे कुमारसंभव में एक और श्लोक में मन्दार का प्रयोग मिलता है जो वस्तुतः पाठान्तर या प्रक्षिप्त है—

ततः स्फुरत्केसर—लान—भृङ्गं सौरभ्यसङ्क्रान्तदिगन्तरालम्।
ददौ हरिः सादरमीक्षमाणो मन्दारमालां मकरध्वजाय।।
(कुमार० ३.२१ के बाद)

(४) पारिजात

i. पुरूरवा से वियुक्त उर्वशी को पारिजात—शयनीय पर भी नन्दनवनवात अत्युष्ण लगते हैं—

किं मे लुलिअ—पारिजाअ—सअणिज्जंमि सुहा
णंदणवादा अवि अच्चुण्णहा सरीरए।। विक्र० २.१२।।

ii. नन्दनकानन में शिव पार्वती को पारिजातकुसुमों से प्रसाधित करते हैं—

तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन्।
नन्दने चिरमयुग्मलोचनः सस्पृहं सुरवधूभिरीक्षितः।। कुमार० ८.२७।।

iii. कुमुद्वती शचीसखी के रूप में पारिजातांशभागिनी होती है —

तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक्।
अपरापि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी।। रघु० १७.७।।

iv. इन्दुमतीस्वयंवर में इकट्ठे नृप मञ्च पर आरूढ़ हैं। वे सब कल्पवृक्ष जैसे लग रहे थे, किन्तु उनके बीच अज लग रहा था पारिजात जैसा—

तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः।। रघु० ६.६।।

v. क्षीरसागर में भोगिभोगासनासीन भगवान् विष्णु अपर पारिजात से लग रहे थे—

बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः।
आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवाऽपरम्।। रघु० १०.११।।

vi. 'पारिजात' का प्रयोग न करते हुए भी कालिदास निम्नलिखित पद्य में 'पारिजात' का ही स्मरण करते दिखाई देते हैं—

तस्मात् समुद्रादिव मथ्यमानादुद्वृत्तनक्रात् सहसोन्ममज्ज।
लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः।। रघु० १६.७९।।

भगवान् राम को अगस्त्यमुनि से प्राप्त जो कड़ा कुश को उत्तराधिकार में मिला था वह सरयू में जलविहार करते समय गिर गया। खोजने पर भी वह मिला नहीं तो यह कल्पना की गई कि उसी स्थान पर सरयू जल में रहता है 'कुमुद'—नामक नाग। कड़ा कदाचित् उसी ने ले लिया है। कुश ने सौपर्ण अस्त्र का सन्धान करना चाहा कि सरयूजल से, जैसा कि ऊपर दिए पद्य में बतलाया गया, अपनी बहिन के साथ कुमुद प्रकट हुआ जैसे लक्ष्मी के साथ प्रकट हुआ हो कल्पवृक्ष। यहाँ कल्पवृक्ष नहीं, अपितु सुरराजवृक्ष शब्द का प्रयोग है जिसका एक अर्थ 'सुरों का वृक्षराज' अर्थात् पारिजात।

(५) कल्पवृक्ष

महाकवि कालिदास देववृक्षों में पारिजात को अधिक महत्त्व देते हैं, किन्तु सबसे अधिक बार वर्णन करते दिखाई देते हैं कल्पवृक्ष का ही। वे 'कल्प' को पूर्वपद के रूप में रखकर उत्तर पद के रूप में 'वृक्ष' का प्रयोग करते, या 'तरु' का, या 'द्रुम' का, या 'लता' का। इस प्रकार के प्रयोगों की संख्या कालिदाससाहित्य में बीस है।

कल्पवृक्षों में जिन जिन विशेषताओं का उल्लेख कालिदाससाहित्य में मिलता है वे हैं **(१) पुष्प (२) गन्ध (३) फल (४) भूषा (५) वेदी (६) द्युति (७) प्ररोह और (८) अंशुक।**

पुष्प :

रघुवंश में शापमुक्त प्रियंवद अज पर कल्पद्रुम पुष्पों की वर्षा करता है

अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः।। रघु० ५.५२।।

गन्ध :

कल्पवृक्षों में ऐसा तीव्र गन्ध भी होता है कि भौंरे पगला उठते हैं—

गंधुम्माइअ—महुअर—गीएहिं वज्जंतेहिं परहुअतूरेहिं।
पसरिअ—पवणुव्वेल्लिअ—पल्लव—णिअअरु सुललिअ—
बिबिह—पआरेहिं णच्चई कप्पअरु।। विक्र० ४।।

(गन्धोन्मादितमधुकरगीतैर्वाद्यमानैः परभृततूर्यैः।
प्रसृतपवनोद्वेल्लितपल्लवनिकरः सुललितविविधप्रकारेण नृत्यति कल्पतरुः)।

फल :

सुकृति दशरथ की कामना कल्पवृक्षफल जैसी थी अविलम्ब फल जाने वाली—

अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग् द्विजः।
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम्।। रघु० ११.५०।।

भूषा[1]

इन्दुमती स्वयंवर में उपस्थित राजा उत्तम नेपथ्य धारण किए हुए थे और वे कल्पवृक्ष जैसे लग रहे थे। (रघु० ६.६) इससे स्पष्ट है कि भूषा कल्पवृक्षों में भी होती थी।

वेदिका

उक्त स्वयंवर सभा में भी राजा लोग ऊँचे ऊँचे महार्ह आसन (मंचों) पर बैठे थे। इससे स्पष्ट है कि कल्पवृक्षों के नीचे भी चबूतरे हुआ करते थे (रघु० ६.६)।

द्युति

उपर्युक्त विशेषताओं से कल्पवृक्षों में द्युति की कल्पना भी की जा सकती है।

प्ररोह

कल्पवृक्षों में नीचे आने वाली वरोहें भी होती होंगी, तभी संभव है निम्नलिखित पद्य में नारदजी की कल्पवृक्ष से समता—

गोरोचनानिकषपिङ्गजटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलाऽमलवीतसूत्रः।
मुक्तागुणातिशयसंभृतमण्डनश्रीर्हेमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः।।

(विक्र० ५.१९)

अंशुक

कल्पवृक्ष के वर्णन मे कालिदास अंशुक को भी अनेक बार स्थान देते हैं। ये प्रथमतः दो प्रकार के होते हैं (१) शाखांशुक और (२) ध्वजांशुक। बाद में ये दोनों तीन तीन प्रकार के हो जाते हैं रंग की दृष्टि से (१) धवल (२) सुवर्णवर्ण के और (३) इन दोनों से भिन्न वर्ण के। उदाहरण—

(क) रघुवंश में आभरण पँहना और मालाधारी 'अतिथि' हंसचिह्नवाला दुकूल पहनता और सुवर्णदर्पण में अपनी छाया देखता है तो वह उस समय बहुत अधिक प्रेक्षणीय हो जाता है, वैसे ही जैसे वह राज्यश्रीरूपी वधू का वर हो। सुवर्णदर्पण

---

१. आदिपुराण में जिनसेन ने भी कल्पवृक्षों को छाया, फल, नानावस्त्र, माला, वस्त्र और भूषा से मण्डित बतलाया है—

कल्पद्रुमाः समुत्तुङ्गाः सच्छायाः फलशालिनः।
नाना—स्रग्वस्त्रभूषाढ्या राजायन्ते स्म संपदा।। पर्व २२.२४५

बाणभट्ट तारापीड को कल्पतरुतुल्य बतलाते हैं—'येन चानेक—रत्नांशुक—पल्लविते व्यालम्बिमुक्ताफलजालके दिग्गजेनेव कल्पतरावाक्रान्ते सिंहासने नेमुः सर्वदिशः।' (पृष्ठ ९४, कादम्बरी, काले संस्करण)

में उसकी कान्ति वैसी ही थी जैसी सूर्योदय के समय सुवर्णगिरि पर कल्पवृक्ष की होती है —

आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान्।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः।।
नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव।। रघु० १७.२५,२६।।

(ख) शाकुन्तल में दानवविजयी दुष्यन्त का अवदान सुरसुन्दरियों की विच्छित्तियों से बचे रंगों द्वारा देवजन पद्य बना बना कर लिख रहे हैं। कहाँ ? कल्पलताओं के अंशुकों पर—

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु।
विचिन्त्य गीतिक्षममर्थबन्धं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति।। शाकु० ७.५।।

इन दोनों स्थलों में ध्वजपट शाखांशुक ही हैं, क्योंकि देवजन उसे धारण करेंगे कन्धों पर और कल्पवृक्ष अपनी शाखाओं पर। रंग दोनों ही स्थलों में धवल ही होगा। यह भी सोचा जा सकता है कि कालिदास के समय कल्पवृक्षों पर जो अंशुक टाँगे जाते थे उनमें भी हंस आदि के चिह्न बने रहते होंगे।

(ग) कुमारसंभव में सप्तर्षिमण्डल सुवर्ण वर्ण का वल्कल पहने हुए हैं, अतः ऐसा लग रहा है कि कल्पवृक्षों ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली है —

मुक्तायज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हेमवल्कलाः।
रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इव श्रिताः।। कुमार० ६.६।।

सप्तर्षियों के यज्ञोपवीत मोती की माला के हैं, पहने हुए वल्कल सुवर्ण के/से हैं और जपमाला रत्नों की।

यहाँ ऋषियों के वल्कल पीले हैं, अतः कदाचित् कल्पवृक्षों के अंशुकों को पीले रंग का भी माना जा सकता है।

(घ) 'ओषधिप्रस्थ' नगर में गृहयन्त्रपताका का कार्य कल्पवृक्षों से ही संपन्न हो जाता है, उनके लिए नगरवासियों की अपेक्षा नहीं रहती—

यत्र कल्पद्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः।
गृहयन्त्रपताकाश्रीरपौरादरनिर्मिता।। कुमार० ६.४१।।

पताकाएँ अनेक वर्ण की होती हैं, अतः कल्पवृक्ष के अंशुकों को भी अनेक वर्ण का माना जाना संभव है।

(ङ) अतिथि नगर में भ्रमण करता है तो वहाँ झण्डियाँ लगा दी जाती थीं जो कल्पद्रुम पर लगी झण्डियों जैसी होती थीं–

स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम्।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा।। रघु० १७.३२।।

(च) ध्वजांशुक यहाँ श्वेत, पीत और अरुण वर्ण के हो सकते हैं, किन्तु–

पश्य कल्पतरुलम्बि शुद्धया ज्योत्स्नया जनितरूपसंशयम्।
मारुते चलति चण्डिके! बलाद् व्यज्यते विपरिवृत्तमंशुकम्।। कुमार० ८.७१।।

पार्वति! देखो, कल्पतरु पर लटका यह अंशुक चाँदनी की सफेदी में छिप गया है, किन्तु हवा चलने पर फड़फड़ाने से समझ में आ जाया करता है।

इस स्थल में कल्पवृक्ष पर लगा ध्वजांशुक केवल सफेद रंग का है।

(छ) मेघदूत के निम्नलिखित पद्य में अंशुक दोनों ही प्रकार का संभव है ध्वजांशुक भी और शाखांशुक भी–

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन् कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य।
धुन्वन् कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै–
र्नानाचेष्टैर्जलद ! ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम्।। मेघ ६२।।

हे जलद ! तुम हिमालय पर अनेक प्रकार की ललित क्रीडाएँ कर सकोगे। चाहो तो उसके 'मानस'–सर का जल ले लेना, जिसमें सुवर्ण वर्ण के पीले पीले कमल उत्पन्न हो चुके होंगे, चाहो तो वहीं उपस्थित ऐरावत के मस्तक पर छा जाना और कर देना पूर्ण उसकी मुखपट की प्रीति, और चाहो तो अपनी हवा के झोंकों से कँपा देना कल्पद्रुम के किसलयों को (उसी के) अंशुकों की नाईं।।

आभरण

हार :

कालिदास के कल्पवृक्षों पर आभरण भी देखे जाते हैं–जो मुख्यतः हार हुआ करते हैं, किन्तु और कुछ भी। हार भी रत्न के भी हो सकते हैं और मोती के भी। उपर्युद्धत कुमारसंभव के ६.६ (मुक्तायज्ञो०) पद्य में सप्तर्षि उपमेय हैं। वे रत्नों की सुमरनी लिए हैं। अतः उपमान जो कल्पवृक्ष हैं उनमें भी रत्न के हारों की कल्पना की जा सकती है। मोती के हार का उल्लेख भी इसी स्थल पर प्राप्त है। अन्यत्र भी मोती के हारों का उल्लेख कल्पवृक्षों के ही सन्दर्भ में कवि ने किया है।

रघुवंश के १७.२५—२६ पद्य ऊपर उद्धृत हैं । इनमें भी अतिथि को 'स्रग्वी' कहा गया है। संस्कृतकवि जहाँ कहीं केवल 'हार'—शब्द का उपयोग करते हैं वहाँ वे उससे मौक्तिकहार ही लक्षित करते हैं। फलतः उपमानभूत कल्पवृक्षों पर भी मुक्ताहार की ही उद्भावना स्वाभाविक है। विक्रमोर्वशीय में उद्धृत ५.१९ पद्य में नारदजी के शशिकला से अमल यज्ञोपवीत के लिए कल्पवृक्ष में मुक्ताहार का उल्लेख किया ही जा चुका है।

कुमारसंभव में भगवान् शिव कह रहे हैं—'देखो सुन्दरि! चन्द्र की किरणें कल्पवृक्षों की शिखाओं पर चमचमा रही हैं। लगता है चन्द्र इन पर हारों की [1]लड़ें लगाना चाह रहा है'—

कल्पवृक्षशिखरेषु संप्रति प्रस्फुरद्भिरिव पश्य सुन्दरि!
हारयष्टिरचनामिवांशुभिः कर्तुमागतकुतूहलः शशी ।। कुमार० ८.६८।।

हारेतर आभरण :

हार से भिन्न आभूषण भी कल्पवृक्षों पर होते थे। कुमारसंभव में इन्द्र कल्पद्रुमविभूषणों से तारकासुर की अनुकूलता अर्जित किया करता था। वह दूतों के द्वारा उन्हें बार बार भिजवाता रहता था—

तत्कृतानुग्रहापेक्षी तं मुहुर्दूतहारितैः।
अनुकूलयतीन्द्रोऽपि कल्पद्रुमविभूषणैः।। कुमार० २.३९।।

मौक्तिकहारधारी अतिथि ने (१७.२५ रघु०) आभरण भी पहने थे और वह कल्पवृक्ष सा (१७.२६ रघु०) लग रहा था। इससे भी स्पष्ट है कि कल्पवृक्षों पर हार के साथ हारेतर आभरण भी होते थे।

आभरणों के ही साथ कल्पवृक्ष पर भौंरे भी चिपके रहते थे। उनसे भी उनकी शोभा बढ़ती थी (विक्र० ४.२)।

---

१. लड़ों के लिए संस्कृत में 'उपहार' शब्द वैदिक और बौद्ध दोनों साहित्यों में प्रसिद्ध है। द्रष्टव्य सागरिका ५.१ में हमारा लेख 'उपहार'—शब्द पर ही।

२. ७०० शाके में हुए जिनसेन ने अपने आदिपुराण में 'कल्प' की ऐसी निरुक्ति दी है (पर्व ३.३८)—

मनोभि(भी)रुचितान् भोगान् यस्मात् पुण्यकृतां सताम्।
कल्पयन्ति ततस्तज्ज्ञैर्निरुक्ताः कल्पपादपाः।।

महिमभट्ट व्यक्तिविवेक में 'क्षुण्णं यदन्तःकरणेन वृक्षाः फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव' इस उक्ति में 'अवाच्यवचन' दोष मानते हैं (हमारा संस्करण पृष्ठ ४४१) परन्तु देवीभागवत में 'कल्पवाटिका'—पद में केवल कल्पशब्द के द्वारा सभी प्रकार के कल्पवृक्षों का अभिधान किया गया मिलता है, अतः व्यक्तिविवेककार की आपत्ति केवल प्रसिद्धि तक सीमित ठहरती है।

'कल्प' निरुक्ति :

कल्पवृक्ष, कल्पलता आदि पदों में जो पहला 'कल्प' पद है उसका अर्थ है 'मनोरथों की पूर्त्ति'—'कल्पयतिं संपादयति मनोरथान्[२]'। महाकवि कालिदास कल्पवृक्ष की इस विशेषता का भी उल्लेख करते हैं —

१. 'अलका'—नगरी में अकेले कल्पवृक्ष से ही सभी प्रकार के मण्डनद्रव्य नारियों को सुलभ हो जाते थे, चाहे वह बहुरंगी साड़ी हो, चाहे आँखों में विभ्रम लाने वाला मधु हो, पुष्प हों, कोंपलें हो, अनेक प्रकार के भूषण हों अथवा चरणकमल में लगाने हेतु लाक्षाराग (अलता) हो।' इस प्रकार कामनापूरण—गुण दिखलाया कल्पवृक्षों में महाकवि ने (मेघ० ७२)।

२. महामुनि मारीच के आश्रम में कल्पवृक्षों का अच्छा खासा वन है जिनसे सब कुछ पाया जा सकता है, किन्तु वहाँ के तपस्वियों को प्राणरक्षा के लिए प्रिय है केवल वायुभक्षण। उन्हें कुछ चाहिए ही नहीं (शाकु० ७.१२, पूर्वोद्धृत), जबकि कल्पवृक्ष दे सकते हैं सब कुछ।

३. भगवान् राम थे तो कल्पद्रुम ही, किन्तु परित्याग के समय सीताजी के लिए वे बन गए थे असिपत्र वृक्ष, जो नरक में पाया जाता है और जिसके पत्तों से पापी जनों को तलवार की नोंक में छिदने का दु:ख मिलता है—

सा नीयमाना रुचिरान् प्रदेशान् प्रियङ्करो मे प्रिय इत्यनन्दत्।
नाऽबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम्।। रघु० १४.४८।।

४. गन्धमादन गिरि पर लाल रंग के मणिपात्र में रखकर लाया गया जो मधु था उसे प्रस्तुत किया था 'कल्प—वृक्ष' ने ही (कुमार० ८.७५)।

५. अलका में चाँदनी पर बैठे यक्ष, जो पानगोष्ठी करते हैं उसमें मधु सुलभ होता है कल्पवृक्षों से (मेघ० ६६)।

६. नारद कल्पवृक्षतुल्य थे। क्यों, इसलिए कि वे पुरूरवा की इच्छापूर्त्ति करने जा रहे हैं (विक्र० ५.१९)।

७. दिलीप स्वर्ग से पृथिवी की ओर आ रहे थे, तब कामधेनु बैठी थी कल्पवृक्ष की छाया में (रघु० १.७५)।

कालिदास ने कल्पवृक्ष के लिए और भी अनेक शब्दों का प्रयोग किया है जैसे नन्दनद्रुम (कुमार० २.४१), देवारण्यद्रुम (रघु० १०.८०) आदि।

कल्पवृक्षों के इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि इनकी संख्या ५ है और ये परस्पर में पुष्प आदि की बहुलता के लिए भिन्न भिन्न हैं, किन्तु याचक को अभीष्ट फल प्रदान करना इन पाँचों में अभिन्न है। 'याचकेच्छापूरणत्व' इन सबका सामान्य धर्म है।

मत्स्यपुराण में कल्पवृक्षदान की कथा है। उसमें बीच में स्थापित किया जाता है कल्पवृक्ष और उसके चहुँओर स्थापित किए जाते हैं अन्य ४ कल्पवृक्ष यानी पारिजात आदि (मत्स्यपुराण० २७६.३–८)।

देवीभागवत में मणिद्वीप का वर्णन है। उसके कांस्य–साल तथा ताम्रसाल के बीच बनाई जाती है कल्पवृक्षों की वाटिका। ताम्रसाल और सीससाल के बीच 'सन्तान' वाटिका, सीससाल और पीतलसाल के बीच 'हरिचन्दनवाटिका', पीतलसाल और लोहसाल के बीच 'मन्दारवाटिका' आौर लोहसाल तथा रौप्य (चाँदी) साल के बीच बनाई जाती है 'पारिजात–वाटिका'। किन्तु इन पाँचों में जो वृक्ष समुद्र से उत्पन्न हुआ उसे 'पारिजात' नाम से ही पुकारा गया। महाभारत (आदिपर्व १८.६६ क्षेपक), विष्णुपुराण (१.९.९५), पद्मपुराण (सृष्टि स्व० ४.५०, ब्रह्मखण्ड १०.१), मत्स्यपुराण (२४९.५), तथा श्रीभागवत (८.८.५) ऐसे संदर्भ हैं जिनमें केवल 'पारिजात' का उल्लेख है। बाणभट्ट ने शुकनासोपदेश में लक्ष्मी की निन्दा में कहा है कि यह (लक्ष्मी) राग पारिजातपल्लवों से लेकर हुई है प्रकट'। नैषधीयचरित ११.१० में श्रीहर्ष ने पारिजात में सभी रत्नों को फल रूप से लगा बतलाया, साथ ही उसमें मुक्ताफल की उत्पत्ति भी बतलाई–

एषां गिरेः सकलरत्नफलस्तरुः स प्राग् दुग्धभूमिसुरभेः खलु पञ्चशाखः।
मुक्ताफलं फलन–सान्वय–नाम तन्वनाभाति बिन्दुभिरिवच्छुरितः पयोधेः।।

उपर्युक्त वृक्ष आज भी लोक में प्रसिद्ध हैं। इनमें पारिजात हारसिंगार के लिए प्रयुक्त है, इसी को शेफाली या शेफालिका भी कहा जाता है, हरिचन्दन प्रसिद्ध है रक्तचन्दन नाम से, अकौआ मॅदार ही कहलाता है इसी प्रकार वेदी पर लगा कोई भी ध्वजयुक्त वृक्ष आज भी कल्पवृक्ष ही कहा जाता है।

कल्पवृक्षों का यह अभिप्राय भारत के शिल्पों में भी प्रसिद्ध रहा है। भरहुत साँची आदि में कल्पवृक्षों का शिल्पांकन मूर्त्ति के रूप में प्रसिद्ध है ही। हमारे पैतृक निवास नादनेर–ग्राम में भी एक बड़े शिलाखण्ड पर कल्पवृक्ष बना है, जिसके नीचे स्त्रीपुरुष उत्कीर्ण हैं और शिरोभाग पर जैन तीर्थङ्कर।

जैन पुराणों में कल्पवृक्ष दस प्रकार के माने गए हैं जिनसेनकृत आदिपुराण के (पर्व ३ श्लोक ३९) में इनका उल्लेख मिलता है–

मद्य–तूर्य–विभूषा–स्रग्–ज्योति–र्दीप–गृहाङ्गकाः।
भोजनामत्रवस्त्राङ्गा दशधा कल्पशाखिनः।।

इस पद्य से यह तथ्य स्पष्ट है। इसके अनुसार दश कल्पवृक्षों के नाम हैं–

१. मद्य—जनक	जो शराब पैदा करें,
२. तूर्य—जनक	जो तूर्य या भूर्ज के जनक हों,
३. विभूषाजनक	जो विभूषा के जनक हों,
४. स्रग्जनक	जो माला के जनक हों,
५. ज्योतिर्जनक	जो जनक हों ज्योति के,
६. दीपजनक	जो जनक हों दीप के,
७. गृहजनक	जो जनक हों भवन के,
८. भोजनजनक	जो भोजन के जनक हों,
९. अमत्रजनक	जो भोजनपात्र के जनक हों और
१०. वस्त्रजनक	जो जनक हों वस्त्रों के।

शाकुन्तल के —

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै—
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।। शाकु० ४.४।।

पद्य में सभी वृक्षों को कल्पवृक्ष के रूप में स्मरण किया जा रहा है। 'किसी वृक्ष ने विदाई लेती शकुन्तला के लिए चन्द्र सा धवल मांगलिक क्षौम वस्त्र प्रकट कर दिया, किसी ने चरण में लगाने योग्य आलक्तक चुआ दिया तो अन्य वृक्षों ने उनकी अपनी कोंपलों से होड़ लेते करतलों से अनेक आभरण प्रदान कर दिए। उनके ये करतल उँगलिओं के पर्व तक निकले दिखाई दे रहे थे'। निश्चित ही ये सभी वृक्ष कल्पवृक्ष थे। वाल्मीकीय रामायण के किष्किन्धाकाण्ड (सर्ग ४३ के श्लोक ४५—५०) में वृक्षों का ऐसा गौरवपूर्ण वर्णन है, यद्यपि उन्हें कल्पवृक्ष नहीं कहा गया है।

सप्तर्षिगण व्योमगंगा के जिन प्रवाहों में डुबकी लगाकर आए थे उनमें 'मन्दार' के ढेर सारे पुष्पों की वर्षा हुई थी और दिङ्नागों के मदजल भी मिश्रित थे। इस प्रकार उनमें सौरभ का आलम था—

आप्लुतास्तीरमन्दारकुसुमोत्करवीचिषु।
व्योमगङ्गा—प्रवाहेषु दिङ्नागमदगन्धिषु।। कुमार० ६.५।।

१. कल्पवृक्ष तान्त्रिक साधनाओं के भी उपकरण बनते हैं। मत्स्यपुराण का वचन है —

नानारत्नमयैः शृङ्गैः कल्पद्रुमसमन्वितैः।
मध्ये हिमवतः पृष्ठे कैलासो नाम पर्वतः।।

देवी भागवत के सन्दर्भ में कह दिया गया है कि मणिद्वीप में कांस्य, ताम्र,

सीस तथा रौप्य (चाँदी) के चार प्राचीर हैं, जिनके बीच कल्पवृक्षों की वाटिकाएँ हैं। इनके आगे वहीं मालाओं का वर्णन हैं जिनमें कोई सुवर्ण की हैं, कोई पुष्पराग की, कोई पद्मराग की, कोई गोमेद की, कोई हीरक की, कोई वैदूर्य की, कोई इन्द्रनील की, कोई मुक्ता की, कोई मरकत की, कोई प्रवाल की और कोई नवरत्न की। अन्तिम परकोटा नवरत्नों का है। उसमें एक घर 'चिन्तामणि' का है। उसमें चार मण्डप हैं। एक का नाम है शृङ्गारमण्डप, दूसरे का मुक्तिमण्डप, तीसरे का ज्ञानमण्डप और चौथे का एकान्तमण्डप। चिन्तामणि गृह में दस सोपान हैं जो पराशक्तिरूप हैं। इस मञ्च के चार खुर हैं जिनमें एक है ब्रह्मा, एक विष्णु, एक रुद्र ओर एक शिव (ईश्वर)। इन पर जो फलक है वह है भगवान् सदाशिव और उसके ऊपर रखा है परमदिव्य रत्नमय मञ्च। उसपर विराजमान हैं भुवनेश्वर और भुवनेश्वरी। भुवनेश्वरी भगवती भगवान् भुवनेश्वर की अर्धाङ्गिनी हैं।

२. लिङ्गपुराण में जहाँ एक ओर अनाहत नाद रूप अजपा जप का दान वर्णित है वहीं दूसरी ओर रत्नमय कल्पपादप का दान भी। दान लेने वाले होंगे स्वयं भगवान् शिव या अन्य कोई योगवित् साधक। इस वृक्ष का पूरा वर्णन इस प्रकार है —

कल्पवृक्ष सौ निष्कों से बनाया जाए। इसमें एक सौ शाखाएँ हों। सभी शाखाओं पर मोती की मालाएँ लटकाई जाएँ। इसमें अंकुर हो मरकत का, प्रवाल हों प्रवाल के, फल हों पद्मराग के, निचला तना हो इन्द्रनील मणि का, स्कन्ध हों हीरे के, फुनगियाँ हों वैदूर्य की, मस्तक हो पुष्पराग के, कन्द हो गोमेद का, वेदी हो या तो चन्द्रकान्त की या सूर्यकान्त की या फिर स्फटिक की। इसे प्रदान किया जाए भगवान् शङ्कर को, या योगियों को अथवा भस्म रमाए विरक्त को—

अथान्यत् संप्रवक्ष्यामि कल्पापादपमुत्तमम्।
शतनिष्केण कृत्वैनं सर्वशाखासमन्वितम्।।
शाखानां विविधं कृत्वा मुक्तादामाद्यलम्बनम्।
दिव्यैर्मरकतैश्चैव चाङ्कुराग्रं प्रविन्यसेत्।।
प्रवालं कारयेद् विद्वान् प्रवालेन द्रुमस्य तु।
फलानि पद्मरागैश्च परितोऽस्य सुशोभयेत्।।
मूलं च नीलरत्नेन वज्रेण स्कन्धमुत्तमम्।
वैदूर्येण द्रुमाङ्गं च पुष्परागेण मस्तकम्।।
गोमेदकेन वै कन्दं सूर्यकान्तेन सुव्रत।
चन्द्रकान्तेन वा वेदिं द्रुमस्य स्फटिकेन वा।।

निवेद्येमं द्रुमं शम्भोर्योगिनां वाथवा नृप।
भस्माङ्घ्रिभ्योऽथवा राजा सार्वभौमो भविष्यति।।

३. 'रत्न—पादप' और 'कल्प—पादप' इन दोनों पादपों को[1] भावनोपनिषद् में मिला दिया गया है। वहाँ श्रीचक्र के ध्यान के प्रसङ्ग में कहा गया है[2] —

'देह है नवरत्नद्वीप,
इसमें सात धातुएँ हैं त्वगादि से रोम तक की,
संकल्प हैं कल्पवृक्ष,
तेज है कल्पकोद्यान,
रसना से भावित होते छः रस (मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु, कषाय, लवण) हैं छः ऋतुएँ।'

तन्त्रराज[3] में भावनोपनिषद् के ये ही भाव इस प्रकार संगृहीत हैं—

रत्नद्वीपो भवेद् देहो नवत्वं धातुरोमभिः।
संकल्पाः कल्पतरवः [3]स्वाधारा ऋतवः स्मृताः।।

कालिदाससाहित्य में देववृक्षों से संबन्धित ये सभी पक्ष देखे जा सकते हैं[4]।



१. तान्त्रिक टेक्स्ट्स ११ भाग

२. भावनोपनिषद् पर भास्कर राय की टीका।

३. यहाँ 'स्वादाः षड्तवः' पाठ हो सकता है 'स्व—स्वादा ऋतवः' पाठ। उपर्युद्धृत 'भावनोपनिषद्' में यही अभिप्राय मिलता है।

४. हमारा 'नन्दिनीविद्या' लेख भी यहाँ उपयोगी होगा। द्र० मेधा—२, विक्रम, १९६३ उज्जैन।

कालिदाससाहित्य में शाप

कालिदाससाहित्य मजामौज का भी साहित्य है, किन्तु अश्रुपात और परिताप का भी। मर्यादा के तटबन्ध इसमें भी टूटे हैं और उनका दुष्परिणाम भी कवि की प्रतिभा को उल्लेखनीय लगा है। शाप मिले, उन्हें भोगा भी गया, मुक्ति भी पाई गई। ऐसे सात प्रसङ्ग कालिदास ने प्रस्तुत किए, साथ ही दो प्रतिबन्धित क्षेत्र के दुष्परिणाम भी।

१. रघुवंश में शाप के तीन प्रसङ्ग आते हैं।
   ऋतुमती सुदक्षिणा के पास पहुँचने की आतुरता में दिलीप का ध्यान कल्पतरु की छाया में बैठी कामधेनु पर नहीं जाता, अत: वह शाप दे देती है कि दिलीप को तब तक संतानलाभ न होगा जब तक वह उस कामधेनु की प्रसूति की आराधना नहीं करेगा (रघु० १.७७)। महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी कामधेनु की प्रसूति थी, जिसकी आराधना से दिलीप को रघु जैसा पुत्र प्राप्त हुआ।
२. रघुवंश में मृगयाप्रसंग में दशरथ का बाण एक मुनिकुमार के प्राण ले लेता है। मुनि शाप देता है कि 'दशरथ की मृत्यु पुत्रवियोग से ही होगी' (रघु० ९.७९)।
३. रघुवंश के अज की पत्नी इन्दुमती मूलत: हरिणीनामक सुराङ्गना थी। उसने विचलित किया तो तृणबिन्दुमहर्षि ने उसे मनुष्ययोनि में गिरने का शाप दे दिया। शाप का अन्त निश्चित किया देवपुष्प के दर्शन से (रघु० ८.८०)।
४. रघुवंश में ऐसा ही शाप अहल्या को मिला (रघु० ११.३३–३४)।
५. कुमारसंभव में काम को शाप मिला, क्योंकि उसने प्रजापति के मन में पुत्री के प्रति विकार उत्पन्न कर दिया था (कुमार० ४.४१)।
६. मेघदूत में यक्ष को अपनी प्रिया से एक वर्ष दूर रहने का शाप मिला, क्योंकि उसने अपने अधिकार में अनवधान किया था। यह अनवधान कदाचित् प्रिया से दिन में भी लिपटे रहने से हुआ था, क्योंकि प्रायश्चित्त के बाद वह प्रिया से मिलने के लिए केवल रात्रिकाल की ही बात करता है (मेघ० १०८)।
७. विक्रमोर्वशीय में इन्द्रसभा में हो रहे 'लक्ष्मीस्वयंवर'—नाट्यप्रयोग में 'किस पर तेरा मन है' पूंछने पर लक्ष्मी बनी उर्वशी को कहना तो था 'पुरुषोत्तम', पर उसके मुँह से निकल पड़ा 'पुरूरवा'। भरत ने उसे मनुष्यस्त्री बनने का शाप दिया।
८. शाकुन्तल में दुष्यन्त के सद्योवियोग में व्यथित शकुन्तला ने उपस्थित अतिथि

दुर्वासा की आवाज नहीं सुनी तो दुर्वासा ने शाप दे दिया कि तू जिसे इतनी सुधबुध खोकर स्मरण कर रही है वह तुझे याद दिलाने पर भी याद नहीं करेगा (शाकु० ४.१)

नियन्त्रित क्षेत्र

नियन्त्रित क्षेत्र में असावधानी से पहुँचने पर उर्वशी को लता बनना पड़ा, जिससे मुक्ति मिली माता पार्वती के चरणराग से निष्पन्न 'संगमनीय' मणि के प्रभाव से। इसी प्रकार

मालविका को भी एक वर्ष तक दासी के रूप में रहना था ऐसी भविष्यवाणी थी।

शापदाता का प्रेमी स्वभाव

उपर्युक्त सभी वृत्तान्तों से जो एक तथ्य उभरता है वह यह कि शापदाता क्रूर कम, प्रेमी अधिक है। उसका हृदय प्रेमियों के ही पक्ष में है, किन्तु संयम की शिक्षा के लिए उसे कुछ रूखा बनना पड़ता है।

उपर्युक्त शाप का परिणाम वह स्थिति है जिसे 'Tragedy' कहा जाता है। Tragedy की तीक्ष्णता कालिदास में कितनी कम रखी गई है शेक्सपियर की तुलना में, जहाँ शंकामात्र से मैकवेथ अपनी प्रेयसी के प्राण ले लेता है।

यहाँ जो अपराध हैं वे भी कितने मधुर और प्रिय हैं। इन्द्रसभा में उर्वशी के मुख से पुरुषोत्तम के स्थान पर 'पुरूरवा' निकल जाना कितना मीठा और प्रिय स्खलन है। पुरूरवा ने टकटकी लगाकर देख दिया, किसी विद्याधर कन्या को, तो उर्वशी रूठ गई और स्त्री के लिए निषिद्ध क्षेत्र में जा पहुँची, जहाँ उसे लता बन जाना पड़ा। ये दोनों अपराध मनुष्य–प्रकृति के कितने मधुर पक्ष हैं? कालिदास अन्तिम रूप से माधुर्य और लालित्य को ही अर्पित कवि हैं। विशेषता यह है कि मानवती नायिका अपने प्रिय पर ही ध्यान केन्द्रित किए है और वह प्रिय पुरूरवा के उन्माद की चेष्टाएँ देखती जा रही है। उर्वशी जिस लता के रूप में परिणत हुई थी उस पर पुरूरवा अन्य लताओं की अपेक्षा अधिक आकृष्ट है और वह उसे आलिङ्गन में लेता है। चितिशक्ति यहाँ कितनी उदग्र है। जड जगत् की जडता को वह आच्छादित करती दिखाई देती और जहाँ कहीं उसे अपना अंश दिखाई देता वहाँ बलात् आकृष्ट मिलती है। दुष्यन्त मारीच आश्रम में भरत को देखता तो उस पर उसका चित्त औरस पुत्रवत् आकृष्ट होता है। कुश और लव दोनों में राम का अनुभाव है, केवल वय और वेश का अन्तर है। इस अनुभाव को सभी दर्शक टकटकी लगाकर देखते मिलते हैं (रघु० १५.६७)।

'उत्तरसीताचरित' में कुश और चन्द्रकेतु में युद्ध होता है, किन्तु उन दोनों की आत्मीयता उनके युद्ध को केवल अस्त्राभ्यास सिद्ध कर रही थी। सूर्य एक, उसके उन उन दर्पणों में प्रतिबिम्ब अनेक। उन प्रतिबिम्बों का परस्पर में जो संघर्ष उसका फल उल्टे तेजोवृद्धि। चन्द्रकेतु जो बाण कुश और लव पर छोड़ता वे उनके शरीर का स्पर्श नहीं कर पाते, न कुश—लव के द्वारा छोड़े गए बाण चन्द्रकेतु के शरीर का। परिणामत: यहाँ युद्ध योद्धाओं के बीच नहीं, अपितु बाणों के ही बीच होता रहा—

एकस्यैव तु सूर्यस्य प्रभामादाय भास्वतोः।
आदर्शयोस्तु संघर्षे तेजोहानिः क्व जागृयात्।। रघु० ८.४४।।

अप्राप्तानां शरीरं तु रामलक्ष्मणपुत्रयोः।
सायकानां हि युद्धं तत् परस्परमदृश्यत।। रघु० ८.४६।।

यह हुई कथा 'अबोधपूर्व आत्मीयता और उसके अनुभव की'। महाकवि कालिदास ने मानव की इस प्रच्छादित आत्मीयता का तलस्पर्शी अंकन किया और उसमें उन्हें पूरी चरितार्थता भी प्राप्त हुई।

दिलीप के हाथ में धनुष है, किन्तु मन में जिघांसा नहीं, प्रत्युत सभी प्राणियों के प्रति दया की आर्द्रता है। इसका प्रभाव हरिणियों पर भी पड़ता है और वे डरकर भागती नहीं, प्रत्युत दिलीप को देखती खड़ी रहती हैं —

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः।। रघु०२.११।।

महर्षि पतञ्जलि ने कहा था कि जब 'अहिंसा' सिद्ध हो जाती है तब उस योगी के पास पहुँचे परस्पर पर घात करने वाले पशु पक्षियों के मन से भी वैर निकल जाता है। इस सिद्धि का तनिक स्पर्श इन स्थितियों में परिलक्षित होता है।

आश्रम :

आश्रमभूमि कितनी पवित्र होती है कि उसमें प्रवेश करते ही संप्रसाद छा जाता है व्यक्ति के चित्त में। दुष्यन्त स्वर्ग से अपने भूमिलोक लौट रहे हैं। बीच में तप की सिद्धि का स्थान हेमकूटपर्वत मिलता है, जिसको किंपुरुषवर्ष कहा जाता है। वही है प्रजापति मारीच का आश्रम जिसमें इन्द्र की माता अदिति ने परिवर्द्धित किए हैं बाल मन्दारवृक्ष, मन्दार यानी सर्वाधिक पुष्प देने वाला कल्पवृक्ष। इस आश्रम में प्रवेश करते ही दुष्यन्त को जो शान्तिसुख मिलता है उसके लिए उसका उद्‌गार है— 'यह तो स्वर्ग से भी अधिक शान्तिप्रद स्थान है, लग रहा है 'अमृतकुण्ड' में आ डूबा हूँ' —

मातलिः — (संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा) महाराज! एतौ अदितिपरिवर्द्धितमन्दारवृक्षं
प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः।

दुष्यन्तः – स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि। (शाकु० ७.११.२–३)

पार्वती ने तपस्या के लिए जो आश्रम बनाया उसमें परस्पर विरोधी प्राणियों के चित्त भी मात्सर्य–रहित हो गए (कुमार० ५.१७) क्यों? योगसिद्धि के कारण।

मेघदूत में शापावधि और चातुर्मास्य[1]

महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध खण्डकाव्य मेघदूत में कथानक का जो खण्ड अपनाया गया है, वह यह है:–

अपने अधिकार में असावधान एक यक्ष, यक्षराज के एक वर्ष तक प्रिया से न मिल सकने के शाप से अलका छोड़ रामगिरि पहुँचता है। कुछ महिने बीतने पर आषाढ़ मास में प्रथम दिन जब वह मेघ को रामगिरि की चोटी का आलिंगन किए देखता है, तो बहुत देर तक सोच विचार में मग्न रहता है। पश्चात् कुटजपुष्पों के अर्घ्य के साथ मेघ का स्वागत कर उससे प्रिया के पास संदेश के ये शब्द ले जाने की प्रार्थना करता है–'प्रिये! मेरा शाप भगवान् विष्णु के शेषशय्या से उठते ही समाप्त हो जाएगा। शेष चार मास तुम आँख मूँदकर बिता लेना'।

इस कथाखण्ड में सबसे अधिक महत्त्व शापावधि का है। उसका उतना ही विवरण कवि ने प्रस्तुत किया जितना छोड़ा नहीं जा सकता था, क्योंकि शापावधि इतिवृत्तात्मक अधिक है और कवि को लिखना है विप्रलम्भ का रसनीय काव्य। शापका अन्तिम क्षण अधिक स्पृहणीय था। अत: कवि ने उसी का उल्लेख किया, आरम्भिक क्षण को अनुमान या अर्थापत्ति पर छोड़ दिया। इस प्रकार माना कि कवि ने ऐतिह्य को अनिवार्य से अधिक स्थान नहीं दिया, तथापि जितना स्थान दिया उससे भी दो तथ्य स्पष्ट नहीं किए। एक प्रबोधपर्व और दूसरा चातुर्मास्य।

(१) प्रबोधपर्व –

प्रबोध के विषय में कवि के स्वयं के शब्द ये हैं–

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणत–शरच्चन्द्रिकासु क्षपासु।। मेघ० १०८।।

इस उक्ति में प्रबोध की केवल घटना बतलाई गई है। इस घटना के लिए अपेक्षित पर्वकाल और उसके लिए अपेक्षित तिथि का इसमें उल्लेख नहीं है। जहाँ तक

---

१. 'विक्रम' ग्रन्थ दशम, १९६७ उज्जैन।

तिथि का सम्बन्ध है, प्रबोध के लिए पुराणों में कार्तिक शुक्लपक्ष की तीन तिथियाँ प्रसिद्ध हैं **(१) एकादशी, (२) द्वादशी तथा (३) पूर्णिमा** । ब्रह्मपुराण का वचन है—'कार्तिक मास की शुक्ल एकादशी के दिन भगवान् को जगाएँ'—

एकादश्यां तु शुक्लायां कार्तिके मासि केशवम्।
सुप्तं प्रबोधयेत्।[१]

वराहपुराण में कहा गया है—कार्तिकशुक्लपक्ष की एकादशी का नाम प्रबोधनी है—

कार्तिकेऽमलपक्षे तु साक्षादेकादशी स्मृता।
भक्तिप्रदा हरेः सा तु नाम्ना ख्याता प्रबोधनी।।[२]

इन्हीं पुराणों में द्वादशी के लिए भी कहा जाता है—"हे देव! यह द्वादशी तो आपके प्रबोध के लिए ही बनी है। हे लोकनाथ! आपकी 'कौमुदा' नामक द्वादशी आ पहुँची, जागिए, जागिए! यदि (रेवती आदि) नक्षत्र न भी उपस्थित हों तब भी सन्धिकाल में कार्तिक शुक्लपक्ष की द्वादशी तिथि को 'आ' अर्थात् आषाढ़ में भगवान् का शयन होता है 'भा' अर्थात् भाद्रपद में पार्श्वपरिवर्तन और 'का' अर्थात् कार्तिक में प्रबोध।"

इयं तु द्वादशी देव प्रबोधार्थं विनिर्मिता।
प्राप्ता तव द्वादशी कौमुदाख्या।
जागृष्व जागृष्व च लोकनाथ।
द्वादश्यां सन्धिसमये नक्षत्राणामसम्भवे।
आ—भा—का—सितपक्षेषु शयनावर्तनादिकम्।।[३]

पूर्णिमा के प्रबोधतिथित्व के लिए शब्दकल्पद्रुमकार राधाकान्तदेव ने अपने 'शब्दकल्पद्रुम' में तथा कमलाकर भट्ट ने अपने 'निर्णयसिन्धु' में यम के वचन के नाम से और दक्षिणावर्तनाथ ने अपने 'मेघदूतप्रदीप' में कूर्म के वचन के नाम से यह प्रमाण उद्धृत किया है—

क्षीराब्धौ शेषपर्यङ्के आषाढ्यां संविशेद्धरिः।
निद्रां त्यजति कार्तिक्याम्।।

अर्थात् "भगवान् आषाढ़ी अर्थात् आषाढमास की पूर्णिमा को शेषशय्या पर सोते और कार्तिकी अर्थात् कार्तिकमास की पूर्णिमा को जागते हैं"।

मेघदूत के टीकाकारों ने इनमें एक किसी भी तिथि को स्वेच्छया अपना लिया है। मल्लिनाथ और भरतसेन ने एकादशी को प्रबोधतिथि के रूप में अपनाया है,

---

१,२. द्रष्टव्य = शब्दकल्पद्रुम, व्रतराज तथा निर्णयसिन्धु।
३. द्रष्टव्य = शब्दकल्पद्रुम, व्रतराज तथा निर्णयसिन्धु।

वल्लभ ने द्वादशी को और दक्षिणावर्त्तनाथ ने पूर्णिमा को[१]। मल्लिनाथ, वल्लभ और दक्षिणावर्त्तनाथ की टीका से परिचित हैं, किन्तु वे एकादशी के पक्ष में इन दोनों का खण्डन नहीं करते। वल्लभ और दक्षिणावर्त्तनाथ ने भी अन्य पक्षों का खण्डन नहीं किया। इस प्रकार टीकाओं के आधार पर कालिदास को मान्य प्रबोधतिथि का निश्चय करना संभव नहीं है।

कोई भी एक तिथि प्रबोधतिथि के रूप में मान लेने पर, प्रश्न उठता है कि शाप उस तिथि को था अथवा उसकी पूर्वतिथि के साथ समाप्त हो चुका था। टीकाकार इन पर भी एकमत नहीं है। मल्लिनाथ और वल्लभदेव शाप को पूर्वतिथि के साथ समाप्त मानते हैं, जबकि दक्षिणावर्त्तनाथ प्रबोधतिथि के साथ[२]। इस विषय में भी ये टीकाकार न तो कोई तर्क प्रस्तुत करते हैं और न प्रमाण ही। ये अन्य मत का खण्डन भी नहीं करते। इस प्रकार टीकाकारों के आधार पर शाप के आरम्भ की तिथि भी निश्चित करना संभव नहीं है। वल्लभ और मल्लिनाथ के अनुसार यह वही तिथि होगी जिसकी पूर्वतिथि को शाप समाप्त होगा और दक्षिणावर्तनाथ के अनुसार भी वही तिथि। इस प्रकार एक मत में कार्तिक शुक्लपक्ष की एकादशी अथवा द्वादशी ही शापारम्भतिथि ठहरेगी जब कि दूसरे मत में कार्तिक–पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा। शाप के आरम्भ और अन्त की तिथि के निश्चय के समान ही टीकाकार प्रबोधपर्व के विषय में भी मौन है। उन्होंने यह प्रतिपादित नहीं किया कि उनके द्वारा मान्य प्रबोधतिथि को प्रबोध का पर्व कब से कब तक माना जा सकता है। पर्व का निर्णय करते ही शापारम्भ और शापान्त दोनों की तिथियाँ अपने आप स्पष्ट हो जातीं।

उत्तर भारत में प्रबोध का उत्सव एकादशी का दिन बीतने पर सन्ध्या से लेकर रात्रि के प्रथम याम तक मनाया जाता है। उज्जयिनी का अखिल–भारतीय–कालिदास–महोत्सव प्रबोधनी एकादशी की सन्ध्या से ही आरम्भ होता है। पुराणों का संरम्भ भी इसी दिशा में माना जाता है। ब्रह्मपुराण में कहा गया है—कार्तिक मास की शुक्ल एकादशी के दिन भगवान् को रात्रिकाल में जगावें —

---

१. मल्लिनाथ 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' का अर्थ आषाढ की प्रथम अर्थात् शुक्ल प्रतिपदा करते हैं और शापान्त कार्तिक शुक्ल एकादशी को मानते हैं। अतः उनके अनुसार शापावधि में चारमास दस दिन शेष निकलते हैं। इस पर उनका कहना है "दशदिवसाधिक्यं तु न विवक्षितम्" (मेघ० १०८)। इससे स्पष्ट है कि मल्लिनाथ एकादशी को प्रबोधनी तिथि मानते हैं।

वल्लभ का कथन है—"कार्तिकशुक्ल–द्वादश्यां भुजग–शयनात् शेषतल्पात् उत्थिते शाङ्र्गपाणौ हरौ मम शापान्तो भविष्यति।"

दक्षिणावर्तनाथ अपने पक्ष के समर्थन में लेख में उद्धृत 'क्षीराब्धौ' वचन प्रस्तुत करते हैं।

२. पादटिप्पणी–४ में उद्धृत प्रमाणों से यह तथ्य प्रमाणित है।

एकादश्यां तु शुक्लायां कार्तिके मासि केशवम्।
सुप्तं प्रबोधयेद् रात्रौ भक्ति—श्रद्धा—समन्वितः।।

स्कन्दपुराण का वचन है—"भगवान् विष्णु तब जागते हैं जब एकादशी का दिन समाप्त होने पर रात्रि के आरम्भ में रेवती—नक्षत्र तथा द्वादशी का योग हो —

रेवत्यन्तो यदा रात्रौ द्वादश्या च समन्वितः।
तदा विबुध्यते विष्णुर्दिनान्ते प्राप्य रेवतीम्।।

भविष्योत्तरपुराण की उक्ति है—"सोकर जागे भगवान् को राजा स्वयं रथ पर स्थापित करे और गाजे बाजे से नगर में घुमावें' —

महातूर्यरवे रात्रौ भ्रामयेत् स्यन्दने स्थितम्।
उत्थितं देवदेवेशं नगरे पार्थिवः स्वयम्।।

पुराणों के ये प्रमाण शब्दकल्पद्रुमकार, निर्णयसिन्धुकार और व्रतराजकार ने उद्धृत किए हैं और इन्होंने एकादशी तथा द्वादशी की सन्धि को ही प्रबोधपर्व माना है [1]।

मेघदूत के कवि को भी यही सन्धिकाल प्रबोधपर्व के रूप में मान्य प्रतीत होता है। इसमें प्रमाण है, पूर्वोद्धृत **"शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते"** पद्य का उत्तरार्ध। उसमें प्रबोध के तुरन्त बाद कवि ने रात्रि का वर्णन किया है और तद्वाचक क्षपा—शब्द में "क्षपासु" इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग किया है। इन रात्रियों को शरद् की रात्रि कहा है और इनकी चाँदनी को "परिणत" बतलाया है। परिणत का अर्थ परिपक्व और समाप्तप्राय होता है। उत्तरार्ध में आए "परिणतशरच्चन्द्रिका" शब्द का अर्थ यदि विलासक्षम घनत्व की अन्तिम स्थिति में पहुँची चाँदनी किया जाए तो पूर्णिमा को प्रबोधतिथि मानना संभव न होगा, क्योंकि उसके बाद की चाँदनी तुषारबहुल होगी, फलतः उसमें उज्ज्वलता की मात्रा अपेक्षाकृत कम होगी, आर्द्रता ही अधिक होगी, जो शरद् की नहीं, हेमन्त की विशेषता मानी जाएगी। इसके अतिरिक्त ये रात्रियाँ कृष्णपक्ष की होंगी जिसमें चाँदनी का वर्णन सामान्यतः किया नहीं जाता। द्वादशी के आरम्भ में प्रबोध मानने पर पूर्णिमा तक चार रात्रियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। इससे क्षपाशब्द का बहुवचनान्तत्व भी सार्थक सिद्ध होता है और चन्द्रिका में शरत्कालिकत्व तथा परिणतत्व भी उपपन्न हो जाते हैं।

---

१. हरिशयन—शब्द के प्रकरण में शब्दकल्पद्रुमकार ने लिखा है—"००द्वादश्यां सन्ध्यायामेव शयनादिकम्। बोधनं तु द्वादश्या रात्रौ रेवत्यन्त—पाद—योगे।"

निर्णयसिन्धुकार ने कार्त्तिकमास के कृत्य लिखते हुए हेमाद्रि, मदनरत्न, रामार्चनचन्द्रिका तथा पुराणों के वचन उद्धृत कर निष्कर्ष दिया है—"अस्यामेव रात्रौ देवोत्थापनम्।"

द्रष्टव्य—पृष्ठ २१९—२० काशीसंस्करण

व्रतराज में एतदर्थ कार्त्तिक एकादशीप्रकरण देखा जा सकता है।

सन्धिकाल को प्रबोधपर्व मानने से मल्लिनाथ, भरतसेन और वल्लभ के मतों में भी समन्वय आ जाता है। इसके अतिरिक्त शाम के आरम्भ और अवसान के मुहूर्त का भी निर्णय अपने आप हो जाता है। निश्चित ही शाप का आरम्भ इसी प्रबोध–सन्धि से हुआ होगा, क्योंकि उसकी समाप्ति इसी सन्धि को होने को थी। इस प्रकार एक वर्ष के शाप की अवधि एक प्रबोधसन्धि से दूसरी प्रबोध–सन्धि तक की ठहरती है।

इस स्थापना से शाप के कारण पर भी प्रकाश पड़ता है। कवि ने शाप का कारण अधिकार में प्रमाद बतलाया है। उसके ही ऊपर दिए सीमानिर्धारण से स्पष्ट है कि यह शाप प्रबोधपर्व में मिला था। निश्चित ही प्रमाद भी उसी समय हुआ होगा। और इसीलिए यह भी अनिश्चित नहीं कि प्रमाद प्रबोधोत्सव से संबंधित ही होगा। टीकाकारों ने अधिकार के विषय में प्राय: एक ही बात लिखी है। यह कि यक्षराज ने इस यक्ष को कमलवन की रक्षा का दायित्व सौंपा था। प्रमाद के विषय में उन्होंने कल्पना की है कि यक्ष ने रक्षा का दायित्व रात के दो यामों तक तो निवाहा, किन्तु अन्तिम तृतीय याम में अथवा ब्राह्म मुहूर्त में वह प्रिया के पास जाने से न रुक सका। इसी बीच ऐरावत ने कमलवन उजाड़ दिया। शाप प्रिया से विरह का था, अत: यह तो स्वत:सिद्ध है कि प्रमाद में प्रियासक्ति ही कारण रही होगी, किन्तु यह सोचने का विषय है कि विवाहित व्यक्ति को कुबेर ने प्रत्येक रात अलग रहने का कार्य कैसे सौंपा होगा। निश्चित ही कुबेर ने यक्ष को यह कार्य केवल कार्तिक शुक्ल दशमी को एक अहोरात्र के लिए सौंपा होगा, जिससे दूसरे दिन के प्रबोधोत्सव के लिए कमलपुष्प पूरी मात्रा में सुरक्षित रहें, उनका विनियोग अन्यत्र न हो। यक्ष या तो रात भर तैनात नहीं रहा अथवा दिन में प्रियासक्त रह रक्षित कमलपुष्पों को पूजा के समय यक्षराज की सेवा में प्रस्तुत करने में चूक गया। सर्वथा, यक्ष को शाप प्रबोधोत्सव में किए प्रमाद से ही मिला होगा। शाप के बाद रात में विहार की स्वयं कथित नसीहत से लगता है कि यक्ष ने प्रबोधनी को वर्जित[१] प्रियास्पर्श का अपराध भी किया होगा। इस प्रकार यक्ष का अपराध भी प्रबोधोत्सव से संबंधित प्रतीत होता है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि शाप कार्तिक शुक्ल एकादशी बीतने पर रात्रिकाल में तब दिया गया जब द्वादशी का आरम्भ हो रहा था, अत: प्रबोधपर्व उपस्थित था। शाप का कारण भी प्रबोधोत्सव में मिले किसी कार्य में प्रमाद था। इस प्रमाद का मूल प्रिया के प्रति घोर आसक्ति थी। शाप एक वर्ष का था, अत: वह अगले प्रबोधोत्सव की एकादशी के साथ समाप्त होने को था। इस तथ्य की पुष्टि प्रबोधपर्व तक शाप के अवशिष्ट चातुर्मास्य से भी होती है।

---

१. द्रष्टव्य – क्षौद्रं मांसं सुरां तैलं व्यायामं क्रोधमैथुने, द्वादश्यां परिवर्जयेत् – शब्दकल्पद्रुम।

(२) चातुर्मास्य —

ऊपर बतलाया जा चुका है कि शापित यक्ष अलका से रामगिरि आया और कुछ महिनों बाद उसने वहाँ मेघ का दर्शन किया। कवि इसका वर्णन इन शब्दों में करता है–

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणत–गजप्रेक्षणीयं ददर्श।। मेघ० २।।

इस पद्य का अर्थ वल्लभ को छोड़ प्राचीन और आधुनिक प्रायः सभी टीकाकारों और अनुवादकों ने इस प्रकार किया है– *"उस पर्वत पर प्रियावियुक्त उस कामी यक्ष ने कुछ महिने निकाले। तब तक उसकी कलाई से सोने का कड़ा खिसक चुका था। आषाढ का पहला दिन आया तो उसने पर्वतचोटी का आलिंगन किए हुए, ढूँसा मारने की मुद्रा में झुके हाथी के समान दीख पड़ते मेघ का दर्शन किया।"*

आरम्भ में उद्धृत मेघदर्शन का परिणाम भी कवि ने इन शब्दों में उपस्थित किया है– **तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो–**
रन्तर्वाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ । मेघ० ३।।

"मेघ मन में कौतुक आहित कर देता है, अतः विरही यक्ष उसके समक्ष बड़ी कठिनाई से टिक पाया, किन्तु उसकी आँखों में आँसू भर आए और राजराज कुबेर का सेवक वह यक्ष लम्बे सोचविचार में पड़ गया।"

उसने सोचा — "श्रावणमास प्रत्यासन्न है। श्रावण की घटाएँ अलका में भी इसी प्रकार उठेंगी। उनसे यक्षी का जीना कठिन हो जाएगा। उसे बचाने हेतु कुछ करना आवश्यक है। उसने संदेश भेजने का निश्चय किया और उसके लिए स्वयं मेघ को ही दूत चुना। कुटज के तुरन्त फूले पुष्पों से अर्घ दे उसने मेघ से अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने हेतु कहा–"भाई मेघ तुम्हारा स्वागत है"।

स्वागत ही न प्रसन्नता व्यक्त करने का प्रमुख हेतु है? कवि के शब्दों में–

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन् प्रवृत्तिम्।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार।। मेघ० ४।।

स्वागत के पश्चात् यक्ष ने मेघ से अलका जाने की प्रार्थना की और उसके लिए अनुरूप पथ बतलाकर, उसे अपने संदेशवाक्य सौंपे, जिनमें प्रमुखतः उसने

विष्णुप्रबोध तक शेष चार मास की अवधि जिस किसी प्रकार निकाल लेने का अनुरोध किया, जो पूर्वोद्धृत "शापान्तो मे" पद्य से स्पष्ट है।

इस संदर्भ में चार मास की अवशिष्ट अवधि का आरम्भ कब से माना जाए यह विचारणीय है। प्रश्न यह है कि यक्ष ने मेघ का दर्शन जिस दिन किया चार मास की गणना उसी दिन से करना आरम्भ किया जाए अथवा किसी अन्य दिन से। यह भी एक प्रश्न है कि उस दिन तिथि कौन थी, जिस दिन यक्ष ने मेघ का दर्शन किया। कवि ने "आषाढ के प्रथम दिन" मेघ के दर्शन की बात लिखी है। संस्कृत में प्रथम शब्द के दो अर्थ होते हैं, 'आदि' और 'प्रमुख'। इनमें 'आदि' अर्थ अधिक प्रचलित है। टीकाकारों का बहुमत इसी पक्ष में है। मल्लिनाथ और दक्षिणावर्तनाथ यही अर्थ मानते हैं। वल्लभदेव इसी अर्थ के कारण "प्रथम" शब्दघटित पाठ को असंगत मानते हैं। प्रमुख अर्थ केवल चारित्र्यवर्धन ही लाते हैं, वह भी वैकल्पिक रूप में। इन दोनों अर्थों में से 'आदि' अर्थ मानने पर चातुर्मास्य की गणना ठीक नहीं उतरती। मास का आरम्भ शुक्ल या कृष्ण किसी भी पक्ष से माना जाए, आषाढ के प्रथमदिवस का अर्थ होगा पहली प्रतिपदा। तब चार मास आश्विन तक पूरे हो जाएगें। प्रबोधनी तक के छब्बीस या ग्यारह दिन उसमें अधिक ही निकलेंगे।

इस असंगति का परिहार टीकाकारों ने अनेक प्रकार से करना चाहा है। एतदर्थ वल्लभदेव ने पाठभेद की कल्पना की है। उनने मूलपाठ "प्रशम–दिवसे" माना है। वे "प्रथम–दिवस" पाठ को भ्रममूलक मानते हैं और भ्रम का कारण बतलाते हैं, शकार तथा थकार की लिपि में समानता। उन्हीं के शब्दों में यह तथ्य इस प्रकार है–

आषाढस्य प्रशमदिवसे समाप्तिदिने ग्रीष्मावसाने...। केचित् तु
शकार–थकारयोर्लिपिसारूप्यमोहात् प्रथम इत्यूचुः।।

वल्लभ के इस कथन में मेघदर्शनतिथि का उल्लेख नहीं है। वल्लभ के प्रशमदिवस पाठ को चारित्र्यवर्धन ने भी पाठान्तर के रूप में उद्धृत किया है और मास का आरम्भ शुक्ल पक्ष से मानकर उसका अर्थ आषाढी अमावस्या किया है। उनका लेख है –

"प्रशमदिवसे इति पाठे तु मासस्यावसानो दिवसः स एव प्रशमदिवसः।"

चारित्र्यवर्धन ने मूलपाठ "प्रथम" पदघटित ही माना है। परन्तु उन्होंने प्रथम शब्द का अर्थ प्रवर किया है और उसका लक्ष्य अमावस्या ही माना है। वे लिखते हैं: –

आषाढस्य प्रथमः प्रवरश्चासौ दिवसश्च यस्मिन् वासरे स मासः पूर्तिमियर्त्ति, सा, आषाढी अमावास्येति भावः। तस्य प्रवरत्वं कृष्यादिकार्याणां तस्मिन्नारभ्यमाणत्वात्।

चारित्र्यवर्धन की टीका में उक्त पद्य पर किए गए विवेचन के अन्त में यह भी एक पङ्क्ति जुड़ी मिलती है –

प्रथमः प्रख्यातो विष्णुदिवसः प्रथमा एकादशीत्यर्थः। तत्रात एव शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ मासानेतान् गमय चतुर इति वाक्यम्।

अर्थात्–''प्रथम–प्रख्यात (दिन)– विष्णु भगवान् का दिन अर्थात् प्रथम एकादशी। इसीलिए कवि ने 'शापान्तो मे' यह कहा।

टीकाक्रम के देखने से लगता है कि पङ्क्ति प्रक्षिप्त है। किसी पाठक ने चारित्र्यवर्धनी के पाण्डुग्रन्थ के पार्श्व में इसे अपनी ओर से टिप्पणी के रूप में लिख रखा होगा। संपादक ने उपयोगी समझ मूल में जोड़ दिया। सर्वथा, इस व्याख्या के अनुसार यदि प्रशमदिवस का अर्थ बल्लभ के अनुसार भी अमावस्या मान लिया जाए और मास का आरम्भ शुक्लपक्ष से जाना जाए तो चातुर्मास्य की पूर्ति कार्तिक कृष्णपक्ष की समाप्ति पर संभव होगी, कार्तिक शुक्ल पक्ष में होने वाले प्रबोध की तिथि को नहीं। इस प्रकार पूरे बीस दिन चातुर्मास्य में कम होंगे। दक्षिणावर्त्तनाथ की टीका में गणना की इस असंगति पर कोई विचार नहीं मिलता। मल्लिनाथ विचार तो करते हैं, किन्तु वे वल्लभदेव के खण्डन में ही अधिक सफल होते हैं। पहले तो वे प्रथम के स्थान पर 'प्रशम' पाठ बदलने का कारण खोजते हैं। वे इसे श्रावण की प्रत्यासत्ति के लिए लाया गया मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्यासत्ति महिने से भी मानी जा सकती है। आषाढ से श्रावण लगा रहता ही है। तिथि से प्रत्यासत्ति मानने पर एक ही लाभ संभव है। यह कि उससे प्रत्यासत्ति में और अधिक समीपता चली आती है। मल्लिनाथ उसे अनावश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि मासप्रत्यासत्ति अपेक्षाकृत अधिक मान्य है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि यक्ष प्रिया की रक्षा के लिए बहुत पहले सचेत हो गया। मल्लिनाथ मास का आरम्भ शुक्लपक्ष से मान प्रथमदिवस का अर्थ शुक्लप्रतिपदा करते हैं। इस क्रम से गणना करने पर चातुर्मास्य की गणना में दस दिनों की वृद्धि उन्हें स्वयं खलती है, किन्तु वे यह देख संतोष कर लेते हैं कि वल्लभ के पक्ष में आ रही विषमता से उनके मत की विषमता कम है। वे यह भी कह डालते हैं कि चातुर्मास्य की गणना सर्वथा ठीक ही उतरे यह आवश्यक नहीं। थोड़ा वैषम्य चल सकता है। उनकी पङ्क्तियाँ ये हैं :–

''केचित् आषाढस्य प्रथमदिवस इत्यत्र प्रत्यासन्ने नभसि इति वक्ष्यमाणनभोमासस्य प्रत्यासत्त्यर्थं प्रशमदिवस इति पाठं कल्पयन्ति। तदसङ्गतम्। प्रथमातिरेके कारणाभावात् ००० । प्रत्यासत्तिमात्रस्य मासप्रत्यासत्त्यैव प्रथमदिवसस्याप्युपपत्तेः अत्यन्तप्रत्यासत्तेरुपयोगा– भावेनाविवक्षितत्वात् ।००० । प्रत्युतास्मत्पक्ष एव कुशलसन्देशस्य भाव्यनर्थप्रतीकारार्थस्य

पुरत एवानुमानमुक्तं भवतीत्युपयोगसिद्धिः ०००। कथं तर्हि ०० शापस्य मासचतुष्टया-वशिष्टत्वोक्तिः दशदिवसाधिक्यादिति चेत् स्वपक्षेपि सा कथं विंशतिदिवसैर्न्यूनत्वात्। तस्मात् 'ईषद् वैषम्यमविवक्षितम्'[१] इति।

भरतसेन अपनी सुबोधा में मल्लिनाथ के ईषद् वैषम्य को मिटाने का यत्न करते हैं। वे इसके लिए अनेक विकल्प उपस्थित करते हैं। उनका कहना है –

१. मेघो वार्तां श्रावणे श्रावयिष्यति, तदपेक्षया चत्वारो मासाः।

२. मेघं दृष्ट्वा कष्टसृष्ट्या आषाढं गमयित्वा श्रावणे वार्ता प्रस्थापिता, अतस्तदपेक्षया चत्वारो मासाः। वक्ष्यते हि 'तस्य स्थित्वा कथमपी'—त्यादि 'प्रत्यासन्ने नभसी'—त्यादि च।

३. किं वा कामेनानवस्थितचित्तत्वात् संख्यामविभाव्यैव तथोक्तम्।

अर्थात्—

(क) मेघ संदेश सुनाएगा तो श्रावण में अतः तब से गणना करने पर चार मास ही निकलेंगे। अभिप्राय यह कि चार मास के ऊपर निकल रहे दिन अलका की यात्रा में लग जायेंगे।

(ख) यक्ष ने मेघदर्शन आषाढ की प्रथम प्रतिपदा को ही किया, किन्तु संदेश श्रावण में भेजा। कुछ समय उसने जैसे तैसे काट लिया। इसमें प्रमाण है कवि का यह कथन कि—'यक्ष मेघ को देखकर चिरकाल तक चिन्तामग्न रहा' और यह कथन कि—'उस समय श्रावण प्रत्यासन्न था।'

(ग) अथवा यह मान लेना चाहिए कि यक्ष कामातुर था। उसका चित्त विक्षिप्त था। उसने जो कुछ कहा उसमें संख्या पर ध्यान नहीं दिया।

इनमें से जो तृतीय विकल्प है उसका निराकरण मल्लिनाथ ने ही कर दिया है। उन्होंने कहा है—'यदि यक्ष उन्मत्त था तो वह प्रियाप्राणहानिरूपी कल्पित अनिष्ट के लिए भी प्रवृत्त कैसे हुआ। उन्मत्त को तो इष्ट और अनिष्ट का विचार नहीं रहता। और जब उसकी प्रियाप्राणरक्षा में प्रवृत्ति संभव नहीं तो कवि ने मेघदूत ही क्यों बनाया।' उनकी पङ्क्ति है—

ननु उन्मत्तस्य नायं विवेक इति चेन्न, उन्मत्तस्य नानर्थप्रतीकारार्थं प्रवृत्तिरिति सन्देश एव मा भूत्, तथा च काव्यारम्भ एवाप्रसिद्धः। पद्य—२।।

मल्लिनाथ का यह कथन वैज्ञानिक भी है। विरहशप्त कामी विरहावधि की गणना में तो अपेक्षाकृत अधिक जागरूक रहेगा। यक्षी के विषय में तो उसने कहा ही है कि 'वह दिनों की गणना बड़ी तत्परता से कर रही होगी, वह विरह के बीते दिनों को उनकी गणना के लिए रखे गए पुष्पों की गिनती कर इसलिए गिन रही होगी, कि

१. वस्तुतः 'ईषद् वैषम्यं विवक्षितम्'—ऐसा पाठ होना चाहिए।

उसे शाप के बचे महीनों की संख्या विदित हो सके' (मेघ० १०)।

शेष दो पक्षों में से प्रथम पक्ष श्रीमान् श्रीधर वासुदेव सोहोनी को भी मान्य है। उक्त महोदय ने बड़ी ही बारीकी के साथ मल्लिनाथ के अनुसार बढ़ रहें दस दिन मेघ को मार्ग में जिस प्रकार बिताने पड़े यह विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया है। उनके अंग्रेजी लेख 'Meghaduta : Choice of Route' में वे लिखते हैं–

'रामगिरि से मेघ का प्रस्थान अपराह्ण में हुआ, क्योंकि कवि ने इन्द्रधनुष के उछलने का वर्णन पूर्वदिशा में किया है [१]। आम्रकूट तक जाते जाते दिन डूब गया, क्योंकि कवि ने उस पर्वत के कुंजों को 'वनचरवधूभुक्त' कहा है। भोग रात्रि में ही संभव है। इस प्रकार यात्रा का प्रथम अहोरात्र आम्रकूट तक बीतता है। दूसरा अहोरात्र विदिशा के पास नीचगिरि पर बीतता है, क्योंकि कवि यहाँ से प्रस्थान करने पर पुष्पलावी वनिताओं का वर्णन करता है। पुष्पावचय पूर्वाह्ण के मध्य भाग में ही संभव है। तीसरी रात उज्जयिनी की बलभियों पर बीतती ही है। चौथी रात देवगिरि तक आ जाती है। सिद्ध जाति के दम्पतियों द्वारा देवगिरि पर प्रतिष्ठित भगवान् कार्तिकेय की पूजा की जाती है। यह सायंकाल ही संभव है। हिमालय तक पहुँचने में भी मेघ को कुछ दिन और कुछ रातों का समय लगा होगा। हिमालय पर भगवान् शंकर पार्वती के साथ क्रीडाशैल पर विहार करते हैं। निश्चित ही यह सायंकाल का समय रहा होगा। सुरयुवतियों द्वारा स्नान के लिए मेघ को यन्त्रधारागृह बनाने के उल्लेख से उक्त तथ्य प्रमाणित है। ग्रीष्म में स्नानक्रीडा सायंकाल ही होती है। एक अहोरात्र का समय अलका तक पहुँचने में लगा होगा। कवि ने अलका को ज्योत्स्ना से मण्डित बतलाया भी है। यक्षभवन के वर्णन से यह तथ्य बल पाता है। यक्ष का अनुरोध है कि मेघ यक्षी को उसका संदेश रात में सुनाए। सर्वथा मेघ के अलका पहुँचने के दिन दसवाँ दिन ही हो सकता है।'

इस प्रकार इस पक्ष में मेघदर्शन के दिन से प्रबोधिनी तिथि तक चार महिने और दस दिन का समय शेष निकलता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इन दस दिनों का उल्लेख कवि ने नहीं किया। यहाँ विचारना यह है कि यह उल्लेख संदेश के मूलभूत वक्ता स्वयं यक्ष ने नहीं किया अथवा संदेशवाहक वक्ता मेघ ने। सोहोनी जी ने मेघ को वार्ताहर दूत माना है जिसे संदेशवाक्यों में अन्तर करने का अधिकार नहीं रहता। उसका अधिकार संदेशप्रेषक के शब्द यथावत् सुनाने तक सीमित रहता है। इस प्रकार वे १० दिनों का उल्लेख न करने का दायित्व संदेशवाक्य के मूलभूत वक्ता पर मानते हैं। सोचना यह है कि यक्ष ने यह निश्चय कैसे किया कि मेघ को अलका

---

१. 'रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्तात्', पुरस्तात्–पूर्वस्यां दिशि।

पहुँचने में दस ही दिन लगेंगे। इसके अतिरिक्त यदि उसे दस दिन लगने का निश्चय था तो उसने मार्ग में पूरे दस दिन ही क्यों नहीं दिखलाए, केवल कुछ ही दिन और कुछ ही रातों का उल्लेख क्यों किया? देवगिरि से हिमाचल तक वह दिन रात की गणना में मौन क्यों है। हिमालय से अलका में यक्षीदर्शन तक भी उसके द्वारा प्रस्तुत निर्देशों में दिनरात की संख्या स्पष्ट क्यों नहीं है? स्पष्ट ही यक्ष को दस दिन लगने का निश्चय है। इस स्थिति में जब सूचनाप्राप्ति—क्षण अनिश्चित है तब केवल यही संभव हो सकता है कि सूच्य अवधि की गणना सूचनाप्रेषण क्षण से की जाए। अत: मानना यही उचित है कि यक्ष ने चार मास की जिस अवधि का उल्लेख किया उसमें उसने यात्रा में लगने वाला समय नहीं जोड़ा। इससे एक लाभ और संभव है। वह यह कि इससे संदेश के प्रभाव में बल आता है। सुनने वाला सोचता है कि अब सूचित समय में से कुछ कम ही समय शेष है। इससे उसके मन में हर्ष या विषाद की अनुभूति अधिक सान्त्वना या विकलता लेकर उदित होती है। इस प्रकार मार्ग में दस दिन लगने की कल्पना करने से ईषद् वैषम्य के परिहार पर मनस्तोष नहीं होता। स्वयं मल्लिनाथ भी इसे नहीं मानते। दक्षिणावर्तनाथ के समान ही वे भी मेघदर्शनतिथि तक बीते महीनों की संख्या आठ ही मानते हैं। यह तभी संभव है जब अवशिष्ट मासों की संख्या केवल चार मानी जाए।

श्रावण में संदेश सुनाने का जो द्वितीय विकल्प है, उसमें भी प्रथमविकल्प के ही समान पहले से यह मान लेना पड़ता है कि यक्ष को यह निश्चय था कि मेघ श्रावण के पहले नहीं पहुँचेगा। यदि उसे यह निश्चय था तो यह मानना अधिक उचित नहीं कि उसने जिस दिन मेघ पहली बार देखा उसी दिन संदेश भेज दिया। इस अनौचित्य पर इस विकल्प के विद्वानों का ध्यान है भी। अतएव उन्होंने 'चिरं दध्यौ' के 'चिरम्' का अर्थ 'अनेक दिनों तक' किया है और 'प्रत्यासन्ने नभसि' के आधार पर आषाढ के अन्त में इस अन्दाज से, कभी संदेश भेजने की कल्पना की है, जिससे संदेश श्रावण की प्रथम प्रतिपदा को ऐकान्तिक रूप से पहुँच जाए। किन्तु यह योजना प्रकृतविरुद्ध है। 'आषाढस्य ०० मेघं ००० ददर्श' इस उक्ति से स्पष्ट है कि कवि ने इसे एक बार ही घटित प्रतिपादित किया है। यदि संदेश, उतरते आषाढ भेजना है और मेघ का दर्शन आषाढ के प्रथम दिन ही हो गया है तो संदेशप्रेषणतिथि तक इस दर्शन का और भी अनेक बार होना औचित्यलभ्य है। उसके विषय में कवि चुप क्यों है? यदि दर्शन में अनेकत्व कवि को बतलाना है तो उसे 'प्रत्यासन्ने'—श्लोक कुछ इस प्रकार गढ़ना चाहिए—

दर्श दर्श कतिपयदिनान्येष मेघं प्रियायाः
प्रत्यासन्ने नभसि नितरां जीविते संदिहानः।
एकेनैभ्यः स्वकुशलमयीं हारयिष्यन् प्रवृत्तिम्
संपाद्यार्घ्यं कुटजकुसुमैः स्वागतं व्याजहार॥

स्पष्ट ही कवि ने मेघदर्शन में पौनःपुन्य प्रस्तुत नहीं किया। अतः यह मानना संभव नहीं कि मेघ का दर्शन पहली बार किसी और दिन हुआ और यक्ष ने संदेश भेजा प्रिया के पास किसी और दिन। 'चिरम्' का अर्थ 'कुछ देर तक' भी किया जा सकता है। प्रियाजीवितसंशय की बात से यही अर्थ बल भी पाता है। ऐसे संशय की स्थिति में पन्द्रह या बीस दिन तक अथवा पूरे एक माह तक सोचने की कल्पना अस्वाभाविक है। चिरकाल तक सोचविचार का एक कारण यह भी हो सकता है कि यक्ष यह नहीं सोच पाया होगा कि दूतकर्म किसे सौंपा जाए। तदर्थ अपेक्षित वंश, पद और प्रवृत्ति की महत्ता भी यक्ष ने पहले व्यक्तिविशेषों में विचारी होगी, मेघ की ओर उसका ध्यान कुछ समय के बाद पहुँचा होगा।

इस विकल्प से पूर्वोक्त संदेशप्रेषणतिथि से मासगणना के पक्ष को बल मिलता है। यदि मासगणना श्रावण में मेघ के पहुँचने की तिथि से की जाए तो उसमें चार पाँच या बीस दिन कम निकलेंगे। यह विकल्प मल्लिनाथ और दक्षिणावर्त्तनाथ को भी मान्य नहीं है, क्योंकि ये टीकाकार आषाढ के प्रथमदिन तक बीते महिनों की संख्या आठ मानते हैं, जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है। यह तभी संभव है जब संदेश मेघदर्शन के दिन ही भेजा गया हो। इस प्रकार भरतसेन द्वारा प्रस्तुत समाधानों में कोई स्वाभाविकता प्रतीत नहीं होती।

भरतसेन ने कुछ विकल्प पूर्वपक्ष के रूप में भी प्रस्तुत किए हैं। उनमें कुछ पर उन्होंने अरुचि भी व्यक्त की है। ये विकल्प उन्हीं की भाषा में इस प्रकार हैं :—

१. केचित् तु चान्द्रमासगणनया समादधते।
२. केचित् तु आषाढस्य प्रथमदिवसे प्रधानदिवसे पूर्णिमायामित्यर्थः, यत आषाढी पूर्णिमा यस्मिन् मासे स आषाढ इति पूर्णिमयैव आषाढसंज्ञोत्पत्तेः पूर्णिमाया अत्र प्राधान्यमिति वक्ष्यते। तन्न कृत्यम्, कष्टकल्पितत्वात्।
३. केचित् तु प्रथं ख्यातं मेघम् अ—दिवसे विष्णुदिवसे शुक्लैकादश्याम्, किंवा अदिवसे अविद्यमानदिवसे मासावसाने, किंवा अदिवसे रात्राविति व्याचक्षते। एतदपि न कृत्यम्, अनुपादेयत्वात्, कुकवित्वापत्तेः।
४. 'प्रशम' इति पठित्वा अन्तदिवस इति केचित् व्याचक्षते, स पाठः क्वचिदपि न दृश्यते।

इनमें प्रथम विकल्प में जो चान्द्रमास के अनुसार दिनगणना की बात उठाई गई

है उस पर भरतसेन ने कोई आपत्ति नहीं दी। वस्तुतः इस प्रकार की दिनगणना से शापावधि में आ रहे वैषम्य का परिहार नहीं होता। चान्द्र मास में तिथियों के क्षय और आधिक्य का लाभ रहता है। किन्तु यह संभव नहीं कि केवल चार मास में ३०, १५ या १० दिनों की वृद्धि अथवा २० दिनों की कमी आ जाए। शेष पक्षों पर भरत ने स्वयं ही आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं और ऐसी ही अनेक आपत्तियाँ स्वयं भी सोची जा सकती है।

उक्त वैषम्य हटाने के लिए आधुनिक टीकाकारों में श्रीरंजनसूरिदेव ने उनके 'मेघदूत : एक अनुचिन्तन' में एक नई ही कल्पना की है। वे 'प्रथमदिवस' ही मूलपाठ मानते हैं और उसका अर्थ 'शुक्लपंचमी' करते हैं। इसके लिए वे मुहूर्तचिन्तामणि की पाण्डित्यपूर्ण संस्कृत टीका पीयूषधारा का यह वचन प्रमाण रूप से प्रस्तुत करते हैं— **''आ पञ्चम्यास्तु तिथयः कृष्णवत् परिकीर्तिताः''**। अर्थात्—शुक्लपक्ष की प्रथम पाँच तिथियाँ कृष्णवत् कही गई हैं।

श्रीसूरि मल्लिनाथ के अनुयायी हैं। इनके अनुसार प्रबोधतिथि एकादशी ही है। प्रतिपदा को पंचमी मान लेने से पाँच दिनों की कमी आ जाती और पहले जहां बढ़ रहे दिनों की संख्या दस थी, अब पाँच रह जाती है। श्रीसूरि पूर्वोक्त चान्द्रमास की तिथिगणना के आधार पर बढ़ती पाँच तिथियों का भी क्षय मान लेते हैं। इस प्रकार इनकी गणना में शापावधि में दिन नहीं बढ़ते। वस्तुतः कृष्णवत् कहने का अर्थ शुक्लपक्ष की तिथियों का कृष्णपक्ष में गिनना नहीं है। ऐसा मानने पर मास का अन्त पूर्णिमा को न मानकर पंचमी को मानना होगा। इसी प्रकार पूर्णिमा और अमावास्या को एकादशी कहना होगा, तथा एकादशी को षष्ठी। ऐसी स्थिति में प्रबोध यदि षष्ठी को मान लिया जाए तो श्रीसूरि पाँच दिन की वृद्धि और क्षय से भी बच जाते हैं। किन्तु प्रबोध उन्होंने एकादशी को ही माना है जिसे कृष्णवत्त्वपक्ष में प्राचीन दृष्टि से पन्द्रहवीं तिथि कहना होगा। इस पक्ष में पुनः बढ़ते दिनों की संख्या १० ही हो जाएगी, क्योंकि अगले कृष्णपक्ष के प्रारंभिक पाँच दिन न्यायतः शुक्लपक्ष में जुड़ जायेंगे। पाँच ही दिन घटाना हो तो प्रबोध पूर्णिमा को मानना होगा। वस्तुतः श्रीसूरि का यह विकल्प केवल विकल्प है। शास्त्रशुद्धि इसमें शून्यतुल्य है। वस्तुतः कृष्णवत् कहने का अर्थ कृष्णपक्ष की तिथियों के समान है। साम्य है अंधकारबहुलता में। जिस प्रकार कृष्णपक्ष की अंतिम पाँच तिथियाँ अन्धकारबहुल होती हैं उसी प्रकार शुक्लपक्ष की प्रारंभिक पाँच तिथियाँ भी। अन्तर इतना ही रहता है कि एक में चन्द्रोदय अन्त में होता है और दूसरे में आरम्भ में। इस प्रकार दोनों पक्षों की अंतिम और आरम्भिक पाँच पाँच तिथियाँ ठीक उसी प्रकार समान होती हैं जिस प्रकार आरम्भिक और अन्तिम। इस साम्य के आधार पर इनकी गणना गणनाशास्त्र में अन्य पक्ष में नहीं की जाती। शास्त्र में चन्द्र

और सूर्य के उपराग की तिथियों का पूर्णिमा या १५ और अमावस्या या ३० ही कहा जाता है। एकादशी या ११ नहीं।

हमारी दृष्टि में मेघदर्शन और संदेशप्रेषण की तिथि एक ही थी और वह थी हरिशयनी। आषाढमास की यही तिथि उसी प्रकार प्रमुख तिथि है जिस प्रकार कार्तिक मास की प्रबोधतिथि। प्रथमदिवस शब्द के प्रथम शब्द का अर्थ चारित्र्यवर्धन के समान 'प्रवर' किया जा सकता है और शापान्त के लिए अवशिष्ट चार मास की अवधि को ध्यान में रखते हुए इसे आषाढ शुक्लपक्ष की एकादशी माना जा सकता है। इसी एकादशी और द्वादशी की सन्धि में भगवान् का शयनपर्व आता है। प्रसिद्ध चातुर्मास्य का आरम्भ अनेक पुण्यव्रतों के लिए इसी तिथि से संपूर्ण भारत में आज भी माना जाता है। शब्दकल्पद्रुमकार आदि ने चातुर्मास्य के आरम्भ की व्यवस्था इसी दिन से उसी प्रकार दी है जिस प्रकार अन्त की व्यवस्था प्रबोधनी के दिन से। कालिदास ने 'तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी नीत्वा मासान्' कहकर जब यह बतला दिया है कि प्रबोधनपर्व से प्रारम्भ शाप के आठ मास बीत गए थे और यह भी बतला दिया है कि केवल चार मास शेष थे तब 'प्रथमदिवस' का अर्थ एक–मात्र चातुर्मास्य का प्रथमदिन ही किया जा सकता है। ऐसा मानने पर 'आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम् ०० ददर्श' का अन्वय होगा 'प्रथमदिवसे आषाढस्य मेघम् आश्लिष्टसानुम् ००० ददर्श'। अर्थ होगा 'चातुर्मास्य के आरम्भ के दिन यक्ष ने मेघ को रामगिरि की चोटी का आलिंगन किए हुए देखा। हमने 'मेघदूते तिथिनिश्चयः' तथा 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' नामक अपने लेखों में इस पंक्ति का अन्वय 'आषाढस्य मेघं प्रथमदिवस आश्लिष्टसानुं ददर्श' भी किया था, अर्थात् 'यक्ष ने आषाढ का मेघ देखा जिसने पहली बार सानु का आश्लेष कर रखा था।' इस अन्वय में अस्थानपदत्व दोष आता था जिसका निराकरण ठीक से नहीं हो पाया था। उक्त अन्वय में ऐसा कोई दोष नहीं रहता। प्रथमदिवस को चातुर्मास्य का प्रथमदिवस इस अर्थ में प्रयुक्त मानने पर निहतार्थत्व दोष की संभावना व्यक्त की जा सकती है। इसी प्रकार विरुद्धमतिकृत्त्व दोष सोचा जा सकता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' इस पदक्रम से सामान्यतः आषाढ के आगे आई संबन्धसूचक विभक्ति का अर्थ प्रथमदिवसपदार्थ से ही अन्वित होता है और प्रथमदिवस का अर्थ प्रतिपद् निकलता है। 'चातुर्मास्य का प्रथमदिन' यह अर्थ उक्त विपरीत अर्थ से दब जाता है। दोष की यह संभावना कवि की अभिव्यक्ति में नहीं, हमारे सांस्कृतिक ज्ञान में की जानी चाहिए। हमारे टीकाकारों को यह विदित नहीं था कि हमारे यहां मेघ के प्रथमबार, दर्शन का भी एक दिन निश्चित था। वह था यही चातुर्मास्य का प्रथम दिन हरिशयनी तिथि। वराहपुराण में हरिशयन के दिन भगवान् के शयन की प्रार्थना करते हुए कहा जाता है—

पश्यन्ति ये ध्यानपरा घनाभं त्वामाश्रिताः पूज्यमानं महिम्ना।
निद्रां भवान् भजतां लोकनाथ वर्षास्विमं पश्यतु मेघवृन्दम्।।

(१२४.४५ कलकत्ता संस्करण)

उत्तरार्ध का अर्थ है– "हे भगवान् आप वर्षा के इन मेघों का दर्शन कीजिए और योगनिद्रा स्वीकार कीजिए।"[१] पूर्वार्द्ध में स्मरणालंकार द्वारा मेघदर्शन द्वारा तत्तुल्य भगवान् घनश्याम का स्मरण भक्तों में उपनिबद्ध किया गया है और उसमें सादृश्य का एक हेतु महिमा द्वारा पूज्यमानत्व भी दिया है। उसका अर्थ है– "भगवन् आप अपनी महिमा से पूज्यमान हैं और जो आपके आश्रित हैं वे आज ध्यान लगाने में लगे हैं और मेघों के ही समान आपका दर्शन कर रहे हैं।" मेघ भी महिमा से ही पूज्य हैं। पूर्वमेघ के "त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति" आदि पद्यों से यह तथ्य स्पष्ट है। वेदविज्ञान से स्पष्ट है कि मेघ भी श्रीकृष्ण ही हैं। कालिदास ने भी भगवान् विष्णु पर मेघ का रूपक करते हुए रघुवंश में लिखा है–

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे।। १०.४८।।

"रावणरूपी अवर्षण से क्लान्त देवरूपी सस्य को वाणी के इस अमृत से सींचकर वह कृष्णमेघ तिरोहित हो गया।" वस्तुतः मेघ का दर्शन भगवान् विष्णु का ही भौतिक दर्शन है। हरिशयनपर्व पर मेघदर्शन ही नहीं उन कुटजपुष्पों का उल्लेख भी वराहपुराण में ही मिलता है जिनसे यक्ष ने मेघ का स्वागत किया था–

कदम्ब–कुटजश्चैव धवकोर्जुनकस्तथा।
एभिरभ्यर्चनं कुर्यात् विधिदृष्टेन कर्मणा।। १२४.४३।। कलकत्ता संस्करण

अर्थात् "हरिशयन के समय भगवान् की पूजा कदम्ब और कुटज, धवक और अर्जुन से करें।" भगवान् विष्णु की कुटज से पूजा और मेघ का कुटज पुष्पों से स्वागतार्घ्य मूलतः एक और अभिन्न हैं। हो सकता है जिस रामगिरि पर यक्ष था, उस पर प्रबोध और शयन दोनों के पर्व उल्लासपूर्वक मनाए जाते रहे हों और भक्त लोग भगवान् तथा मेघ दोनों की पूजा कुटजपुष्प से कर रहे हों। इस विष्णुधाम में यक्ष का ध्यान इसी कारण मेघ की ओर गया हो और उसने अपनी प्रियैकतानता खण्डित कर

---

१. शब्दकल्पद्रुम में यह श्लोक इस प्रकार है–"पश्यन्तु मेघानपि मेघश्यामं ह्यपागतं सिच्यमानं महीमिमाम्। निद्रां भगवान्०"। इसी कोष में प्रबोधनी को भी मेघदर्शन के लिए ब्रह्मपुराण का यह वचन उद्धृत है–

मेघा मता निर्मलपूर्णचन्द्रः शारद्यपुष्पाण्यपि लोकनाथ।
अहं ददानीति च पुण्यहेतोर्जागृष्व जागृष्व च लोकनाथ।।

भगवन्! मेघ जा चुके हैं, जागिए, जागिए !

मेघ का दर्शन किया हो। उत्सव के समय प्रियजन का स्मरण स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। फलतः **"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्"** अथवा **"रम्यं द्वेष्टि"** शाकुन्तल के इन प्रसिद्ध वचनों से प्रमाणित प्रिया का चिरकाल तक ध्यान उसे लग गया हो।

महाकवि कालिदास की सांस्कृतिक प्रतिभा विप्रलम्भ कविता में चातुर्मास्य को पृष्ठभूमि में लेकर उभरी हो इसमें आश्चर्य ही क्या, जब उसने इस कविता में मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम और माता विदेहपुत्री की लीलाभूमि रामगिरि को धरातल के रूप में अपनाया है। कवि के यक्ष ने यदि विरह का एक वर्ष बिताने के लिए रामगिरि को उपयुक्त समझा तो शाप के शेष चार मास को बिताने के लिए वह चातुर्मास्य के प्रसिद्ध व्रत को उपयुक्त समझे यह सहज ही मान्य है। इससे शाप की सफलता भी लक्षित होती है। विदित होता है कि यक्ष के जीवन में प्रबोधपर्व जैसे सांस्कृतिक अवसरों के प्रति अब प्रमाद नहीं है। वह चातुर्मास्य के लिए भी जागरूक है। उसे वह सीख मिल चुकी है जिसके लिए वह प्रिया से दूर किया गया था। अब अलका भी उसका स्वागत करेगी।

महाकवि कालिदास अपनी पुराणनिष्ठा के लिए उसी प्रकार प्रसिद्ध हैं जिस प्रकार उपनिषन्निष्ठा के लिए भवभूति। उनके काव्यों में न केवल पौराणिक आख्यान ही, अपितु उनके विविधतामय रूप भी मिलते हैं। ऐसी स्थिति में पुराणों में प्रसिद्ध हरिशयनी के मेघालोक पर कवि की दृष्टि यदि रही हो तो कोई असमंजस नहीं। शापमुक्ति के लिए तो उन्होंने प्रबोधपर्व को चुना ही है। यदि प्रबोध पर उनकी दृष्टि है और वे चातुर्मास्य की बात करते हैं तो हरिशयनी पर उनकी दृष्टि न हो ऐसा संभव नहीं। निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध है कि हरिशयन का यह पर्व भी प्रबोधपर्व के समान ही एकादशी और द्वादशी की सन्धि में आता है—

एकादश्यां जगत्स्वामिशयनं परिकल्पयेत्।
शेषाहिभोगपर्यङ्कं कृत्वा संपूज्य केशवम्।।
निशि स्वापो दिवोत्थानं सन्ध्यायां परिवर्तनम्।
अन्यत्र पादयोगे तु द्वादश्यामेव कारयेत्।। शब्दकल्पद्रुम।।

इससे आषाढ शुक्ल के हरिशयनपर्व से कार्तिक शुक्ल के प्रबोधपर्व तक की अवधि पूरे चारमास की ठहरती है। कोई वैषम्य नहीं आता। विशेषता यह है कि इस चातुर्मास्य के रूप में छिपा हुआ वह चातुर्मास्य सामने आ जाता है जो भारतीय जीवन की सांस्कृतिक इकाई है, जिसका महत्त्व शतपथ से लेकर पौराणिक आख्यानों तक और गृहस्थ से लेकर विरक्त तक को समान रूप से मान्य है।

इस प्रकार ''आषाढस्य प्रथमदिवसे'' में मूलपाठ 'प्रथमदिवसे' ही मान्य है और उसके प्रथमशब्द का अर्थ चातुर्मास्य का प्रथम दिन। यक्ष ने मेघ इसी दिन देखा ओर शापावसान के अन्तिम चार मास इसी दिन से आरम्भ होते हैं जो हरिशयनी से प्रबोधनी तक के चातुर्मास्य से अभिन्न हैं। इससे स्पष्ट है कि यक्ष को शाप प्रबोधनपर्व पर मिला था और उसका कारण प्रबोधपर्व से संबन्धित प्रमाद ही था।



उद्भटकृत कुमारसंभव[१]

महाकवि कालिदास के प्रथम महाकाव्य का शीर्षक भारतीय कवियों को पर्याप्तमात्रा में रुचा। आठवीं शताब्दी के आचार्य उद्भट[२] ने 'कुमारसंभव'—शीर्षक से ही एक स्वतन्त्र काव्य बनाया और अपनी काव्य—शास्त्रीय कृति **'काव्यालङ्कारसार'** में उसका एक ९५ पद्यों का पूरा सर्ग उदाहरण के रूप में उद्धृत किया। इसमें आई कथा आरम्भ होती है सती के शरीरत्याग से। इसका अन्त होता है वटुवेषधारी शिव के द्वारा पार्वती के तपस्या से निवारण के साथ। इस कथासूत्र को उद्भट ने अपने ग्रन्थ में इस प्रकार अनुस्यूत किया है कि ९५ श्लोकों में एक पूरा सर्ग ही उपस्थित दिखाई देता है [३]। इन श्लोकों में जो काव्यार्थ उपस्थित हुआ है उसका कालिदासरचित कुमारसंभव के काव्यार्थ से बहुत अधिक साम्य है [४]। इसे काव्यशास्त्र में संवाद कहा गया है।

ध्वनिप्रस्थान के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने संवाद की तीन कोटियाँ गिनाई हैं —

१. प्रतिबिम्बतुल्य
२. आलेख्यप्रख्य और
३. तुल्यदेहिवत्

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत् पुनः प्रतिबिम्बवत्
आलेख्याकारवत्
तुल्यदेहिवच्च
शरीरिणाम् ।। ध्व० ४.१३।।

राजशेखर ने इनको स्पष्ट करते हुए लिखा—

१. इस नाम के तीन काव्य संस्कृत में मिलते हैं। दो ये और एक जैनकाव्य।

२. उद्भट जयापीड के मन्त्री थे (राजतरंगिणी ४.४९५)। जयापीड का शासनकाल था ई० ७७९ से ८१३।

३. उद्भट के काव्यालङ्कारसार पर प्रतीहारेन्दुराज ने 'लघुविवृति' लिखी और सूचना दी कि काव्यालङ्कारसार में उदाहरण रूप से उद्भट ने स्वरचित 'कुमारसंभव' का एक अंश प्रस्तुत किया है। काव्यालङ्कारसार १.१४

४. उदाहरणों की संख्या 'काव्यालङ्कारसार' के अंग्रेजी टीकाकार वनहट्टी ने ९४ बतलाई है। उद्धृत श्लोकों में घटनाक्रम पर ध्यान रखा गया है तथापि ८, ३३ और ३५ श्लोंकों में क्रम टूटा सा लगता है। प्रथम को पढ़ा जाना चाहिए पंचम, द्वितीय को ३२ और तृतीय को ३५वाँ।

१. प्रतिबिम्बवत् : **अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचना परं यत्र।**
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्।।
जहाँ वक्तव्य एक ही हो, केवल वाक्यरचना में हो अन्तर वह।

२. आलेख्यवत् : **कियतापि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद् भाति।**
तत् कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम्।।
जिसमें थोड़े से संस्कार से काव्यार्थ भिन्न जैसा लगे वह।

३. तुल्यदेहिवत् : **विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात्।**
तत् तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽपि।।
नितान्तसादृश्य से भेद रहने पर भी अभेद प्रतीत होना।

—(काव्यमीमांसा अध्याय—१२)

संवादों की हेयोपादेयता पर आनन्दवर्धन ने समीक्षा दी—

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत् कविः।। ध्वन्यालोक ४.१३।।

'उपर्युक्त तीनों प्रकार के संवादों में जो प्रथम 'प्रतिबिम्बतुल्य' संवाद है उसकी आत्मा, आन्तररचना में कोई अन्तर नहीं रहता, उसके बाद के संवाद 'आलेख्याकार'—वत् संवाद में आत्मा=मौलिकता बहुत ही कम होती है और जो तृतीय संवाद है उसकी अर्थयोजना होती है प्रसिद्ध। कवि इनमें से कोई न कोई संवाद लेकर ही चलता है।'

कारिका द्वारा प्रस्तुत तीनों संवादों पर आनन्दवर्धन ने इस प्रकार वृत्ति भी लिखी—

१. तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बकल्पं काव्यवस्तु परिहर्त्तव्यं सुमतिना, यतः तद् अनन्यात्म तात्त्विकशरीर(रि)शून्यम्।

२. तदनन्तरम् आलेख्यप्रख्यम् अन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम्।

३. तृतीयं तु विभिन्नकमनीयशरीरसद्भावे सति ससंवादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना, न हि शरीरी शरीरिणाऽन्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम्।'

तृतीय वृत्ति पर आनन्दवर्धन ने पुनः कारिका दी—

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्।। ध्व० ४.१४।।

'आत्मा अलग अलग हों, तब भी काव्यवस्तु अच्छी लगती है, भले ही प्राचीन स्थिति की उसमें छटा हो, जैसे शशितुल्य मुख'।

यह हुई कथा वाक्यार्थों के संवाद की, जहाँ तक पदार्थसंवाद का संबन्ध है उनके भेदों की गणना न कर आनन्दवर्धन ने केवल हेयता और उपादेयता की ही चर्चा की।

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति।। ध्व० ४.१५।।

यदि काव्यवस्तु नई हो तो उसकी रचना पुरानी भी हो सकती है अक्षरादि की रचना के समान। उसमें कोई दोष नहीं। इसी प्रकार—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति।। ध्व० ४.१६।।

'कुछ भी हो, किन्तु यदि संसार को वह प्रिय लगता है तो उसे प्रस्तुत करते हुए कोई भी सुकवि निन्दापात्र नहीं बनता भले ही वह प्राचीन रचना से मेल खाता हो।

प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा
न वा/सादः कर्त्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।
परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयतियथेष्टंभगवती।। ध्व० ४.१७।।

'कवियों को रचना करते जाना चाहिए जिनमें अनेक प्रकार के रस सुलभ हों। अपनी निर्दोष रचना पर कवि को न विवाद करना चाहिए और अवसाद का अनुभव। बात यह है कि जो कवि सुकवि होता और अन्य किसी की रचना को अपनाना नहीं चाहता उसको स्वयं भगवती सरस्वती यथेष्ट रचना का लाभ देती है।'

यह हुई संवाद की बात। अब कालिदास और उद्‌भट के कुमारसंभवों में प्राप्त संवादों पर ध्यान दें।

भावसंवाद

१. उद्‌भट भगवती पार्वती की तपःसमाधि के समय की शरीरस्थिति पर कहते हैं —

पद्मं च निशि निश्श्रीकं दिवा चन्द्रं च निष्प्रभम्।
स्फुरच्छायेन सततं मुखेनाधः प्रकुर्वतीम्।।

पद्म जो है वह रात में श्रीहीन जो जाता है और चन्द्र दिन में हो जाता है निष्प्रभ। इन दोनों को पार्वती दिन और रात दोनों में कान्ति बिखेरते मुखमण्डल से तिरस्कृत कर रही थी। काव्यालङ्कारसार उदाहरण ३९

इस पद्य के पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों कालिदास के निम्नलिखित पद्य के प्रतिबिम्ब से लग रहे हैं —

'चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः।। कुमार० १.४३।।

'श्री जब चन्द्र में पहुँचती है तो पद्म के गुणों से दूर हो जाती है और जब पहुँचती है पद्म में तो दूर हो जाती है चन्द्र की कान्ति से। उमा के मुख में आने पर उसे (चन्द्र और पद्म) दोनों में एक साथ रहने का सुख मिला।

एक ओर अनुष्टुप् और दूसरी ओर उपजाति। इस प्रकार दोनों कवियों के वक्तव्य के विस्तार को समान क्षेत्र नहीं मिला। कालिदास ने सौन्दर्यवर्णन में बाजी मार ली लक्ष्मी को लोला कहकर। वह न तृप्त हुई केवल पद्म से और न केवल चन्द्र से, किन्तु उसे अतृप्ति खल रही थी और टकटकी लगाए थी किसी ऐसे सौन्दर्यधाम पर जो उसे तृप्ति प्रदान कर सकता। उसकी इच्छा पूरी हुई पार्वती के मुख में आकर।'

२. उद्भट पार्वती के तप की कठोरता की प्रशंसा में कहते हैं—

शीर्णपर्णाऽम्बु—वाताश—कष्टेऽपि तपसि स्थिताम्।
समुद्वहन्ती नापूर्वं गर्वमन्यतपस्विवत्।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ४०

पार्वती को गर्व नहीं जैसा कि अन्य तपस्वियों में देखा जाता है यद्यपि वे कठोर तप में निरत थीं। वे स्वयं झड़े पत्ते खातीं, उन्हें भी छोड़ केवल पानी पीकर रहतीं और उससे भी आगे केवल वायुभक्षण कर।।

यह वर्णन कालिदास के निम्नलिखित पद्यों के संक्षेप से अधिक कुछ नहीं—

स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ।। कुमार०५.२८।।
मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम् ।
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ।। कुमार० ५.२१।।

तप की पराकाष्ठा होती है स्वयं गिरे पत्ते खाकर रहना। पार्वती ने वह भी छोड़ दिया, इसलिए उस प्रियंवदा को पुराविद् 'अपर्णा' कहते हैं।।
इस प्रकार के व्रतों से अपने मृणालिकाकोमल शरीर को क्षीण बना रही पार्वती ने तपस्वियों द्वारा अपने कठोर शरीरों से किए तप को नीचा दिखलाया।।

३. कालिदास पार्वती के स्मित का वर्णन करते हुए लिखते हैं— *'पुष्प यदि किसलय पर रखा हुआ हो या मुक्ताफल खिले मूँगे पर तो अनुकरण कर सकते थे पार्वती के लाल ओष्ठ पर खिले स्मित हास का'* —

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रोष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य।। कुमार० १.४४।।

किन्तु कालिदास इस छटा को भूल जाते हैं जब पार्वती स्फटिक–माला से जप करती हैं और स्फटिक नखों की लाल लाल रश्मियों से मिश्रित हो जाते हैं –

अथाग्रहस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ समर्पयन्ती स्फटिकाक्षमालिकाम्।
कथञ्चिदद्रेस्तनया मिताक्षरं चिरव्यवस्थापितवागभाषत।। कुमार० ५.६३।।

उद्भट इस छटा को भी अपना लेते और लिखते हैं –

पतेद् यदि शशिद्योतच्छटा पद्मे विकासिनि।
मुक्ताफलाक्षमालायाः करेऽस्याः स्यात् तदोपमा।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ४६

'यदि चन्द्रमा के प्रकाश की छटा विकसित पद्म पर पड़े तो वह कर सकेगी तुलना पार्वती के हाथ में रखी मुक्ताफल की माला की'।

यहाँ कालिदास और उद्भट दोनों ही अतिशयोक्ति के 'यद्यर्थोक्तिभेद' अपना कर चले, किन्तु उद्भट एक डग आगे बढ़ते दिखाई दिए जब 'असंभव' घटना को अपना कर चले, पद्म में चन्द्रप्रकाश का रहना असंभव ही है। इससे दोनों की समता का असंभव होना भी द्योतित हुआ। यह संवाद तुल्यदेहिवत् कोटि का है अतएव अधिक स्पृहणीय है।

४. कालिदास ने पार्वती के पञ्चाग्नि तप का वर्णन इस प्रकार किया है–

शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत।।
तथातितप्तं सवितुर्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ।
अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम्।।

–(कुमार० ५.२०–२१)

'ग्रीष्म ऋतु आई तो पार्वती ने चार धधकती अँगीठियों के बीच बैठकर सूर्य पर टकटकी लगाई। सूर्य की आँखों को चकाचौंधी में डाल देने वाली प्रभा को उसने जीत लिया था। सूर्य की किरणों से उतना तपा उस (पार्वती) का मुख तो वैसा ही लग रहा था जैसा वहीं खिला (प्रस्तुतोभयोपमा) कमलपुष्प, परन्तु इस मुख के सुदीर्घ नेत्रों में धीरे धीरे श्यामता आती गई (जो कमलपुष्प में बैठे श्यामवर्ण के भ्रमर सी प्रतीत हो रही थी)।।'

उद्भट ने व्यञ्जना से व्यक्त इस सौन्दर्य को कुछ बिगाड़कर इस प्रकार प्रस्तुत किया–

अस्याः सदार्कबिम्बस्थदृष्टि—पीतातपैर्जपैः।
श्यामिकाङ्केन पतितं मुखे चन्द्रभ्रमादिव।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ४९

पार्वती ने जप किया सूर्यबिम्ब पर निर्निमेष दृष्टि से (सूर्य का) आतप पीपीकर। उसके मुख में चन्द्रबिम्ब का कलङ्क भी आ गिरा मानों चन्द्र का भ्रम हो गया था उसे (पार्वती के मुख में)।।

यहाँ न ग्रीष्म ऋतु है और न चहुँओर धधकती अँगीठियाँ। निर्निमेष दृष्टि से सूर्यातप—पान इसमें नई सूझ है। उसका परिणाम श्यामवर्ण कालिदास के यहाँ केवल अपांगों तक सीमित था और स्मरण करा रहा था कज्जल का जिससे नेत्रों का सौन्दर्य व्यञ्जित हो रहा था। उद्‌भट ने इस परिणाम (श्यामता) को उत्प्रेक्षा द्वारा मुख में गिरा दिखलाया तो लगा कि पार्वती का पूरा चेहरा श्याम हो गया, यद्यपि कलंक का स्मरण कर उसे कवि ने मुख में यत्र तत्र अर्थात् नेत्र आदि में ही सीमित सूचित किया। कालिदास ने सूर्यरश्मियों के ताप को बतलाया हेतु नेत्रों में श्यामत्व आने में। तदर्थ उद्‌भट ने उत्प्रेक्षा अपनाई और दो दो उत्प्रेक्षाएँ १. एक तो मुख पर चन्द्र के भ्रम की और २. दूसरी उसमें कलंक के गिरने की। परिणामतः उत्प्रेक्षा की सहायता से अलङ्कारत्व आया साङ्गरूपक में। स्वभावोक्ति यहाँ अधिक उपयुक्त थी जिसे कालिदास ने अपनाया।

५. कालिदास की पार्वती मृगों को जंगल में उत्पन्न बीज अपनी अंजलि में ले लेकर खिलाती और लालती पालतीं। वे पार्वती पर इतना विश्वास करने लगे कि पार्वती सखियों के सामने भी उन (मृगों) के नेत्रों से अपने नेत्रों की नाप कर लेतीं, यह जानने हेतु कि बड़े कौन हैं मृगनेत्र या पार्वतीनेत्र। सखियाँ इस प्रतियोगिता में साक्षी बन जातीं। —

अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात् पुरः सखीनाममिमीत लोचने।। कुमार०५.१५।।

वरतन्तु महर्षि के तपोवन में भी मृगपोतों की नाभिनाल मुनिजनों की गोद में ही गिरती है (रघु० ५.७) और महर्षि कण्व के आश्रम का दीर्घापाङ्ग मृगपोतक शकुन्तला के द्वारा पुत्रवत् पाला गया है (शाकु० ४.१४)। इस संपूर्ण भावधारा को उद्‌भट इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

इयं च सुतवाल्लभ्यान्निर्विशेषस्पृहावती।
उल्लापयितुमारब्धा कृत्वेमं क्रोड आत्मनः।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ५२

मृग के छौने को पार्वती पुत्र का स्नेह देतीं और खुद की गोद में लेकर उनका उल्लापन करतीं। यहाँ उल्लापन बातचीत करते हुए लाड़ प्यार करना ही हो सकता है निर्विशेष के स्थान पर सविशेष—शब्द यहाँ अधिक उपयुक्त होता। अधिक अच्छा होता यदि 'सुतवाल्लभ्यात्' की विभक्ति हटा दी गई होती और अगले पद के साथ उसका समास कर दिया होता —'सुतवाल्लभ्यनिर्विशेष' इस प्रकार। अब निर्विशेष शब्द ही उपयुक्त ठहरता। स्पृहा के भी स्थान पर यहाँ 'कृपा' शब्द अधिक उपयुक्त ठहरता।

६. पार्वती कोमल शरीर से कठोर तप करने जा रहीं थी। कालिदास की भाषा में यह था शिरीषपुष्प पर पक्षी का पदार्पण। माता मेना यही कहती हैं पार्वती से—

मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से! क्व च तावकं वपुः।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः।। कुमार०५.४।।

'पुत्रि ! वर प्राप्त करने के लिए कुछ करने की तुझे क्या जरूरत। घर में ही हैं ढेर सारे देवता, जिसे चाहे चुन ले। अरे, कहाँ तप और कहाँ तेरा सुकुमार शरीर। कोमल शिरीषपुष्प भौंरे का बैठना तो सह सकता है, किसी भारी भरकम पक्षी का नहीं।

इस विषमता को उद्भट भी अपह्नुति द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

एतद्धि न तपः सत्यमिदं हालाहलं विषम्।
विशेषतः शशिकलाकोमलानां भवादृशाम्।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ६९

'यह तप तप नहीं है, यह तो हालाहल विष है। विशेषकर तुम जैसी शशिकला सी कोमल सुन्दरियों के लिए।।'

७. कालिदास के कुमारसंभव में इस विषम स्थिति पर वटुवेश में पहुँचे शिव पार्वती से कुछ पूछना चाहते हैं —

प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां सन्नतगात्रि! संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते।।
अतोऽत्र किञ्चिद् भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने! न चेद् रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हति।।

—कुमार० ५.३९—४०।।

पार्वति! तुमने मेरा इतना अधिक सत्कार कर दिया। मुझे पराया मत समझो अब। मनीषिजन तो सज्जनों की तनिक सी बातचीत को ही मान लेते हैं संगति।।

इसलिए मैं कुछ पूछना चाहता हूँ इसलिए भी कि तुम ठहरी बहुत अधिक

सहनशील और मैं चपल ब्राह्मण। ब्राह्मण होने से मैं ऐसी चपलता कर भी सकता हूँ।

उद्भट का वटु भी पार्वती के कोमल शरीर से कठोर तप करने पर व्यथित है और वह 'आक्षेपालङ्कार' की विधा में पूछने का उपक्रम करता है —

इत्थं विसंस्थुलं दृष्ट्वा तावकीनं विचेष्टितम्।
नोदेति किमपि प्रष्टुं सत्वरस्यापि मे मनः॥

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ७१

इस प्रकार की तुम्हारी चेष्टा मुझे ठीक नहीं लग रही है तथापि उत्सुक होते हुए भी मेरा मन कुछ भी पूछने का साहस नहीं कर पा रहा है।

८. कालिदास का वटु पार्वती से तप का कारण पूछता और कहता है—

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपःफलं स्यात् किमतः परं वद॥ कुमार०५.४१॥

तप किया जाता है ऊँचे कुल में जन्म प्राप्त करने के लिए, (तत्रापि) सुन्दर शरीर प्राप्त करने के लिए (तत्रापि) और ऐश्वर्यसुख के लिए। तुम्हें ये तीनों ही प्राप्त हैं। तुम्हारा जन्म हुआ प्रथम प्रजापति के कुल में, उसमें भी शरीर ऐसा अच्छा मिला कि लगता है तीनों लोकों का सौन्दर्य इसी में आ जुटा है। ऐश्वर्यसुख खोजने की भी कोई आवश्यकता नहीं (तुम्हारे पिता इतने बड़े ऐश्वर्यशाली हैं)। वय भी नवीन है। अतः तप से और क्या प्राप्त करना शेष है?

उद्भट इस विस्मयोक्ति को विशेषोक्तिविधा में इस प्रकार बदलते हैं —

महर्धिनि कुले जन्म, रूपं, स्मरसुहृद् वयः।
तथापि न सुखप्राप्तिः कस्य चित्रीयते न धीः॥

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ७०

'जन्म अतीव समृद्ध कुल में, रूप, वय कामदेव का मित्र (यौवन) तब भी सुख की प्राप्ति नहीं तो किसकी बुद्धि में आश्चर्य नहीं होगा।'

९. पार्वती का सौकुमार्य चित्रित करते हुए कालिदास ने लिखा—

क्लमं ययौ कन्दुकलीलयाऽपि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।
ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च॥ कुमार०५.१९॥
महार्हशय्यापरिवर्त्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले॥ कुमार०५.१२॥

जो (पार्वती) गेंद खेलते खेलते क्लान्त हो जाती थी उसने मुनियों के

चरित का पालन कर दिखाया। निश्चित ही उसका शरीर काञ्चन के कमल से निर्मित था जिसमें मृदुता भी थी और सार भी।

जो महार्हशय्या पर सोती और करवट लेने में गिरे अपने केश के पुष्पों से भी कष्ट का अनुभव करती वही पार्वती स्थण्डिल (ऊँची भूमि) पर बैठी बैठी सो लेती थी बाहुलता पर सिर रखकर।

उद्भट भी इसी तथ्य को अतीव सुकुमार रूप से इस प्रकार चित्रित करते हैं—

त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते।
मालती—शशभृल्लेखा—कदलीनां कठोरता।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ७३

ऐसे किस व्यक्ति के चित्त में मालती, चन्द्रकला और कदली कठोर नहीं लगतीं जिसने जान रखी है तुम्हारे अंगों की मृदुता।।

१०. पार्वती की कायकान्ति कहाँ और मुनिवेश कहाँ ! दोनों बिलकुल वेमेल। इसी तथ्य को कालिदास और उद्भट दोनों समान रूप से, एक प्रकार से प्रकाशित करते हैं—

किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते।। कुमार० ५.४४।।

यौवनकाल में तुमने आभरणों को हटाकर वृद्धावस्था में शोभा देने वाला वल्कल क्यों धारण कर रखा है? खिले चन्द्रतारों वाली रात्रि यदि प्रदोषकाल में ही अरुणकाल की रात्रि बनना चाहे तो बोलो कैसा लगेगा?

उद्भट भी इसी स्वर में स्वर मिलाते और लिखते हैं —

योगपट्टो जटाजालं तारवी त्वङ् मृगाजिनम्।
उचितानि तवाङ्गस्य यद्यमूनि तदुच्यताम्।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ७४

छायेयं तव शेषाङ्गकान्तेः किञ्चिदनुज्ज्वला।
विभूषाघटनादेशान् दर्शयन्ती दुनोति माम्।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ९५

'योगपट्ट, जटाजाल, वृक्ष की छाल और मृगाजिन' यदि तुम्हारे अंगों के

---

१. अत्र प्रतीहारेन्दुराजस्य लघुविवृतिः—अत्र विजिगीषुचरणविन्यासास्पदभूता ये कण्ठादयस्तदत्र शिष्टानामङ्गानां यासौ कान्तिः दीप्तिः तस्या अनुज्ज्वला मलिना यासौ छाया शोभा सा लिङ्गम्। तत्सामर्थ्याच्च भूषाविन्यासप्रदेशानां भूषणसम्बन्धोऽतीतोऽनुमीयते।।

अनुरूप हों तो बतलाओ? तुम्हारे अन्य अंगों की यह किञ्चित् अनुज्ज्वल छाया बतला रही है और पीड़ा दे रही है मुझे कि यहाँ पहले तुमने विभूषण पहन रखे थे।।

११. कालिदास अर्थान्तरन्यास के सहारे चारुता का फल प्रियप्रेम बतलाते हैं –

(i) **प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता** (कुमार० ५.१)

(ii) **स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः** (कुमार० ७.२२)

प्रिय और प्रिया के बीच अन्योन्य प्रेम ही है चारुता का फल।

स्त्रीजाति के वेष का फल क्या? यही कि उसे 'प्रिय' की दृष्टि कृतार्थ कर दे।

उद्भट कालिदास के अन्वय को व्यतिरेक में बदलते और [२]निदर्शनाविच्छित्ति में कहते हैं –

विनोचितेन पत्या च रूपवत्यपि कामिनी।
विधु—वन्ध्य—विभावर्याः प्रबिभर्त्ति विशोभताम्।।

'कामिनी भले ही रूपवती हो, किन्तु पति अनुरूप न हो तो वह वैसी ही फीकी दिखाई देती है जैसी चन्द्र से रहित रात्रि।

१२. कालिदास के वटुकी दृष्टि में सुन्दरी कन्याओं द्वारा अपने लिए वर की खोज करना वैसे ही उल्टा काम है जैसे रत्न के द्वारा ग्राहक की खोज करना –

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते तु तत्।। कुमार०५.४५।।

उद्भट का भी वटु कुछ और कठोर शब्दों में यही अभिप्राय व्यक्त करता और कहता है–

इत्थं स्थितिर्वरार्था चेन्मा कृथा व्यर्थमर्थिताम्।
रूपेण ते युवा सर्वः पादलग्नो हि किङ्करः।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ७९

यह सब यदि वर के लिए हो तो तुम खुद याचना क्यों करती हो। तुम्हारा जो रूप है उससे तो सभी युवक तुम्हारे पैरों में पड़े किङ्कर बने हुए हैं।

१३. कालिदास पार्वती की सखी के द्वारा उनका परिचय दिलाते हैं –

हमारी यह सखी श्रीशाली इन्द्र आदि को छोड़कर उस शिव को पति के रूप में प्राप्त करना चाहती है जो रूप पर आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि वे मदन को जला चुके हैं और उनका धनुष पिनाक हाथ में ही रखे रहते हैं–

---

२. उद्भट के ग्रन्थ में निदर्शना के लिए विदर्शना—शब्द मिलता है।

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति।।

इसका परिणाम भी कालिदास इस प्रकार चित्रित करते हैं —

तभी से यह अपने पिता के घर मदनातुर है, इसके अलक धूसर हो गए हैं ललाट के चन्दन से। यह तुषार–शिलाओं पर भी शान्ति नहीं पा रही है —

तदाप्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसंघातशिलातलेष्वपि।। कुमार०५५.५५।।

उद्‌भट उक्त दोनों अभिप्रायों को एक अनुष्टुप् में इस प्रकार संकलित करते हैं–

हरेणेव स्मरव्याधस्त्वयानङ्गीकृतोऽपि सन्।
त्वद्वपुः क्षणमप्येष धाष्टर्यादिव न मुञ्चति।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ८१

काम व्याध है उसे हर ने अनङ्गीकृत किया और तुमने भी (अनङ्गीकार पात्र बनाया)। इतने पर वह तुम्हारा शरीर क्षणभर के लिए भी नहीं छोड़ता संभवतः धृष्टता के कारण ।

उपर्युक्त स्थलों में भावसंवाद सुलभ है। ऐसे अन्य स्थल भी खोजे जा सकते हैं।

प्रबन्धसंवाद

कालिदास और उद्‌भट के कुमारसंभवों में प्रबन्धगत संवाद भी मिलता है। कुछ उदाहरण।

१. भगवान् शिव का पार्वती के साथ विवाह तीन दिनों बाद ही होने को था, परन्तु ये तीन दिन भी भगवान् ने बड़ी कठिनाई से बिताए —

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः।। कुमार० ६.९५।।

पार्वती से समागम के लिए उत्सुक शिवजी ने विभु होते हुए भी वे दिन कठिनाई से निकाले। और तो सब ठहरे अवश, उन्हें ये मनःस्थितियाँ कैसे विचलित नहीं कर सकतीं।

उद्‌भट इस स्थिति को बढ़ा चढ़ाकर अनेक पद्यों में प्रस्तुत करते हैं–(५३–५६)।

पार्वती के उत्तम गुणों की भावना में डूबे शिव के मन में अनेक संकल्प उठने लगे और काम प्रबल होता गया।

शिवजी को पसीना आता और रोमाञ्च भी होता जो कदम्बपुष्प की कली के कोष में भरे परागपुञ्ज सा लगता।

शिवजी के नेत्रों में कभी औत्सुक्य भरा दिखाई देता, कभी चिन्ता, कभी प्रमोद और कभी आलस्य।

इतना अधिक बढ़ गया शिव में काम कि उन्होंने उनका हरण करने का भी विचार करना शुरू कर दिया।।

इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान्।
संभृतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत्।।

स्विद्यतापि च गात्रेण बभार पुलकोत्करम्।
कदम्बकलिका—कोष—केसर—प्रकरोपमम्।।

क्षणमौत्सुक्य—गर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम्।
क्षणं प्रमोदालसया दृशास्यास्यमभूष्यत।।

तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
संग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम्।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ५३—५६

स्पष्ट है कि कालिदास शिव को बचाकर चलते हैं। वे उन्हें पशुपति और विभु कहते। पार्वती के अपूर्व सौन्दर्य से जब शिवजी विचलित हुए तब भी कालिदास उनकी प्रतिष्ठा के लिए सावधान दिखाई दिए। उन्होंने उनके धैर्य को 'किञ्चित् परिवृत्त' लिखा और उसके भी औचित्य की सिद्धि में प्राकृतिक घटना प्रस्तुत की 'चन्द्रोदय और समुद्र' की। उफनता ही है समुद्र चन्द्रोदय होते ही। इतनी दूर तक कालिदास भगवान् की महिमा के लिए जागरूक हैं।

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।। कुमार० ३.६७।।

उद्भट इस मर्यादा का पालन नहीं कर सके।

२. कालिदास ने गिरिराज हिमाचल की विभूति प्रथम सर्ग में भी विस्तारपूर्वक प्रस्तुत की तथा षष्ठ सर्ग में भी। उद्भट ने भी उदात्तालङ्कार और निदर्शना के द्वारा प्रस्तुत किया यद्यपि उतना अधिक वर्णन आवश्यक नहीं था। —

पार्वती को बतलाया जा रहा है कि तुम उस हिमगिरि की पुत्री हो जिसका वैभव अप्रतिम है। जहाँ बाँस और गजमस्तक की मुक्तामणियों से शबरस्त्रियाँ अलंकार करती हैं।

इन्द्रनील, वैदूर्य और पद्मराग की गगनचुम्बी चोटियाँ हैं जहाँ गन्धमादन पर्वत

की। जिसकी उत्तर दिशा की चोटियाँ सुवर्ण की हैं और नीचे का भाग है मरकतमणि का। इसकी लम्बाई इतनी कि उसी में अटकी पृथिवी प्रलयकाल में भी पाताल में नहीं गिरी। प्रलयकाल में भगवान् आदिवराह से टकरा जाने पर भी जो (हिमालय) कँपा तक नहीं।

उवाच च यत: क्रोडे वेणु—कुञ्जर—जन्मभि:।
मुक्ताफलैरलङ्कार: शबरीणामपीच्छया।।
पुष्टेन्द्रनीलवैदूर्य — पद्मरागमयैर्वियत्।
शिरोभिरुल्लिखद् यत्र शिखरं गन्धमादनम्।।
उत्तरोपत्यका यस्य प्रधानस्वर्णभूमय:।
महान् मरकतोर्वीध्र: पादोपान्तं च संस्थित:।।
बभूव यस्य पातालपातिन्यां संक्षये क्षितौ।
पतनं न तया सार्धमायामस्तु प्रकट्यभूत्।।
तस्यादिक्रोडपीनांसनिघर्षेऽपि पुन: पुन:।
निष्कम्पस्य स्थितवतो हिमाद्रेर्भवती सुता।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ६१—६५

३. भगवान् शंकर समिधाओं से समिद्ध अग्नि का आधान करते जो उनकी अपनी ही आठ मूर्त्तियों में से एक है और तप करते हैं किसी कामना से, जबकि वे स्वयं हैं तपस्या का फल देने वाले—

तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्त्ति:।
स्वयं विधाता तपस: फलानां केनापि कामेन तपश्चचार।। कुमार० १.५७।।

कुतूहल जागता है निष्काम शिव का कौन सा होगा काम जिसकी पूर्त्ति के लिए वे तपस्या में लगे हैं। इच्छा होती है उस वस्तु की जिसका होता है अभाव। सोचा जाए कि शिव के पास कौन सी वस्तु नहीं है जिसे वे चाहते ही नहीं, उसके लिए तप कर रहे हैं? कालिदास इस प्रश्न का उत्तर स्वयं दे देते हैं, किन्तु अर्थापत्ति से —

यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात् सुदती ससर्ज।
तदाप्रभृत्येव विमुक्तसंग: पति: पशूनामपरिग्रहोऽभूत्।। कुमार० १.५३।।

'पशुपति उसी क्षण से अपरिग्रह (परिग्रह=पत्नी से रहित) थे जब उस सुदती (सती) ने अपना शरीर दक्षरोष के कारण छोड़ दिया था।

स्पष्ट ही भगवान् के पास अभाव है पत्नी का। वे जिस कामना से कर तप रहे हैं निश्चित ही वह पत्नी प्राप्ति की कामना है। उद्भट इसी कामना को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— **इति काले कलोल्लापिकादम्बकुलसंकुले।**
त्रिदशाधीशशार्दूल: पश्चात्तापेन धूर्जटि:।।

तां शशिच्छायवदनां नीलोत्पलदलेक्षणाम्।
सरोजकर्णिकागौरीं गौरीं प्रति मनो दधौ।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ३६

यहाँ स्पष्ट रूप से कह दिया गया कि शिव गौरी के प्रति ध्यानस्थ हुए।

४. कालिदास भगवान् शिव को पार्वती के तपोवन में ले जाते हैं, किन्तु छिपाकर, वटुवेष में और ५४ पद्यों के घटनाचक्र तक वे शिव को छिपाए ही रहते हैं। पश्चात् जब वे प्रकट होते तो प्रबन्धशरीर में प्राण से आ जाते हैं। यह है संवृतिवक्रता की कला। उद्भट इस कला को नहीं अपनाते। वे आरम्भ में ही कह देते हैं कि स्वयं शिव ही पार्वती के तपोवन में बटुवेष में प्रवेश कर रहे हैं—

स गौरीशिखरं गत्वा ददर्शोमां तपःकृशाम्।
राहुपीतप्रभस्येन्दोर्जयन्तीं दूरतस्तनुम्।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ३८

भगवान् को उद्भट ने अत्यधिक बाध्य बतलाया अपनी इच्छा से और कहा कि प्रयोजन सिद्धि के लिए लोग ऐसा कोई कार्य नहीं जो न करते हैं और दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया इन्हीं बटुवेशी शिव को—

तन्नास्ति यन्न कुरुते लोको ह्यत्यन्तकार्यिकः।
एष शर्वोऽपि भगवान् बटूभूय स्म वर्त्तते।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ३४

छिपकर ही प्रवृत्त होना उचित था इस पर भी उद्भट कहते हैं—

प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य बाटवीम्।।

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ३५

'स्त्रियों के भाव की परीक्षा छिपकर करना ही अच्छा होता है, इसीलिए शिव वटुवेष में चले।'

५. कालिदास भगवान् शंकर की समाधि तोड़ने हेतु उनके स्थान पर वसन्त ऋतु का वैभव प्रस्तुत करते हैं (कुमार० तृतीय सर्ग)। उद्भट वसन्त के स्थान पर शरद् ऋतु को उपस्थित करते हैं। उसका वर्णन वे १२ पद्यों में करते हैं उनमें छेकानुप्रास और रूपक आदि अलंकारों का विनियोग भी करते हैं। उद्भट की उक्तियाँ श्लाघनीय हैं—

शरद्रात्रि कन्याएँ हैं। वे तारारूपी कुसुमों से बहुरंगी आकाशरूपी उद्यान को सींचती हैं। तदर्थ घट है चन्द्रबिम्ब, जल है चाँदनी।

तालाब हैं राजा। उन पर चँवर डुलाए जा रहे हैं राजहंसों के द्वारा।

भृंगमालाएँ सुशोभित हो रही थीं जो वनदेवियों की वेणी कही जा सकती थीं, प्रवासियों की पत्नीजन के लिए काले रंग की काल की शृङ्खला कही जा सकती हैं और कामदेवं रूपी महाभट की तलवार–

ज्योत्स्नाम्बुनेन्दुकुम्भेन ताराकुसुमशारितम्।
क्रमशो रात्रिकन्याभिर्व्योमोद्यानमसिच्यत॥
उत्पतद्भिः पतद्भिश्च पिच्छाली–वालशालिभिः।
राजहंसैरवीज्यन्त शरदैव सरोनृपाः॥
वनान्तदेवतावेण्यः पान्थस्त्रीकालशृङ्खलाः।
मारप्रवीरासिलता भृङ्गमालाश्चकासिरे॥

काव्यालङ्कारसार उदाहरण ११–१४

शिव और पार्वती का मिलन हुआ भाद्रपद की [1]हरतालिका (हरतीज) तिथि को। वह है तिथि वर्षा ऋतु की, अतः शरद् उसमें अप्रासंगिक है।

उद्भट के वर्णन में दूसरा दोष यह है कि वे शरत्कालीन मेघ को भी धारासारी बतला रहे हैं। उनका पद्य है

आसार–धारा–विशिखैर्नभोभागप्रभासिभिः।
प्रसाध्यते स्म धवलैराशाराज्यं बलाहकैः॥

काव्यालङ्कारसार उदाहरण १५

इस प्रकार प्रबन्धयोजना में जैसी सावधानी कालिदास में दिखाई देती है वैसी उद्भट में नहीं, यद्यपि उद्भट का शब्दार्थचयन सुन्दर भी है और समृद्ध भी।

कालिदास ने कुमारसंभव आठ सर्गों में ६१३ मूल और १० प्रक्षिप्त पद्य अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, पुष्पिताग्रा, मालिनी, वसन्ततिलका तथा वियोगिनी इन आठ वृत्तों में लिखे, जबकि उद्भट ने केवल अनुष्टुप् वृत्त में उपर्युक्त आठ सर्गों का वृत्त ९४ पद्यों में, अतः दोनों कृतियों की तुलना उपयुक्त नहीं, तथापि उद्भट और कालिदास की दृष्टि और क्षमता का अन्तर समझने के लिए तुलना का उपक्रम उपयुक्त ही है। इस उपक्रम में अलंकारों की परस्पर भिन्नता और स्पष्टता के आठ नौ सौ वर्षों का इतिहास तथा विकास भी दृष्टि में रखना आवश्यक है। कालिदास हुए विक्रमसंवत् के लगभग २५, ३० वर्ष पहले और उद्भट ईसवी सन् की आठवीं शती में जब तक उत्तरभारत में भरतमुनि के अनन्तर कश्मीर में भामह और दक्षिण भारत में दण्डी हो चुके थे। उद्भट ने भामहालंकार की टीका भी लिखी थी और अलंकार के लक्षणों को लगभग अन्तिम रूप तक पहुँचा दिया था, फलतः मम्मट आदि ने उद्भट को अधिक गम्भीरता के साथ लिया। इतने बड़े अन्तराल के बाद भी काव्यशिल्प में कालिदास

---

१. 'हरत हटाओ इसे आलिका: आलियो'–इस कारण उस तिथि को हरतालिका कहा जाता है।

लड़खड़ाते नहीं, बल्कि अधिक जमे हुए प्रतीत हुए। विस्तृत कथावस्तु को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने की कला कालिदास के रघुवंश के बारहवें सर्ग में दर्शनीय है जहाँ वाल्मीकि रामायण की पूरी कथा प्रस्तुत कर दी गई है।

पाश्चात्त्य विचारकों को क्यों होता है आश्चर्य कि कालिदास साहित्य में इतनी प्रौढि कैसे आई, जबकि वे जानते हैं कि कालिदास के पहले काव्य का प्रतिमान महर्षि वाल्मीकि प्रस्तुत कर चुके थे, दर्शनों का प्रतिमान महर्षि व्यास और नाट्यकला का प्रतिमान भरतमुनि। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की अधिकांश कारिकाएँ स्पष्टार्थक हैं और उनकी अर्थयोजना उलझनभरी नहीं हैं। संस्कृत भाषा के साहित्य के सभी पुराण ये ही सब विचारक गुप्तयुग में प्रतिसंस्कृत मानते हैं। महाभारत को भी गुप्तयुग में ही वर्त्तमानस्वरूप में आया मान्य है इन्हें। अश्वघोष का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी सबको मान्य है। अश्वघोष की कविता भी इतनी प्रौढ है कि उसे भी इतना प्राचीन मानना कठिन है, किन्तु उस पर विचारकों को न विस्मय है और न आपत्ति। उद्भट ने कालिदास का नामोल्लेख नहीं किया तो भावसंवाद के आधार पर कालिदास को ही उद्भट से प्रभावित क्यों नहीं मानते ये सभी विचारक?

कालिदास और ईश्वरकृष्ण

इसी प्रकार का एक पक्ष कुछ विद्वानों ने सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वर–कृष्ण के विषय में उठा रखा है। सांख्यकारिका में ईश्वर नामक तत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सका, जबकि उसके रचयिता का नाम ईश्वर से भी युक्त है और भगवान् कृष्ण से भी। कालिदास भी ईश्वरवादी ही नहीं, ईश्वरभक्त हैं। कतिपय टीकाकारों के भावुकतापूर्ण उद्गारों में कालिदास को ईश्वरकृष्ण बतला दिया गया है। इसमें एक कारण सांख्यकारिका का उपमाशिल्प भी है और प्रकृति पर रङ्गनर्त्तकी का आरोप।

'कालिदास : हिज आर्ट एण्ड थाट्स'[१]—ग्रन्थ में डॉ० माइनकर ने कालिदास और सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण को अभिन्न माना है और 'सांख्यकारिका' को भी कालिदास की कृति स्वीकार किया है।

उनकी यह मान्यता निम्नलिखित तथ्यों पर निर्भर है :—

(१) परम्परा

(क) ईशा की १८वीं शती में उत्तररामचरित की टीका में घनश्याम ने निम्नलिखित पद्य उद्धृत किये हैं और उन्हें ईश्वरकृष्ण रचित कहा है—

१. गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पम्०।[२]

१. M/S, V. Bookstall, 543, शनिवार पेठ, पूना—२, १९६२ संस्करण।

२. रघुवंश २.२६

२. शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य०।[१]

३. तस्मिन् विप्रकृता: काले०।[२]

४. न विदीर्ये कठिना: खलु स्त्रिय:।[३]

वस्तुत: ये सभी पद्य कालिदास के हैं।

(ख) घनश्याम की दो पत्नियों ने विद्धसालभञ्जिका पर टीकाएँ लिखीं और उनमें भी ३० बार कालिदास की रचनाओं को ईश्वरकृष्ण रचित कहा।[४]

(ग) उत्तररामचरित पर वीरराघव की टीका में भी एक जगह कालिदास की रचना को ईश्वरकृष्णकृत कहा गया है।[५]

(घ) स्वप्नेश्वर ने अपने सांख्यसार में सांख्यकारिकाओं के लिए लिखा है— 'ईश्वरकृष्णनाम्ना कालिदासेन कृता: कारिका:' अर्थात् 'ये कारिकाएँ कालिदास कृत हैं जिनका वास्तविक नाम ईश्वरकृष्ण है।'[६]

(२) उद्भावना

डॉ० कीथ और भरतसिंह सांख्यकारिका को सांख्यसप्तति कहते हैं और उनका रचयिता किसी विन्ध्यवास या विन्ध्यवासिन् को स्वीकार करते हैं। उक्त विद्वानों के अनुसार विन्ध्यवास ई० स० २८० के बौद्ध दार्शनिक बसुबन्धु के समकालीन थे। तककुसु का कहना है कि विन्ध्यवासिन् ईश्वरकृष्ण का ही दूसरा नाम है। डॉ० माइनकर कालिदास को विन्ध्यवासी से अभिन्न मानते हैं और तर्क देते हैं कि कालिदास भी विन्ध्यगिरि से अत्यन्त परिचित है।[७]

(३) शब्दसाम्य

कालिदास की रचनाओं और सांख्यकारिका में भाषा और परिभाषाओं का साम्य हैं उदाहरणार्थ कारिका—६० में प्रकृति को गुणवती कहा गया है और कारिका—६१ में सुकुमारतर। मेघदूत में कालिदास ने यक्ष के मुख से उसकी प्रिया को 'गुणवती' कहलाया है (मेघ० १०५)। विक्रमोर्वशीय में कालिदास उर्वशी को महेन्द्र का 'सुकुमार

१. रघुवंश ५.५६

२. कुमार २.१

३. कुमार ४.५

४—५. डॉ० माइनकर द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर

६. डॉ० माइनकर का उक्त ग्रन्थ
प्रज्ञा, अंक २३—२४, भाग—१, १९७८, का०हि०वि०वि०

७. डॉ० माइनकर का उक्त ग्रन्थ।
प्रज्ञा, अंक २३—२४, भाग—१, १९७८, का०हि०वि०वि०

प्रहरण=आयुध' कहलाते हैं।[२] सांख्यकारिका—६४ में तत्त्वज्ञान को 'विशुद्ध ज्ञान' कहा है। अभिज्ञानशाकुन्तल के मछुए के पेशे की निन्दा में राजश्यालक या हेडकांस्टेबल कहता है 'बड़ा ही विशुद्ध है तेरा पेशा'।[३] सूक्ष्मशरीर के लिए सांख्यकारिका में भाव शब्द का प्रयोग है (कारिका ५२)। कालिदास भी शाकुन्तल में इस शब्द को इसी अर्थ में अपनाते दिखाई देते हैं। (शाकु० ५.२)।

(४) भावसाम्य

कालिदास और ईश्वरकृष्ण की उक्त रचनाओं में भावसाम्य भी मिलता है। ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका में नाट्य, रङ्ग, प्रेक्षक और नर्तकी की उपमा देते हैं (कारिका ५९, ६५)। अवश्य ही वे कुशल नाटककार हैं। कालिदास अपनी नाट्यकृतियों के लिए प्रसिद्ध ही हैं।

(५) समकालिकता

कालिदास समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच के समय में हुए हैं, क्योंकि वे रघु के जिस दिग्विजय का उल्लेख करते हैं वह चन्द्रगुप्त के दिग्विजय से ही सामञ्जस्य रखता है। ईश्वरकृष्ण भी इसी बीच हुए हैं। इस प्रकार —

उक्त दोनों रचनाकारों को अभिन्न मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

मेरे विचार से उक्त आधारों पर कालिदास को ईश्वरकृष्ण से अभिन्न मानना कठिन है। कारण कि—

१. कालिदास को ईश्वरकृष्ण से, ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास से, विन्ध्यवास को विन्ध्यवासी से और इन सबको भर्तृमीढ से अभिन्न मानना क्लिष्ट त्रैराशिक है। स्मरणीय है जिस घनश्याम ने कालिदास की रचनाओं को ईश्वरकृष्णकृत कहा है उसी ने कालिदास की ही रचनाओं को भर्तृमीढकृत भी माना है।

२. कालिदास का शब्दसाम्य और भावसाम्य पूर्ववर्त्ती भास की रचनाओं के साथ भी दिखाई देता है और परवर्त्ती आनन्दवर्धन और हम नवीन संस्कृत लेखकों की रचनाओं के साथ भी। इस साम्य से अभिन्नता की कल्पना अमान्य है।

३. समयसाम्य के आधार पर कालिदास को ईश्वरकृष्ण से अभिन्न मानना दो कारणों से कठिन है। एक तो इसलिए कि कालिदास का समय अनिश्चित है और यह कहना कठिन है कि वे गुप्तयुग में हुए। दूसरे समकालीनता के आधार पर अभिन्नता तब स्वीकारी जा सकती है जब कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त हो। कालिदास और

---

२. हमारी कालिदासग्रन्थावली, पृष्ठ ४३९, पंक्ति ११, १५

३. हमारी कालिदासग्रन्थावली, पृष्ठ ६११, पंक्ति ५

ईश्वरकृष्ण की अभिन्नता में ऐसा कोई प्रमाण तो मिलता ही नहीं, प्रत्युत बाधक प्रमाण प्राप्त होते हैं।

बाधक प्रमाण

(क) कालिदास ईश्वरवादी हैं, जबकि सांख्यकारिका में ईश्वर का उल्लेख नहीं हैं।

(ख) कालिदास सर्वत्र अध्वरमीमांसा में विश्वास रखते और यज्ञ आदि अनुष्ठानों को आवश्यक बतलाते हैं, जबकि सांख्यकारिका उन्हें लौकिक उपायों के ही समान दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति का कारण नहीं मानती (कारिका—२)।

(ग) कालिदास प्रकृति और पुरुष दोनों को ब्रह्मदेव के दो स्वरूप मानते[1] और ईश्वरवादी योग दर्शन में दृढ आस्था रखते हैं, जबकि सांख्यकारिका पुरुषतत्त्व के आगे किसी तत्त्व का उल्लेख नहीं करती।

(घ) कालिदास की भाषा भावाभिव्यक्ति में स्पष्ट है, जबकि सांख्यकारिका की भाषा अस्पष्ट। उसकी प्रथम कारिका को ही यदि स्पष्टार्थक बनाना हो तो इस प्रकार बदलना होगा—

त्रेधा दु:खं, शक्यस्तेषां घातस्ततोऽभिजिज्ञास्यम्।
अपघातकं, न दृष्टं तद् व्यभिचाराच्च नाशाच्च।।

इसी प्रकार सांख्यकारिका के **'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्'** इस अंश की जैसी व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने की है तदनुसार इस कारिका का निर्माण इस प्रकार से किया जाना चाहिए था—**'विषयेन्द्रियावसायी दृष्टम्'**। ईश्वरकृष्ण **'उपादानग्रहण'**—में ग्रहणशब्द का प्रयोग 'सम्बन्ध' के लिए कर रहे हैं जो असंभव है। प्रकृति और पुरुष के लक्षण के लिए जो कारिकाएँ दी गई हैं उनके विशेषण इतने दुरूह हैं कि विना व्याख्या देखे उनसे अर्थ नहीं निकाला जा सकता और व्याख्या भी अपने मन से अनेक प्रकार की की जा सकती हैं।

डॉ० माइनकर ने इन प्रश्नों में से ईश्वर सम्बन्धी प्रश्न पर समाधान देते हुए लिखा है कि कालिदास का मस्तिष्क पहले अनीश्वरवादी रहा होगा और इसी समय उन्होंने सांख्यकारिका लिखी होगी। हम यह भी सोच सकते हैं कि कालिदास ने ईश्वरवादी होते हुए भी अनीश्वरवादी सांख्यशास्त्र को उसके अपने ही रूप में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया होगा, परन्तु वेदनिष्ठा को लेकर कालिदास को इस प्रकार की विरुद्ध प्रवृत्ति में निष्ठावान् नहीं माना जा सकता। वेद का अभ्यास बाल्यकाल से ही करना संभव होता है और वेद का मीमांसापक्ष ईश्वरवादी भले ही न हो उपनिषत्

१. कुमार० २.१३

पक्ष ईश्वरवादी है तथा कालिदास इस अन्तिम पक्ष को ही महत्त्व देते हैं। वे ईश्वर की सिद्धि में अनुमान को द्वितीय और श्रुतिवचनों को प्रथम स्थान देते हैं–

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा।। (रघु० १०.२८)

इस प्रकार कालिदास के विचार और सिद्धान्त ईश्वरकृष्ण से नहीं मिलते। साथ ही कालिदास को विक्रमादित्य के साथ जोड़ा जाता है। ईश्वरकृष्ण मानने पर कालिदास का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से भी कठिनाई से जुड़ता है। क्योंकि ई० सन् २८० का कवि ईशा की चौथी शती, चन्द्रगुप्त के समय तक कठिनाई से लाया जा सकता है। संवत्प्रवर्त्तक शकारि प्रथम विक्रमादित्य के साथ ज़ोड़ने पर कालिदास ईश्वरकृष्ण से ३०० वर्ष पूर्व के सिद्ध होते हैं।

जहाँ तक घनश्याम के उल्लेखों से प्राप्त परम्परा का संबन्ध है उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। परम्पराएँ गलत भी ठहरती हैं। काव्यप्रकाश में केवल संचारीभावों की कारिकाएँ नाट्यशास्त्र से ली गई हैं, किन्तु परम्परावादी प्राचीन और परम विद्वान् टीकाकार गोकुलनाथ का कहना है कि काव्यप्रकाश की सभी कारिकाएँ भरतमुनि की रचना है। वैसे ही दूसरे समर्थ टीकाकार गोवर्धन ठक्कुर भट्टमत को गुरुमत और गुरुमत को भाट्टमत लिखते दिखाई देते हैं। ये ही काव्यप्रकाश के श्लेष प्रकरण में आए उद्भट के पूर्वपक्ष को उद्धृत करने वाले और उस पर संकेत नामक टीका के रचयिता, अत: निश्चित रूप से परवर्त्ती रूय्यक के अलंकारसर्वस्व से लिया लिखते हैं। इस प्रकार परम्परा तथ्यशून्य और अन्यथा भी मिलती है। १८०० ई० के घनश्याम के पहले ईश्वरकृष्ण और कालिदास के अभेद की परम्परा प्राप्त न होने से भी निष्कर्ष निकलता है कि किसी कल्पना ने परम्परा का रूप ले लिया था। सत्य यह है कि संस्कृत के कालिदासोत्तर साहित्य में जो श्रेष्ठ और उत्तम लिखा मिला उसे यथाशक्ति कालिदास से जोड़ने का प्रयत्न किया जाता रहा। अतएव 'नलोदय' और 'घटकर्पर' काव्य के यमकों को उनकी अद्भुतता के कारण कालिदास की कृति माना गया। श्यामलादण्डक आदि अन्य रचनाओं को भी इसी प्रकार कालिदास की कृति माना जाता है।

फलत: परम्परा, शब्दसाम्य और भावसाम्य होने पर भी कालिदास को ईश्वरकृष्ण से अभिन्न कहना कठिन है। समयसाम्य संदिग्ध है। विचारों और सिद्धान्तों का विरोध प्रत्युत अभिन्नता में बाधक सिद्ध होता है, तत्रापि अभिव्यक्ति की स्पष्टता तथा अस्पष्टता तो कालिदास तथा ईश्वरकृष्ण की अभिन्नता को तनिक भी अवसर नहीं देती।

कालिदाससाहित्य: प्राचीन टीकाकारों की दृष्टि में

साहित्यसमीक्षा में वर्त्तमानयुग भी कहता वही है जो पहले से कहा जाता रहा है। पुराना अध्ययन कालिदास के प्राचीन टीकाकारों में सुलभ हैं। एक अकेले रघुवंश पर ४१ टीकाएँ हुईं। मेघदूत और कुमारसंभव पर भी अनेक टीकाएँ मिलती हैं। इसी प्रकार शाकुन्तल पर भी। मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय पर भी संस्कृत में काटयवेम की टीका तो मिलती है विक्रमोर्वशीय पर कोणेश्वरी और रङ्गनाथी टीकाएँ भी मिलती हैं। कालिदाससाहित्य पर अंग्रेजी में भी पुष्कल टीकाएँ प्रकाशित हैं। अभी दो वर्ष पहले शाकुन्तल पर घनश्याम की टीका प्रकाशित हुई है। उसमें निष्कर्ष वे ही दिए गए हैं जो हम पहले से प्रकाशित करते आ रहे हैं। उदाहरण के लिए अभिनवभारती में शाकुन्तल का प्रयोजन बतलाया गया था 'चक्रवर्त्तिपुत्रलाभ' (शाकु० १.१२)। हमने भी अपनी कालिदासग्रन्थावली के सभी संस्करणों में यही सिद्ध किया था। घनश्याम की जो टीका [1] छपी है उसमें भी यही है निष्कर्ष।

'सप्तमाङ्के फलं ग्रन्थे दौष्यन्तेश्चक्रवर्त्तिता।' (पृष्ठ ३८, श्लोक १९)

हमने अभी अभी बतलाया है कि किस प्रकार शाकुन्तल के षष्ठ और सप्तम अंक व्यर्थ ठहरते हैं यदि अभिज्ञानों में शाकुन्तल यानी शकुन्तला से उत्पन्न पुत्र का दुष्यन्त पुत्र के रूप में अभिज्ञान प्रमुख न माना जाए।

राज्य के उत्तराधिकारी की खोज पर नाटक लिखना और उसमें एक ओर महत्तम उच्च जीवनमूल्यों की रक्षा रखना और दूसरी ओर काव्य सौन्दर्य का सफल निर्वाह करना कला की सभी दृष्टियों से चरितार्थता है, चाहे वह आधुनिक यानी समाजवादी दृष्टि हो या आर्थिक समता को महत्त्व देने वाली साम्यवादी दृष्टि। काव्यशास्त्र में उनके प्रतिपाद्य विषय अपना लिए गए, रह गए केवल वर्गीकरण के मूल्य और उन वर्गों के नए नए नाम। तदर्थ भारतीय विचारक की घोषणा है कि 'हमें नाम के ऊपर' लड़ाई नहीं करनी है।

प्राचीन टीकाकारों की दृष्टि से कालिदाससाहित्य पर जो विचार हमने अपने '[2] **प्राचीनदृशा कालिदसालोचनम्**' लेख में किया है उसके अन्त में हमने स्वयं की ओर से भी निष्पक्ष आलोचना दी है। उसे आगे प्रस्तुत किया जाएगा। यहाँ हम उस निबन्ध के अन्त में दिए दो श्लोक प्रस्तुत करना पर्याप्त समझते हैं—

---

१. सरस्वतीपुस्तक भण्डार, अहमदाबाद–१ संपा० डॉ० पूनम रावल तथा प्रो० वसन्त भट्ट, १९९७

२. कालिदास अकादमी उज्जैन की पत्रिका 'कालिदास में प्रकाशित, ग्रन्थ IV अंक १, १९८८

स्वर्ण सीसक–पिप्पलादि–वणिजामाज्यं वसासेविनां
गङ्गा दूषितनालिका–जलकणन्यक्कार–पात्रात्मनाम् ।
काव्यं सर्वसमृद्धिमेदुरधियां पुण्यात्मनां साम्प्रतं
वृद्धाम्बेव तिरस्क्रियेत[1] चपलाऽऽसङ्गैः किमत्रोच्यताम् ।।
यद् वै पूर्वमहात्मभिर्विरचितं तन्नीरसं, यच्च वै
चेटैरन्यदिशा किमप्यभिहितं सत्कारपात्रं हि तत् ।
इत्येषाऽस्य धरातलस्य विगुणा काचिद् दशा, कीदृशी
तस्मिन् संप्रति कालिदासकविता–तद्भाष्ययोः संगतिः।।

यदि 'चपलासङ्ग' में आकर सब प्रकार की समृद्धि से युक्त बुद्धि के धनी विद्वानों का काव्य इन दिनों तिरस्कृत किया जा रहा है तो इस पर कहा क्या जाए? यह तो सीसा पीतल आदि का वाणिज्य करने वालों के द्वारा सुवर्ण का तिरस्कार है, घृत का तिरस्कार है चर्वी का सेवन करने वालों के द्वारा, और गङ्गा का तिरस्कार है दूषित नाली के जलकण का तिरस्कार सहने वालों के द्वारा।

प्राचीन महान् विद्वानों द्वारा जो बनाया गया वह सब नीरस है, जो दासानुदासों द्वारा दूसरों की दृष्टि से यद्वा तद्वा कहा गया वह सब है सत्कारपात्र' ऐसी उलटी और विकृत दशा है इस भूमितल की तो इस समय कालिदास की कविता और उसके भाष्यों की संगति कैसी?

वैसे कालिदास के साहित्य पर साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने अनेक प्रकार से विचार किया है, अतः पूरा संस्कृतसाहित्यशास्त्र ही कालिदास की टीका है, तथापि कुछ टीकाकार ऐसे हैं जो विद्वत्ता में तो अद्वितीय हैं ही, सहृदयता में भी वे असाधारण हैं, उनमें भावयित्री प्रतिभा माधुर्य के महाकोष को लिए प्रकट है। इनमें कालिदास के कुमारसंभव पर जो टीका अरुणगिरिनाथ ने लिखी है वह उतनी ही ललित और प्रौढ़ है जितनी 'लोचन' पर उत्तुङ्गोदयराज की कौमुदी। स्वयं अभिनवगुप्त भी जहाँ रम जाते हैं वहाँ उनकी सरस्वती नाच उठती है और वे बेजोड़ दिखाई देते हैं, किन्तु उनके लोचन के टीकाकार उत्तुङ्गोदय ललितता में अभिनवगुप्त से भी आगे खड़े दिखाई देते हैं। ऐसे ही हैं वक्रोक्तिजीवित के रचयिता आचार्य कुन्तक। कालिदाससाहित्य से उन्होंने ८८ पद्य उद्धृत किए। ११ पद्य पुनः पुनः उद्धृत किए। उनकी इन पद्यों पर जो ललित मीमांसा है उसमें पकड़ भी नई है और आलोचना की भाषा भी ललित एवं मधुर है।

---

१. चपलानामस्थिरमतीनां जघनचपलानां योषिताञ्च।

कालिदास के नाटकों की विशेषता पर भी कुन्तक ने जो विचार दिए उनमें वे आनन्दवर्धन से आगे बढ़े दिखाई देते हैं। क्षेमेन्द्र और राजशेखर भी ऐसे ही कुशल और विदग्ध सहृदय हैं। इन सब आचार्यों के कालिदास से संबन्धित आलोचनांशों को एकत्रित कर दिया जाए तो वह कालिदाससाहित्य की एक अलग ही व्याख्या होगी। अकेले एक अप्पयदीक्षित ही इस क्षेत्र में कालिदास के अनेक नवीन पक्ष उभारते मिलते हैं। भोजराज के शृङ्गारप्रकाश में कालिदास के ७१६ पद्य उद्धृत हैं और सरस्वतीकण्ठाभरण में १६२। कुल मिलाकर ८७८ संदर्भों पर भोजराज ने कालिदास के उद्धरण दिए हैं। इनमें से ३८२ स्थलों पर पुन: पुन: विचार किए गए हैं। फलत: १२६० बार भोजराज ने कालिदास के साहित्य पर अपने विचार दिए। इन सभी सन्दर्भों पर सामग्री संकलित करने पर कालिदास समीक्षा की एक प्राचीनतम और विराट् टीका मिल सकती है। समाज से लेकर व्यक्ति तक तथा कुटुम्ब से लेकर विश्व तक का प्रतिनिधित्व करती यह व्याख्या सर्वतोमुखी व्याख्या होगी जिसमें नवीनतम मानदण्डों का प्राचीनतम मानदण्डों के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी होगा और विचार के नवीन आयाम भी प्रकाश में आ सकेंगे।



कुछ अभिप्राय

दिलीप का गोचारण[1]

महाकवि कालिदास अपने रघुवंश का आरम्भ दिलीप के गोचारण से ही करते हैं। इस कथानक के घटनाक्रम में कुछ आपत्तियाँ उठती हैं, उनमें से प्रधान आपत्तियाँ इस प्रकार हैं–

(१) कामधेनु शाप देती है अपनी अवज्ञा से, किन्तु शापमुक्ति का उपाय बतलाती है अपनी संतति की सेवा।

(२) यदि शापमुक्ति कामधेनु की नहीं, अपितु उसकी प्रसूति की सेवा से होती है तो वसिष्ठ का यह कथन अनावश्यक है कि–

हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः।
भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति।। रघु० १.८०।।

उन्हें केवल इतना ही कहना चाहिए–

स गां मदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा।।

दक्षिण के कुछ विद्वान् इस श्लोक को प्रक्षिप्त भी मानते हैं।

(३) दिलीप नन्दिनी की सेवा करता है। सेवक को सोना तो चाहिए सेव्य के बाद, किन्तु जागना चाहिए उसके पहले। दिलीप सोते तो बाद में ही, किन्तु जागते भी बाद में ही हैं–**क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत्**–(रघु० २.२४) यहाँ मल्लिनाथ ने 'अनु' शब्द का अर्थ 'अनन्तर' किया है और लिखा है–'**अत्र अनुशब्देन धेनुराजव्यापारयोः पौर्वापर्यमुच्यते**।' प्रा० नन्दर्गीकर प्रायः प्रत्येक पद्य पर अपने टिप्पण में अन्य अनेक टीकाओं के उपयोगी अंश उद्धृत करते हैं और पाठान्तर भी देते हैं, किन्तु इस पद्य पर उन्होंने किसी भी टीका का न कोई अंश उद्धृत किया है और न कोई पाठान्तर ही दिया है। उन्होंने रघुवंश पर हेमाद्रि के दर्पण को अधिक महत्व दिया है, किन्तु उन्हें प्रथम चार सर्गों का दर्पण नहीं मिला था। भगवत्कृपा से २ से ४ सर्गों तक का दर्पण हमें मिल गया है। उसमें अनुशब्द को 'वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्' के समान लक्षणार्थक और 'अनुपान' शब्द के समान सहार्थक भी माना है। लक्षणार्थक मानने पर तो कोई बात बनती नहीं है। सहार्थक मानने पर यह अर्थ

१. 'विक्रम' वर्ष–६, सं० २०२०

निकलता है कि राजा और नन्दिनी का सोना तथा जागना साथ साथ हुआ। इससे भी सेवक धर्म की प्रौढि सिद्ध नहीं होती। राजा छाया के समान नन्दिनी की सेवा कर रहा था इस आधार पर उसके प्रत्येक कार्य में साहचर्य को उचित कहने का प्रयत्न भी अनुचित है, क्योंकि दिलीप ने कुछ ऐसे भी कार्य किए जो नन्दिनी ने नहीं किए थे—जैसे गुरुजी के चरण छूना। फिर यह संभव भी कैसे कि पुरुष—शरीर, पशु—शरीर का प्रत्येक कार्य में छायावत् अनुसरण कर सके।

(४) एक आपत्ति वक्रोक्तिजीवितकार ने उठाई है। औचित्य नामक गुण के प्रसंग में उन्होंने लिखा है कि यदि प्रबन्ध में आए किसी एक प्रकरण में भी औचित्य की हानि हो जाए तो वह पूरा प्रबन्ध ही वैसे ही कलंकित दिखाई देता है जैसे किसी एक अंश में जला हुआ दिव्यवस्त्र। **'प्रबन्धस्यापि कस्यचित् प्रकरणैकदेशेऽप्यौ—चित्यविरहात् एकदेशदाहदूषितदग्धपटप्रायता प्रसज्यते'** (वक्रोक्तिजीवित १.५७ वृत्ति) उदाहरण के रूप में उन्होंने रघुवंश का यही प्रकरण उपस्थित किया है और लिखा है—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विजेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः।। रघु०२.४९। इति सिंहस्याभिधातुमुचितमेव राजोपहासपरत्वेनाभिधीयमानत्वात्, राज्ञः पुनरस्य निजयशःपरिरक्षणपरत्वेन तृणवल्लघुवृत्तयः प्राणाः प्रतिभासन्ते, तस्य एतत्पूर्वपक्षोत्तरत्वेन—

कथं च शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमां तनूजां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा, तु प्रहृतं त्वयास्याम्।। रघु०२.५४।।
इति अन्यासां गवां तत्प्रतिवस्तुप्रदानयोग्यता यदि कदाचित् संभवति ततस्तस्य मुनेः मम चोभयोरप्येतज्जीवितपरिरक्षणनैरपेक्ष्यमुपपन्नमिति तात्पर्यपर्यवसाना—दत्यन्तमनौचित्ययुक्तेयमुक्तिः'' (व०जी० १.५७ वृत्ति) अर्थात्—

सिंह ने जो अन्य गायों द्वारा वसिष्ठ के अनुनय की बात कही वह तो ठीक थी, क्योंकि सिंह तो राजा का परिहास कर रहा था, किन्तु राजा का यह कहना अनुचित है कि अन्य गायों द्वारा वसिष्ठ का अनुनय संभव नहीं। कारण कि इससे यह तात्पर्य निकलता है कि यदि वसिष्ठ का अनुनय संभव होता तो दिलीप नन्दिनी की रक्षा न करता। वक्रोक्तिजीवितकार ने यहाँ 'इमां तनूजाम्' यह पाठ माना है। यह कदाचित् 'सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः' इस पद्यार्थ की संगति के लिए माना गया है। इस पद्य में नन्दर्गीकर ने 'अनूनाम्' के लिए कोई भी पाठान्तर नहीं दिया है। हेमाद्रि ने भी यहाँ 'अनूनाम्' पाठ ही माना है। उन्होंने एक अनौचित्य और दिखलाया है। यह कि 'जो महर्षि है उसमें कोप कैसे संभव है।' —**'महर्षेः कोप इत्यौचित्यं वर्जितम्'।**

संस्कृतकोषों में प्रत्येक गौ सुरभि—कामधेनु की पुत्री मानी गई है—'माहेयी सौरभेयी गौः'—इस प्रकार। पुराणों में गोजाति का जन्म कामधेनु से ही माना गया होगा। अतः 'तनूजाम्' के स्थान पर 'अनूनाम्' पाठ ही ठीक है। इससे गोसेवा से पुत्रप्राप्ति का उपाय सर्वसाधारण हो जाता है, जिससे महाकवि के मानवतावादी दृष्टिकोण को बल मिलता है।

(५) नन्दिनी गौ मायासिंह का निर्माण कर सकती है, वह अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन करा सकती है—इसलिए निश्चित ही वह एक असाधारण गौ है। इससे कवि के मानवतावादी दृष्टिकोण पर पुनः चोट पहुँचती है, क्योंकि उससे यह अर्थ निकलता है कि कामनाओं का दोहन प्रत्येक गौ नहीं कर सकती।

इन अपत्तियों के समाधान विचारणीय हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ ध्वन्यालोक १.८॥

अर्थात् 'प्रतीयमान अर्थ और तद्व्यञ्जनक्षम शब्द की काव्य में पॅहिचान की जानी चाहिए, क्योंकि महाकवि जो भी कुछ लिखता है वह इन्हीं प्रतीयमान अर्थ और उसकी व्यञ्जना में समर्थ शब्द की योजना के लिए।' इस आधार पर हम महाकवि कालिदास के इस प्रसंग में आए कुछ शब्दों और योजनाओं पर ध्यान दें तो कुछ समा—धानसूत्र अवश्य प्राप्त होते हैं।

सबसे पहले हम, कवि ने गोचारण का उद्देश्य जिन शब्दों में प्रस्तुत किया है उन पर ध्यान दें—

किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी॥ रघु० १.६५॥
सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः॥ रघु० १.६८॥

यहाँ पुत्राभाव को प्रजालोप कहा गया है। शापवाक्य में भी प्रजा शब्द ही आया है—'**अतस्ते न भविष्यति मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति**'। व्रतपूर्ति के समय कवि प्रजाशब्द का ही प्रयोग करता है—

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्त्तेः।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य॥ रघु० २.२५॥

राजधानी लौटने पर जनता राजा का दर्शन करती है। वहाँ कवि ने उसे पुनः 'प्रजार्थव्रतकर्षिताङ्ग' कहा है—

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्षिताङ्गम्।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम्॥ रघु० २.७३॥

इन सब स्थलों में 'प्रजा' शब्द का अर्थ अपत्य और पुत्र किया गया है। संजीवनी, दर्पण तथा प्रा० नन्दर्गीकर के संपादन में सर्वत्र यही अर्थ मिलता है। 'प्रजा स्यात् संततौ जने'—इस प्रकार प्रजा शब्द का राजा के साथ प्रयोग होने पर 'जनता' अर्थ में भी व्यञ्जना संभव है।

कालिदास ने जिस राजतन्त्र को अपनाया है उसमें राजपुत्र को ही राजपद का उत्तराधिकारी माना जाता है। अष्टादश सर्ग के 'सुदर्शनाख्यान' तथा अन्तिम सर्ग के 'गर्भाभिषेक' से यह तथ्य रघुवंश में अत्यधिक स्पष्ट है। इस नियम का आधार भी कालिदास के ही काव्यों से स्पष्ट है। उनमें सर्वत्र राजा को लोकपालों की अंशमूर्ति माना गया है, भले ही उसका उद्देश्य प्रजा में राजभक्ति जगाना रहा हो अथवा विदेशी आक्रमण को ध्वस्त करने के कारण 'विक्रम'—नाम से पुकारी जाने वाली शक्ति का नियमित रूप से नरशरीर में सदा प्राप्त होते रहना रहा हो, किन्तु यह स्पष्ट है कि—'**इन्द्रयमस्थानमेतद् राजानः तानवमन्यमानान् दैवोऽपि दण्डः स्पृशति, तस्माद् राजानो नावमन्तव्याः**'—इस प्रकार विनयाधिककरण के त्रयोदशाध्याय में आए कौटिल्य के मत का अनुवर्त्तन कालिदास ने भलीभाँति किया है। यहाँ तक कि उन्होंने उक्त कौटिल्यवाक्य में आए 'इन्द्र' और 'यम' इनमें 'वरुण' और 'कुबेर' को और जोड़ दिया तथा राजा को चार लोकपालों का अंशावतार माना। 'यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरम्' (रघु० ९.२४) तथा 'पञ्चमं लोकपालानां तमूचुः साम्ययोगतः' (रघु० १७.७८)— आदि वाक्यों से उक्त तथ्य स्पष्ट है। लोकपालों का साम्य भी कालिदास ने इस प्रकार दिखला दिया है—

समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा।। रघु० ९.६।।

कौटिल्य में तो उक्त राजा को इन्द्रयम के समान इसलिए कि कहा गया है कि ऐसा प्रचार करने से क्षुद्र लोग राजभक्त बन जाय—'इति क्षुद्रकान् प्रतिषेधयेत्'।। किन्तु कालिदास ने इस मान्यता को यथार्थ और भौतिकरूप से सत्य निरूपित किया है। उसके दिलीप को देखकर 'दवाग्नि विना वृष्टि के शान्त हो जाती है, जंगल फल—पुष्प समृद्धि से लद जाते हैं, पशुओं में भी बृहदारण्यक में 'अथोऽबलीयान् बलीयांसमनुशास्ति धर्मेण'—द्वारा लक्षित धर्म की प्रतिष्ठा हो जाती है—

शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद् विशेषा फलपुष्पवृद्धिः।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने।।रघु०२.१४।।

उनका इन्द्र रघु को वैसे ही परास्त नहीं कर पाता जैसे मेघ अपने से उत्पन्न विद्युत् को—

अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः।। रघु० ३.५८।।

रघुवंश के ६.७३ में '**अर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ**'—इस प्रकार दिलीप को, वहीं १७.७ में—'**तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक्**' इस प्रकार कुश को तथा '**मम हि अर्धासनोपवेशितस्य**' इस प्रकार शाकुन्तल के सप्तम अंक में दुष्यन्त को कालिदास ने इन्द्रासन का आधा भागीदार घोषित किया है। इसके अतिरिक्त कालिदास का प्रत्येक राजकुमार 'अग्निभूः, स्कन्द, गाङ्गेय और कार्तिकेय' नाम से पुकारे जाने वाले तथा मेघदूत में '**अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः**' (पद्य ४३) इस प्रकार तेज में सूर्य से भी अधिक माने गए 'कुमार' के समान है। यह कुमार वही तो रौद्र और मृत्युञ्जय तेज है जिसे शतपथ ने अष्टमूर्ति अग्नि की नवममूर्ति कहा है। महाभारत ने अग्नि से उत्पन्न ऐसा विकराल तथा बलवत्तर सत्त्व निरूपित किया है जो नरशरीर में भी दिग्गजों को अपने हाथों में खिलौने के हाथियों के समान पकड़े हुए विशाल भूधराकार होकर बढ़ रहा है। अन्य पुराणों ने इसे शिव की संतति के रूप में भाँति भाँति से चित्रित किया है। स्वयं कालिदास ने इस 'कुमार' के संभव के लिए देवताओं की बरात और शिव के विवाह को अपने अभिजात कलाशिल्प द्वारा आठ सर्गों में चित्रित करते हुए दिव्य महाकाव्य कुमारसंभव की रचना की है, जिसमें पिता तो मृत्युञ्जय हैं ही, माता को भी तपोयोग द्वारा मृत्युञ्जय की सिद्धि तक पहुँचाया गया है और उनके अमर्त्य सौभाग्य को देवशक्ति के संचालक 'कुमार'—सेनानी की उत्पत्ति की भूमिका बनाया गया है। दिलीप को ऐसा ही कुमार अपेक्षित था जो न केवल उसका वंशधर या कुलतन्तु ही होता, अपितु उसकी प्रजा का लोकपालों के समान शक्तिसंपन्न होकर पालन करने वाला भी होता। '**वंशस्य कर्त्ता**' के साथ '**अनन्तकीर्ति**' कहने का उसका यही तो अभिप्राय था? कामधेनु ने दिलीप को पुत्रप्राप्ति के लिए नियंत्रित नहीं किया है अपितु प्रजाप्राप्ति के लिए नियन्त्रित किया है। उसका अभिप्राय स्पष्ट रूप से यह माना जा सकता है कि केवल वंशधर पुत्र के लिए कामधेनु का प्रसाद अपेक्षित नहीं है, प्रत्युत साम्राज्य संचालन की क्षमता रखने वाले वंशधर के लिए वह अपेक्षित है। कामधेनु की अवज्ञा करने पर भी यदि राजा को पुत्र हो गया होता तो वह निश्चित ही प्रजा का पालक नहीं, प्रत्युत शोषक सिद्ध होता। राजा भी निज को प्रजालोप—निमीलित कहता है, प्रजा भी उसे 'प्रजार्थव्रतकर्षितांग' समझती है। निश्चित ही कवि के 'प्रजा' शब्द का तात्पर्य यहाँ राज्य की प्रजा या जनता में भी है।

दिलीप का शरीर पुत्रोत्पत्ति के योग्य नहीं ऐसी बात नहीं है। वह कान्तिमान् है, वय भी नवीन है, वह अन्तर्मदावस्थ द्विपेन्द्र के समान है, वह गौ के साथ तपोवन लौटता है तो उसके भरे पूरे शरीर से रास्ता भरा सा दिखाई देता है। वह सिंह से कहता

है कि उसका शरीर शरीर नहीं, अपितु देह है—**'स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्त्तयितुं प्रसीद'**, उसमें शरीरधातु इतनी मात्रा में है कि सिंह की तृप्ति उससे भली–भाँति संभव है। —**'न पारणा स्याद् विहता तवैवम्।'** नन्दिनी का दूध दिलीप के ऐसे शरीर के लिए अपने भौतिकरूप में निश्चित ही अनावश्यक है। किन्तु प्रजा के रक्षक सर्वदमन और सिंह शिशुओं के दाँत गिनकर बढ़ने वाले भावी राष्ट्रपति का संभव पशुपक्षियों की भाँति शरीरसंश्लेष अथवा पेड़ पौधों की नाँई योषावृषाप्राणों के मेल मात्र से तो संभव नहीं, उसके लिए संकल्पवती तथा सुसंस्कृत मेधा, शिव के तृतीय नेत्र के समान विवेकाग्नि से धधकती निर्मल और अकुण्ठित प्रज्ञा भी अपेक्षित है। नीतिकार कामन्दक ने कहा **'आत्मसंस्कारसंपन्नो राजा भवितुमर्हति'** (४.४)। राजा को आत्मसंपद् से अवश्य ही युक्त होना चाहिए—

आत्मसंपद्—गुणैः सम्यक् संयुक्तं युक्तकारिणम्।
महेन्द्रमिव राजानं प्राप्य लोको विवर्धते।। का०नी०सा०४.२०।।

आत्मसंपद् का निरूपण कामन्दक ने ही इस प्रकार किया है—

वाग्ग्मी प्रगल्भः स्मृतिमानुदग्रो बलवान् वशी।
नेता दण्डस्य निपुणः कृतविद्यः स्ववग्रहः।। का०नी०सा० ४.१४।।
पराभियोगप्रसहः सर्वदृष्टिप्रतिक्रियः।
परच्छिद्रान्ववेक्षी च सन्धिविग्रहतत्त्ववित्।। १५।।
गूढमन्त्रप्रचारश्च देशकालविभागवित्।
आदाता सम्यगर्थानां विनियोक्ता च पात्रवित्।। १६।।
क्रोधलोभभयद्रोहस्तम्भचापलवर्जितः ।
परोपतापपैशुन्यमात्सर्येर्ष्याऽनृतातिगः ।। १७।।
वृद्धोपदेशसंपन्नः श्लक्ष्णो मधुरदर्शनः।
गुणानुरागी मितवागात्मसंपत् प्रकीर्तिता।। १८।।

इसी प्रकार राजा को—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः।। का०नी०सा० ४.२१।।

इस प्रकार कामन्दक द्वारा, अथवा—

'शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः' (कौ० ६.१.९६)
इस प्रकार कौटल्य द्वारा प्रतिपादित बुद्धिगुणों से भी युक्त होना चाहिए। इसी प्रकार—

दाक्ष्यं शैघ्र्यं तथामर्षः शौर्यं चोत्साहलक्षणम्।
गुणैरेतैरुपेतः सन् राजा भवितुमर्हति।।

त्यागः सत्यं च शौर्यं च त्रय एते महागुणाः।
प्राप्नोति हि गुणान् सर्वानेतैर्युक्तो महीपतिः।। का०नी०सा० ४.२२–२३।।

इन अन्य गुणों की भी राजा के व्यक्तित्व में अपेक्षा दिखलाई जाती है। कालिदास के राजा इन सब गुणों से युक्त हैं भी। रघु, जो हमारे मत से रघुवंश महाकाव्य का नायक है, उसी में ये सब गुण देखे जा सकते हैं। वह बुद्धि के सभी गुणों से युक्त है –

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः।। रघु० ३.३०।।

उसकी धीरता और शौर्य इसी से स्पष्ट हैं कि वह वज्र–प्रहार होने पर भी इन्द्र के सामने डटा रहता है –

तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते।। रघु० ३.६२।।

त्याग में रघु अद्वितीय है– **'चतुर्दिगावर्जितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद् विभूतिम्'** (६.७६)। राजा के केवल स्थूलशरीर की पुष्टि से भावी प्रशासक में ये सब गुण आना संभव नहीं। अतः प्रजापालक संतति की उपलब्धि के लिए भौतिक नन्दिनी और उसका वैसा ही दूध सक्षम नहीं। उसके लिए राजा की कोई आध्यात्मिक साधना भी अपेक्षित है। हमारा मस्तिष्क जब दिलीप के गोचारण पर इस दिशा में मुड़ता है तो महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त की–'महाकविवागियं कामधेनुः' यह उक्ति महाकवि कालिदास की वाणी में पूर्णतः संगत प्रतीत होती है। कालिदास ने नन्दिनी का जो चित्रण प्रथम से तृतीय सर्ग तक किया है उससे उसका एक दिव्यरूप भी स्पष्ट हो जाता है। हमारी दृष्टि में उसका यह रूप है 'विद्यारूप'।

नन्दिनी के पीछे उसी के पथ पर मनुष्येश्वरधर्मपत्नी सुदक्षिणा चल रही है जैसे श्रुति के पीछे उसी के अर्थ पर स्मृति–**'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'**(२.२) नन्दिनी श्रुति के समान है। नन्दिनी गुरु का धन है–**'गुरोरपीदं धनम्'** (२.४४)। गुरु का वास्तविक धन विद्या के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? इतना ही नहीं कवि ने नन्दिनी को विद्या की भी उपमा दे दी है। वसिष्ठ का आदेश है–

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम्।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि।। रघु० १.८८।।

साम्ययोजना में उपमान अप्राकरणिक के साथ साथ प्राकरणिक भी होते हैं। कालिदास में स्वयं ऐसी अनेक उपमाएँ देखी जाती हैं। कुमारसंभव में इन्द्र काम को शिवविजय के लिए आज्ञा देता है, स्वीकार कर चलते समय उसे प्रसाद के रूप में

अपनी माला उतार कर प्रदान करता है, जिसे शेषा कहा जाता है; काम उसे भी शिरोधार्य करता है। कवि दोनों की स्वीकृति को एक साथ इस प्रकार उपस्थित करता है—'तथेति शेषामिव भर्त्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदन: प्रतस्थे' (कुमार० ३.२२)। साहित्यअकादमी से संपादित कुमारसंभव के संस्करण में तो प्रक्षिप्तांशों में एक पूरा श्लोक ही दे दिया गया है जिसमें इन्द्र द्वारा काम को शेषा के दिये जाने का अभिधा में वर्णन है—

ततः स्फुरत्केसरलग्नभृङ्गं सौरभ्यसंक्रान्तदिगन्तरालम्।
ददौ हरिः सादरमीक्षमाणो मन्दारमालां मकरध्वजाय।।

भले ही यहाँ यह श्लोक प्रक्षिप्त हो किन्तु शाकुन्तल में तो स्पष्ट ही इन्द्र द्वारा दुष्यन्त को माला दिये जाने का वर्णन है—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा।।शाकु०७.२।।

स्वयं रघुवंश में अतिथि के वर्णन में 'आज्ञा' और 'शेषा' की उपमा पुन: दोहराई हुई मिलती है उससे तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है—

दूरापवर्जितच्छत्रैस्तदाज्ञां शासनार्पिताम्।
दधुः शिरोभिर्भूपालाः शेषां पौरन्दरीमिव।। रघु० १७.७९।।

बाणभट्ट भी इसी प्रकार दो प्राकरणिक पदार्थों को उपमानोपमेयभाव से प्रस्तुत करते हैं। उनके हर्षचरित में ऐसे अनेक स्थल हैं। इसी गोचारण प्रसंग में स्वयं कालिदास ऐसी ही एक योजना करते हैं—

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव संध्या ।। रघु.२.२०।।

यहाँ संध्या के समय दिलीप जंगल से लौटते हैं अत: संध्या भी प्रस्तुत है। वस्तुत: यह उपमा का एक नवीन प्रकार है जिसमें तुल्ययोगिता की वैसी ही योजना है जैसी परंपरितरूपक, पूर्णोपमा, दीपक, विरोध आदि में श्लेष की अथवा स्वयं तुल्ययोगिता आदि में सादृश्यरूप उपमा की।

इस प्रकार वसिष्ठ ने दिलीप को अपनी गौ भी दे दी और कोई विद्या भी, कदाचित् उस विद्या का भी नाम नन्दिनी रहा हो। उपनिषदों में ऐसी कथा आती भी है कि एक को सहस्र करके लाने की आज्ञा के साथ गुरु ने शिष्य को गाय देकर जंगल भेज दिया, सहस्र करके लौटने पर उसे सर्वज्ञ घोषित कर दिया गया। नन्दिनी को दिए अन्य उपमानों से भी इस तथ्य का समर्थन होता है। सुमित्रा के दो पुत्र होते हैं, तो कवि उपमा देता है—

सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ।
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव।। रघु० १०.७१।।

विद्या की आराधना की जाती है। नन्दिनी को भी कवि श्रद्धा की उपमा देता है—

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद् विधिनोपपन्ना।। २.१६।।

यहाँ नन्दिनी की देवतापित्रतिथिक्रियार्थता और दिलीप की मध्यमलोकपालता ध्यान देने योग्य हैं। यह तो पूरा श्लोक ही ऐसा है जिसे प्रकरणवशात् नन्दिनी पक्ष में और विवक्षावशात् विद्यापक्ष में समान रूप से भलीभांति अन्वित किया जा सकता है। नन्दिनी सूर्य की प्रभा के समान है—

संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः।। रघु० २.१५।।

याज्ञवल्क्य ने सूर्यरश्मियों से ही तो शुक्ल यजुर्वेद का आविष्कार किया है। हमारी सबसे प्रधान सूर्यविद्या ही तो है जिसे हम गायत्रीछन्द में जपते हैं। 'गो' शब्द स्वयं किरण का वाचक है। सूर्यशतक का —

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः ।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ।।

यह पद्य इसके लिए प्रसिद्ध ही है। नन्दिनी चान्द्रमसी सुधा के समान है (रघु० २.३९) व्याघ्रीजातक में जब बोधिसत्व को भूखी व्याघ्री खा लेती है तो उसकी अस्थियों पर पुष्पवृष्टि होती है। दिलीप जब सिंह के समक्ष सिर झुकाते हैं तो उन पर भी पुष्पवृष्टि होती है। इन दोनों पुष्पवृष्टियों पर ध्यान देने से भी प्रस्तुत विद्यापक्ष का समर्थन होता है। बोधिसत्त्व की अस्थियों पर जो पुष्पवृष्टि हुई उसका उत्तम वर्णन आर्यशूर ने इस प्रकार किया है —

तत्कर्मविस्मितमुखैरथ तस्य शिष्यैर्गन्धर्वयक्षभुजगैस्त्रिदशाधिपैश्च।
माल्याम्बराभरणचन्दनचूर्णवर्षैश्छन्ना तदस्थिवसुधा सुतरां बभूव।।

यही वर्णन रघुवंश में कालिदास ने इस प्रकार किया है—

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता।। रघु० २.६०।।

बोधिसत्त्व की अस्थियों पर गन्धर्व, यक्ष, नाग, देवता और मनुष्य पुष्पवृष्टि करते हैं और दिलीप पर 'विद्याधर'। **'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम'** के अनुसार अध्येता के पास आई विद्या को जो अध्येता प्राणपण से रक्षित रखता अथवा उसे तेजस्विनी बनाता है, वीर्यवती करता है उसका महत्व विद्याधर के अतिरिक्त आैर कौन आँक सकेगा? ये विद्याधर कदाचित् स्वयं वसिष्ठ ही हों, जैसे शाकुन्तल का मृग स्वयं कण्व

ही हैं। विद्या अपनी रक्षा पर प्रसन्न होती है—**'तस्यैष मात्रां वृणुते, योषेव पत्ये'**। नन्दिनी भी अपनी रक्षा पर दिलीप का आभार मानती है—**'भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि'** (रघु०२.६०) यह भी पूरा श्लोक दोनों पक्ष में समान रूप से लग जाता है। विद्याभ्यास से अर्जित पुण्य अध्येता की अपनी संपत्ति है, उसका वह अधिकारी है। राजा भी नन्दिनी के दूध का अधिकारी है। यह अधिकार **'प्रीतास्मि ते वत्स'** इस प्रकार 'वत्स' कहकर स्वयं नन्दिनी ने उसे दिया है और दिलीप का ही कथन है कि नन्दिनी के दूध का पहला अधिकारी उसका वत्स है—**'वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञाम— धिगम्य मात:, औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुम्'** (रघु०२.६६)। अत: वह अपना अधिकार जतलाता है—**'षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षिताया:'** (रघु०२.६६)। दिलीप ने नन्दिनी की रक्षा की है, अत: उसके दूध पर उसका अधिकार ठीक वैसे ही है जैसे रक्षित पृथ्वी के षष्ठांश पर। जब दिलीप नन्दिनी का दूध पीता है तब भी कवि अपनी ओर से कहे बिना नहीं रहता—'नन्दिनी का दूध तो दिलीप का अपना स्वयं का यश था—

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम्।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञ: शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्ण:।। रघु० २.६९।।

विद्या का आचार्यत्व उसके आचरण पर निर्भर है। नन्दिनी के छायातुल्य अनुसरण की व्यंजना कदाचित् यही है।

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथा: स्थितायां स्थितिमाचरे:।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरप:।। रघु० १.८९।।

इस पद्य की पदावली से प्रस्थान,तत्त्वज्ञान द्वारा सिद्ध सिद्धान्त, उसमें बुद्धि की स्थितता अथवा स्थितप्रज्ञता, तथा 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' आदि द्वारा प्रचारित उससे अमृत्व की प्राप्ति—अर्थ विद्यापक्ष में सरलतया निकाले जा सकते हैं। अमृतत्व योगविद्या और आयु:कल्प के ही समान गृहमेध द्वारा संतति की प्राप्ति से भी होता है। हिमालय की पृष्ठभूमि भी इस पक्ष में अनुकूल ही है, वही तो सिद्धों की साधनाभूमि है। वहीं तो विद्याधरों की सुन्दरियाँ भूर्जत्वचा पर धातुरस से अनङ्गलेखक्रिया निष्पन्न करती हैं—

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वच: कुञ्जरबिन्दुशोणा:।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम्।। कुमार० १.७।।

यहाँ क्रिया पद **'क्रिया हि द्रव्यं विनयति'** इस कौटल्य वचन के अनुसार **'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति'** में आए क्रियापद के समान विद्या का वाचक माना जा सकता है। मल्लिनाथ ने, रघुवंश में वह माना भी है। अनङ्ग का लेख आत्मोल्लेख भी माना जा सकता है। उपयोग शब्द की व्याख्या तो 'आख्यातोपयोगे' मे काशिकाकार द्वारा **'नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम्'** इस प्रकार की ही गई है। हिमालय की उस गुहा में नन्दिनी है जहाँ गंगा का प्रपात है। जब विद्या बुद्धि के वसुधानकोष का हिरण्य वन

जाती है तो वहाँ शक्ति या अमृतधारा का पात होता ही है। गुहा को बुद्धि का पर्याय माना ही गया है। वसिष्ठ उस विद्या के निगमनकर्ता हैं, दिलीप में उसका आगम हुआ है, वास्तविक स्रोत तो उसका कामधेनु है। कामधेनु वेदों की वैश्वदेवी या विश्वधायस् गौ से भिन्न और क्या है? वह प्रकृतिरूप है। वह प्राकृतिक विद्या है, जैसे तीसरे द्युलोक से सोम का आहरण करने वाली गायत्री। प्राकृतिक रूप में मेघ की विद्युत् के समान उसका विकृतिभूत– मानवोपयोगी होना संभव नहीं। उसका स्पर्श करना भयावह है। उसने दरवाजों पर साँप बैठा रखे हैं–**'भुजंगपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति।'** वह तो दीर्घसत्र के ही काम की है। प्रजापति ने जिस यज्ञ से इस सृष्टि का निर्माण किया–**'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा'** के अनुसार वही यज्ञ तो कामधुक् है, किन्तु हम उसका अनुवर्तन कर सकते हैं, संचालन नहीं। संचालनीय यज्ञ होगा जो उस प्राकृत यज्ञ की अनुकृति होगा। नन्दिनी वही तो है।

विद्या का वास्तविकरूप सरस्वती है। उसी का दूसरा नाम भारती या वाक् है। श्रुतियों में काव्यों तक वाक् को धेनुरूप चित्रित किया गया है – **'धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु'**। वागम्भृणीसूक्त इसके लिए ही प्रसिद्ध है। **'महाकविवागियं कामधेनुः'**–यह अभिनवगुप्त का वाक्य तो पहले उद्धृत किया ही जा चुका है। राजशेखर का भी यह पद्य इस विषय में अत्यन्त उल्लेखनीय है–

या दुग्धापि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
सा सदा सन्निधत्तां नः सूक्तिधेनुः सरस्वती।।

सिंह का आक्रमण भी बहुत स्पष्ट है। वह अपना पक्ष उपस्थित करते हुए 'एकातपत्र राज्य, यौवन, शरीरस्वास्थ्य' की दुहाई देता है। इतना होने पर विद्याधिगम के लिए तप की आवश्यकता ही क्या ? फिर पुत्रोपलब्धि के लिए अपेक्षित विद्यासिद्धि में अपने शरीर का नाश सचमुच एक नासमझी ही है। तपोमार्ग पर वैभव की यह करारी थपेड़ ही विद्यानन्दिनी पर कदाचित् सिंहाक्रमण है। इतना होने पर भी निष्ठा की एकतानता संस्कारदृढ़ता का प्रमाण है। यह सिंह मनुष्य की बोली में बोलता है। मानस अन्तर्द्वन्द्व की भाषा मनुष्य में मानवीय भाषा ही तो हो सकती है। शेर वृष का सोपान है। वृष प्रसिद्ध है धर्म के प्रतीक के रूप में और कहा जाता है **'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद'**। सिंह भी तार्किक है ही। राजा का स्वधर्म उस समय नन्दिनी का संरक्षण ही था। उसको खोकर भी वह अमर न होता। उसको मृत्युकवलित होना ही था। **'एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु'**–द्वारा उसने इसी दिशा में इंगित किया है। पुत्राभाव में वह अपने शरीर के बाद मृत ही होता। विद्यासिद्धि होने पर कदाचित् उसे उभयलाभ होता, नन्दिनी भी बच जाती और उसका प्रजापालक की प्राप्ति का उद्देश्य भी पूर्ण हो जाता। इसलिए गुरु के धन की महत्ता विदित होने से वह विचलित नहीं होता।

वस्तुत: द्वितीय सर्ग का कथानक बिम्बप्रतिबिम्बभाव पर निर्भर है। उसके दो पक्ष हैं एक देव, आधियज्ञिक या प्राकृतिक और दूसरा मानवीय। देवपक्ष में जो शिव हैं मानव पक्ष में वे ही वसिष्ठ हैं, क्योंकि वे 'होता' हैं और 'होता' शिव की आठ मूर्त्तियों में से अन्यतम है। देवपक्ष में जो दारु है मानवपक्ष में वही नन्दिनी है, क्योंकि देव यज्ञांशभुक् हैं और नन्दिनी होता का आहुतिसाधन है–**'होतुराहुतिसाधनम्'**। जैसे दारु या द्रुम फल द्वारा अधिकृत व्यक्ति का इष्टसाधन होता है देवों के लिए वैसे ही नन्दिनी भी है। उसका रक्षक देव या प्रकृतिपक्ष में सिंह है, मानवपक्ष में सिंहोरुसत्त्व कहा गया राजा। देवपक्ष या प्रकृतिपक्ष को मानव के बनने या बिगड़ने की कोई चिन्ता नहीं है । उसे तो अपना अस्तित्व बनाए रखना है। वह इसीलिए अमृत है। इसीलिए उसे नष्ट करने चले मानव को कुण्ठित होना ही पड़ता है। राजा भी चित्रार्पितारंभ जैसा बन गया। मानव मर्त्य है। उसकी रक्षा अधियज्ञ या प्रकृति देवभक्ति के समक्ष आत्मसमर्पण में ही है। उसका अमृतत्व इसी में है। उसी में उसकी संतति है। जब मानव अपनी विद्या अथवा अपनी शक्ति से यज्ञसाधन की रक्षा करता है, तो यज्ञांशभुक् देवता संतुष्ट ही होते हैं, रुष्ट नहीं। हाँ, रक्षा में जो कष्ट होता है, उसे प्राणपण से सहना पड़ता है। उस समय भौतिक प्रलोभनों की झंझा में ठहरना कठिन होता है।

इस प्रकार प्रजापालक राजा को पुत्र के रूप में पाने के लिए शरीर में दृढ़ता के साथ आत्मबल तथा विवेक की दृढ़ता का अर्जन भी अपेक्षित है। नन्दिनी की प्रसन्नता के व्रत का उद्देश्य इसी आत्मशक्ति की दृढ़ता है, और रघु के सामने जो नन्दिनी के प्रकट होने की घटना है उसका भी यही रहस्य है। दिलीप ने जो शक्ति अर्जित की थी पुत्र रघु में वह अपने आप संक्रान्त थी। पिता की विद्या पुत्र में वैसे ही संक्रमित हो सकती है जैसे राम की जृम्भकास्त्रविद्या कुशलव में।

इस प्रकार दिलीप का आख्यान एक ओर गोचारण का भौतिक आख्यान है और दूसरी ओर मानवशरीर में अतिमानवीय शक्तियों के अर्जन का। उसके लिए नन्दिनी को विद्यारूप मानने पर दिलीप द्वारा केवल उसे कामधेनु मानने, साथ साथ सोने और उठने, छाया के समान गौ का अनुसरण करने आदि के समस्त प्रश्न समाहित हो जाते हैं। हमारी समझ में रघुवंश का यह आख्यान किसी भी उत्कृष्ट महामानव की जन्मशुद्धि का आख्यान है, जिसमें शरीर के साथ ही आत्मसंपत् को भी दृढ़ बनाने का मंत्र है। वह मानो पूर्णमानव की संभवविद्या है।

संक्षेप में नन्दिनी एक भौतिक गौ भी है, और विद्या भी। यह विद्या है महाविद्या, जिसका अनुवर्तन उत्कृष्ट लाभ के लिए प्रत्येक मानव के लिए अपेक्षित है।



प्रकृति-मानव-रसक्षेत्र और कालिदास

(१) प्रकृति

भारतीय साहित्य में प्रकृतिशब्द अंग्रेजी के 'नेचर' शब्द के अर्थ तक सीमित न होकर अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ प्रकृतिशब्द चराचरात्मक समस्त विश्व के लिए प्रयुक्त होता है। इस कारण भारतीय कवियों में प्रकृति के रूप में बृहत्तम ब्रह्मा से लेकर सर्वाधिक लघु च्यूँटी तक जो जीवयुक्त जगत् है और परम अणु से लेकर हिमगिरि तक जो जड़ और स्थावर जगत् है वह सब, साथ ही वृक्ष, वनस्पति, कान्तार, जलाशय, षड्तुचक्र, संवत्सरचक्र और तद्गत सुन्दर असुन्दर सभी कुछ प्रकृति की सीमा में आता है। पशु पक्षी सरीसृप आदि की भी गणना इसी के भीतर हो जाती है। इसका अर्थ यह कि देशतत्त्व और कालतत्त्व से युक्त जो हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्मबीज से उत्पन्न 'अण्ड' है वह है प्रकृति। प्रकृतिशब्द सांख्यशास्त्र में प्रयुक्त है, किन्तु वह केवल जड़ है, उसका अर्थ है 'तीनगुण' = 'त्रैगुण्य'। वहाँ 'चेतन' है पुरुष, जो त्रैगुण्य से भिन्न है। प्रकृति और पुरुष का जो परस्पर में मिश्रण है उसे कदाचित् 'नेचर' या 'प्रकृति' कहा जा सकता है। यह विषय हरिवंश आदि में विस्तारपूर्वक प्रस्तुत है। महाकवि कालिदास ने भी कुमारसंभव के द्वितीय सर्ग में यह विषय प्रस्तुत कर दिया है जहाँ देवलोग ब्रह्माजी के पास पहुँचते और उनकी स्तुति करते हैं। कवि के ही शब्दों में—

तस्मिन् विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः ।
तुराषाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः ।। २.१।।
तेषामाविरभूद् ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम् ।
सरसां सुप्तपद्मानां प्रातर्दीधितिमानिव ।। २.२।।
अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम् ।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे ।। २.३।।

विश्वमात्र का धारण करने वाले चारों दिशाओं की ओर उन्मुख चार मुखों से युक्त, और वाणी के स्वामी ब्रह्माजी को प्रणाम कर देवताओं ने स्तुति करना आरम्भ किया—

सृष्टि होने के पहले रहते हैं आप अकेले। सृष्टि होती है तीनों गुणों के विषम मेल से। उसके लिए आप अकेले ही बन जाते हैं 'त्रिमूर्त्ति' ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र (कुमार० २.४)।

उस समय आप सर्वत्र फैले जल में अपना बीज बो देते हैं। उसी से यह चराचरात्मक विश्व उत्पन्न हो जाता है, अतः इसके प्रभव (उत्पत्तिस्थान) आप ही माने जाते हैं (कुमार० २.५)।

आपकी ही तीन अवस्थाएँ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र कहलाती हैं। ये तीनों हैं आपकी महिमाएँ। इन्हीं के कारण आप सर्ग—स्थिति—प्रलय अथवा प्रलयस्थितिसर्ग के कारण बन जाया करते हैं (कुमार० २.६)।

जो सृष्टि पहले संकल्पमात्र से हो जाया करती थी वही जब मैथुन से उत्पन्न होने लगी तो उसके लिए अपेक्षित स्त्री और पुरुष दोनों आप ही बन गए। ये ही दो भाग आगे हुई सृष्टि के माता पिता कहलाए (कुमार० २.७)।

काल आपका ही स्वरूप है। उसकी भिन्न भिन्न परिणतियों से आपने ही रात और दिन का विभाजन कर दिया। जब आप सोते हैं तब इस संपूर्ण का प्रलय हो जाता है और जब आप जागते हैं तब उदय (कुमार० २.८)।

आपसे आपके द्वारा निर्मित जगत् का इतना ही अन्तर है कि आप अयोनि हैं जबकि जगत् की योनि आप ही हैं, आपका अन्त नहीं, अतः अनन्त हैं आप, किन्तु आपके द्वारा निर्मित जगत् का अन्त होता है आप ही में। आप अनादि हैं, किन्तु जगत् के आदि हैं, स्वयं आप के ऊपर कोई ईश नहीं, किन्तु आप हैं इस संपूर्ण जगत् के ईश (कुमार० २.९)।

आपको आप ही जान पाते हैं, रामकृष्णादि का जो अवतार होता है उसमें भी केवल आप ही कारण हुआ करते हैं। आप ही हैं इस जगत् के उपादान और आपही हैं निमित्त (कुमार० २.१०)।

आप द्रव भी हैं और संघातरूप में कठिन भी, आप ही सूक्ष्म हैं और आप ही स्थूल भी, आप ही हैं लघु और आप ही गुरु, आपही हैं व्यक्त और आप ही हैं अव्यक्त। यह है आपका विभूतियों में प्राकाम्य (कुमार० २.११)।

वेद आप से ही आविर्भूत होते हैं (कुमार० २.१२), आप ही प्रकृति और आप ही उसके द्रष्टा पुरुष (कुमार० २.१३)।

आप ही हैं पितरों के भी पितर, अतएव पितामह। देवताओं के देव आप ही हैं। परों से भी पर आप ही हैं। (कुमार० २.१४)।

आप ही हैं हव्य, आपही हैं होता, आप ही हैं भोज्य और आप ही भोक्ता, आप ही हैं वेद्य और आपही हैं वेदिता। आप ही हैं पर ध्येय और आप ही हैं ध्याता (कुमार० २.१५)।

यह जो सृष्टि है इसमें पाँचों भूतों के पञ्चीकरणविधान[१] से संख्यातीत रूप निष्पन्न हो जाते हैं। उनमें जो हृदयावर्जक होते उन्हें सुन्दर कहा जाता और जो ऐसे नहीं होते उन्हें कहा जाता असुन्दर। इस प्रकार 'सौन्दर्य है हृदयावर्जनक्षमता' जिसका होगा परिणाम के आधार पर अनुमान। जहाँ हृदयावर्जन की क्षमता वह सुन्दर। फलतः व्यक्तिभेद से सुन्दर भी असुन्दर ठहराया जा सकेगा और सुन्दर भी असुन्दर। तो, यह हुई प्रकृति। अब आइए मानव पर।

(२) मानव

मानव होता है या तो स्त्रीरूप या फिर पुरुषरूप। ये दोनों कालिदाससाहित्य में अत्यन्त स्वस्थ और सुन्दर रूप में प्रस्तुत हुए हैं। दोनों में से स्त्री के सौन्दर्य का वर्णन कुमारसंभव में भगवती पार्वती के सौन्दर्यवर्णन में प्रस्तुत हुआ है, शाकुन्तल में शकुन्तला के सौन्दर्यवर्णन में, विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के सौन्दर्य के वर्णन में और मालविकाग्निमित्र में मालविका के सौन्दर्य के वर्णन के रूप में। मेघदूत में भी यक्ष अपनी यक्षी को विधाता की आद्यसृष्टि कहता है। इनमें से पार्वती के सौन्दर्य का वर्णन कुमारसंभव के प्रथम, तृतीय, पञ्चम, सप्तम और अष्टम सर्ग में विविध रूपों में मिलता है। इस पर आनन्दवर्धन ने ध्यान दिया और आठ सर्गों के काव्य में एक ही वस्तु का पाँच पाँच बार वर्णन और वह भी समानरूप से आकर्षक। प्रतिभा का है यह विस्मयकारी उद्रेक।

पुरुष के वर्णन लिए कवि दिलीप और रघु के शरीर का वर्णन करता है दिलीप को वह दृढ़ वक्षःस्थल, सुपुष्ट कन्धे, वृक्षों जैसी ऊँचाई और लम्बे बाहुओं से युक्त बतलाकर कहता है 'मानों क्षत्रिय धर्म ही शरीरधारण करके उपस्थित था' उस दिलीप के रूप में।

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः सालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इव श्रितः।। रघु० १.१३।।

दिलीप के पुत्र रघु को भी कालिदास ने इसी प्रकार सुपुष्ट चित्रित किया है–

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः।
वपुःप्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत।। रघु० ३.३४।।

---

१. पञ्चीकरण में प्रत्येक भूत अपने आधे भाग में शेष चारों भूतों के अष्टमांश से जुड़ा रहता है। जैसे पृथिवी का आधा अंश और उसमें 1/8 जल 1/8 तेज 1/8 वायु और 1/8 आकाश। 1/8+1 8+1/8+1/8= ½ मिश्रित + ½ शुद्ध = १। इसी प्रकार जल आदि का मिश्रण होगा। आधा अंश जल और 1/8 पृथिवी, 1/8 तेज, 1/8 वायु तथा 1/8 आकाश = ½ + ½ शुद्ध। इस पञ्चीकरण का नियन्त्रण त्रैगुण्य पर रहता है, अतः इन सभी के विषम परिणाम अनेक रूपा में व्यक्त हो जाते हैं।

रघु के शरीर में यौवन आया तो पिता के शरीर से उसका शरीर अधिक सुपुष्ट लगने लगा। उसकी भुजाएँ गाड़ी में जुते वृषभ के कन्धों पर रखे जुए सी लम्बी हो गईं, कन्धे भर गए और वक्षःस्थल कपाट जैसा विस्तीर्ण हो गया। उसने आगे चलकर अपने वक्षःस्थल पर इन्द्र के उस वज्र को भी विफल कर दिया जो पर्वतों पर भी चूका नहीं था (रघु० ३.६३)। इन्द्र ने स्वीकार किया और कहा कि 'पर्वतों पर भी विफल न होने वाला मेरा वज्र यदि कहीं विफल हुआ तो हे मानवश्रेष्ठ रघो! तेरे वक्ष पर।' अन्त में यही रघु योगसमाधि साधता और उसी से शरीर छोड़ तम से परे अव्यय पुरुष बन जाता है—

तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः। (रघु० ८.२४)

यह हुआ कालिदास का सफल मानव। अब लें रस।

(३) रस

'रस' ऐसी परिभाषा है जो दोनों अर्थों में प्रयुक्त मिलती है 'विषयी' अर्थ में भी और 'विषय' अर्थ में भी। विषयी 'आस्वाद' और विषय 'आस्वाद्य'। इक्षुरस विषय है उसके आस्वाद का। इक्षुरस के आस्वादन से जो आस्वाद या आनन्द मिलता है वह है विषयी। 'मजा आ गया' यह उद्गार उस अनुभव को स्पष्ट करता है जो इक्षुरस के पान से हुआ और जिससे पानकरने वाले की अन्तरात्मा को तृप्ति मिली। यह हुआ विश्लेषण आस्वाद्य और आस्वाद के संबन्ध का। मानव प्रकृति के दर्शन करता और आत्मविभोर होता है। यह है उसकी यात्रा 'प्रकृति+मानव+रस'= 'Nature, Humanbeing and Bliss' इस अंग्रेजी—त्रिक तक की। कालिदास उस समय हुए जब साहित्यशास्त्र के रूप में केवल भरतमुनि का नाट्यशास्त्र बन पाया था, उसका भी वही अंश जिसमें रसों की संख्या [१]आठ थी और उसमें शान्त रस पृथक् रस के रूप में नहीं जुड़ा था। बाद में उसे भी जोड़ दिया गया और आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने उसे अत्यधिक महत्त्व दे दिया, यद्यपि कलाजन्य सभी आठ रसों को शान्तप्राय भी इन्हीं आचार्यों ने कहा। आगे रसों की संख्या शान्तरस को पृथक् रस के रूप में ग्रहण कर लेने से ९ हुई और भोजराज में वहीं 'वात्सल्य' रस को जोड़ दिया। उधर उपनिषदों में 'तत्' तत्त्व को 'रसो वै सः' कहा जा चुका था, अतः ब्रह्मरस प्रसिद्ध था ही। ब्रह्म में द्वैत नहीं, अतः कलाप्रसूत सभी रसों का अन्तःसूत्र बनने वाला ब्रह्मरस भी उसमें जोड़ा गया। तब सभी रसों को दो वर्गों में बाँट दिया गया १. अलौकिक और २. लौकिक। लौकिक यानी मानवात्मा का अनुभव और अलौकिक यानी आत्मा में जब दिव्यता आ जाए तबका अनुभव यानी ब्रह्मानुभव। मानवात्मा में ब्रह्मत्व आता है उस पर पड़े घेरों के

---

१. 'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः' विक्रमोर्वशीयम् २.१७

हटने से। इन्हीं घेरों को कहा गया 'माया' या 'कञ्चुक'। आनन्द तो कला आत्मा की ही है, अतः यदि किसी वस्तु या घटना से आनन्द का अनुभव होता है तो उसका सीधा अर्थ यह है कि अनुभविंता अपनी आत्मा तक पहुँच जाता है। परिणामतः गणितीय निष्कर्ष यह कि 'रस' केवल 'चिति' है इसलिए एक ही है। उसमें जुड़ी अन्य सामग्री में अनेकता है अतः उस सामग्री की गणना ८, ९, १०, तक की जा सकती है।

कलाजन्य आस्वाद जब एक तो रस भी एक। उसे अन्य किसी नाम से पुकारना हो तो वह नाम होगा 'शृङ्गार'। शृङ्ग यानी मानस उत्सेध, उद्रेक। उस तक पहुँच 'आर'। 'शृङ्ग+आर'= शृङ्गार। यह स्थिति सभी रसों में होती है, शृङ्गार पशुपक्षिजगत् तक भी व्याप्त है, अतः एक नाम चुनते समय 'शृङ्गार' नाम का चुना जाना अग्निवंश के विचारकों को तर्कसंगत लगा, अतः एकरसवाद में उन्होंने पक्ष प्रस्तुत किया 'शृङ्गार एवैको रसः'। अग्निपुराण में इस वाद को महत्त्व मिला था और अग्निवंश के महान् सौन्दर्यशास्त्री धारानगरी के परमारवंशीय शासक महाराज भोज ने घोषणा कर दी—

शृङ्गार—वीर—करुणाऽद्भुत—रौद्र—हास्य—
बीभत्स—वत्सल—भयानक—शान्त—नाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।।

वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदावभाति।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेतामेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः।।

'सुधीजनों ने रस की संख्या १० मानी— 'शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, रौद्र, हास्य, बीभत्स, वत्सल, भयानक और शान्त'। किन्तु हमें रसन व्यापार केवल एक शृङ्गार में अनुभव होता है, अतः हम (भोज) तो केवल शृङ्गार को ही रस मानते हैं।

'वीर अद्भुत' आदि में जो यह प्रसिद्धि है कि ये रस हैं यह यूँ ही चल पड़ी है वटयक्ष के समान। जैसे लोग कहना शुरू कर देते हैं— 'इस वट पर यक्ष रहता है'। यह कोई नहीं जानता कि इस झूठे प्रचार का आरम्भ कहाँ से हुआ, और इसमें सत्य कितना है।' —(शृङ्गारप्रकाश आरम्भ)

अपनी 'शृङ्गार—परिभाषा' का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया—

अप्रातिकूलिकतया मनसो मुदादे—
र्यः संविदोऽनुभवहेतुरिहाभिमानः।
ज्ञेयो रसः स रसनीयताऽऽत्मशक्ते
रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः।। (शृङ्गारप्रकाश)

'रस है अभिमान, जो हेतु है आनन्द (मुदादि) के अनुभव (संवित्) में। यह अनुभव होता है मनके प्रतिकूल स्थिति के निराकरण से।
अभिमान रस इसलिए है कि उसमें विषयं (रसनीय) बनती है 'आत्मशक्ति, रति आदि नहीं, उन्हें रस कहना तथ्यशून्य है।

ज्ञातव्य है कि 'रस, अभिमान, अहंकार और शृङ्गार' घट कलश के समान परस्पर में एक दूसरे के पर्याय हैं। शृङ्गारप्रकाश के एकादश प्रकाश में यह तथ्य इस प्रकार स्पष्ट कर दिया गया है–

नायं रस: शृङ्गाराख्य: सर्वस्य जायते, कस्यचिदेवाऽसाधारणाऽदृष्टरूपप्रत्यगात्म–गताऽनादिवासनानुबन्धिधर्मकार्यत्वेनास्य दृष्टत्वात्। तदेव तु धर्मकार्य–रूपाऽदृष्टस्याऽहङ्कारगुणविशेषत्वं ब्रूम:। एष एव चाहङ्काररूपो गुणविशेष: शृङ्गार इति, अभिमान इति, रस इति च। तत एते रत्यादयो जायन्ते। तैश्चायं प्रकर्षप्राप्तै: सप्तार्चिरर्चिश्चयैरिव प्रकाशमान: शृङ्गारिणामेव स्वदत इति

(शृङ्गारप्रकाश पृष्ठ ६६५ HOS- संस्करण १९९८)।

यही तथ्य शृङ्गारप्रकाश के आरम्भ में भी कह दिया गया–

आत्मस्थितं गुणविशेषमहङ्कृतस्य शृङ्गारमाहुरिह जीवितमात्मयोने:।
तस्यात्मशक्तिरसनीयता रसत्वं युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवाद:।।
सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा जन्मान्तराऽनुभवनिर्मितवासनोत्थ:।
सर्वात्मसंपदुदयातिशयैकहेतुर्जागर्त्ति कोऽपि हृदि मानमयो विकार:।।

शृङ्गार है अहङ्कार का एक विशिष्ट गुण जो आत्मा में रहता है। वही है आत्मयोनि (ब्रह्मदेव और कामदेव) का प्राण। उसे रस इसलिए कहा जाता है कि उसका आस्वाद लेती रहती है आत्मशक्ति और उस (शृङ्गाररस) से युक्त व्यक्ति को 'रसिक' नाम से पुकारा जाता है।
'मान' नामक एक ऐसा विकार है जो हृदय में जागता रहता है, उसी से सातिशय उदय पाती हैं सभी आत्मसंपत्। यह उत्पन्न होता है एक प्रकार के अमल धर्म से उन्हीं व्यक्तियों में जिनमें रहता है सत्त्व। इसके उदय में कारण बनती है पूर्वजन्म के अनुभवों से निर्मित वासना।

यहाँ मानमय के स्थान पर मानवत: (मान से युक्त) पाठ भी है। अगले पद्य में भोजराज ने उसी का प्रयोग करते हुए लिखा–

तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये सौभाग्यमेव गुणसंपदि वल्लभस्य।
लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनाया: शृङ्गार एव हृदि मानवतो जनस्य।।

जिसे सामान्य बोलचाल में तात्पर्य माना जाता है, काव्य में ध्वनि, प्रिय के गुणों

में सौभाग्य (प्रिया पर प्रिय का प्रेम), उत्तम अंग की सुन्दरी में लावण्य उसी तत्त्व को मान से युक्त व्यक्ति के हृदय में कह दिया जाता है शृङ्गार।

इसी सिद्धान्त को भोजराज ने अपने अन्य ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरणालंङ्कार' में इस प्रकार प्रस्तुति दी है–

रसोऽभिमानोऽहङ्कारः शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।
विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु।
आत्मसंपद्गुणोद्भूतेरेको हेतुः प्रकाशते।। (५.१–२)

भोजराज के इस सिद्धान्त की यह विशेषता है कि इसमें 'रति, हास, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, उत्साह, भय और विस्मय' ये सभी (स्थायी) भाव उपर्युक्त शृङ्गाररूपी अभिमान से जन्म लेते हैं। अर्थ यह कि 'हास्यरस, करुणरस, बीभत्सरस, वीररस, रौद्ररस, अद्भुतरस, भयानकरस और शृङ्गार रस' इन रसों के जो स्थायी भाव हैं 'हास, शोक, जुगुप्सा, उत्साह, क्रोध, विस्मय, भय और रति' ये सब केवल शृङ्गारनामक उपर्युक्त धर्म से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शृङ्गार (अहङ्कार) –

रति	हास	शोक	क्रोध	उत्साह	भय	जुगुप्सा	विस्मय
शृङ्गार	हास्य	करुण	रौद्र	वीर	भयानक	बीभत्स	अद्भुत

यह बना इनका कार्यकारणभावमूलक विकास–वृक्ष। इसका अभिप्राय यह कि भोज जिसे शृङ्गार कहते हैं वह सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृतिपरिवेष्टित पुरुष ही है। यह भी ध्यान रखना है कि भोज के मत में रति ही नहीं, हास, शोक आदि सभी भाव शृङ्गार से ही उत्पन्न माने जा रहे हैं, किन्तु यह शृङ्गार है अहंभाव, आत्मचैतन्य या सहृदय का अन्तःकरणविशिष्ट आत्मचैतन्य। इससे जब रति जन्म लेती है तो उसकी परिणति जिस रस के रूप में होती है उसे भी शृङ्गार कहा जाता है। 'शृङ्गार >रति >शृङ्गार' यह बनी यहाँ स्थिति। इसी प्रकार शृङ्गार >हास >हास्य, शृङ्गार >शोक >करुण, शृङ्गार > क्रोध >रौद्र, शृङ्गार >उत्साह >वीर, शृङ्गार >भय >भयानक, शृङ्गार >जुगुप्सा >वीभत्स, शृङ्गार >विस्मय >अद्भुत।

इसी से परम्परा आरम्भ हुई एकरसवाद की। तदनुसार 'नारायण'नामक विद्वान् ने अद्भुत को ही रस माना। नारायण साहित्यदर्पणकार के पूर्वपुरुष थे संभवतः। किसी आचार्य ने केवल शान्त को ही रस माना जो कुछ दूर तक ठीक है, किन्तु भवभूति के नाम पर जो करुण को ही मुख्य रस मानने का प्रवाद है वह अमान्य है। वस्तुतः 'एको रसः करुण एव' यह उद्गार उत्तररामचरित के तृतीय अंक तक सीमित उद्गार

है। उस अंक को एक स्वतन्त्र नाटक माना जा सकता है। उसमें नान्दी भी है और 'एको रस: करुण एव' यह भरतवाक्य भी। 'वासन्ती' की देन उत्तररामचरित की प्रमुख देन है, वैसे ही जैसे महाराज जनक के भीतर क्षोभ। राम को उलाहना देने का साहस वासन्ती के अतिरिक्त किसको हो सकता था। उसका उत्तर मूर्च्छित होना मात्र था। कवि ने उसे पँहचाना और प्रस्तुत किया। यह घटना भी इसी तृतीय अंक में आती है।

भोज के अनुसार भाव का उदय रस से होता है, न कि रस का भाव से, जैसा कि भरत ने माना था। किन्तु यहाँ सावधानी बरतनी चाहिए और यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ रस का अर्थ 'अभिमान या अहंकार' रूप शृङ्गार है, न कि स्त्रीपुरुषनिष्ठ शृङ्गार। सरस्वतीकण्ठाभरण में इस तत्त्व को इस प्रकार स्पष्ट किया गया—

आलम्बनविभावेभ्यस्तेभ्यस्तेभ्य: समुन्मिषन्।
रसो रस्यादिरूपेण भाव इत्यभिधीयते।। ५.१३।।

इस सिद्धान्त के अनुसार कुमारसंभव के रतिविलाप में पहले सामाजिक में उसके अहंभावात्मक शृङ्गार को जन्म मिलेगा, उससे उत्पत्ति मिलेगी शोकनामक भाव को और उसकी चर्वणा होगी 'करुण—रस' के रूप में परिणत। इसी प्रकार अन्य रसों में भी रसों से ही उत्पन्न होंगे भाव। भाव होंगे अनेक, किन्तु शृङ्गारनामक रस होगा एक।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना होगा कि भरतमुनि के रससूत्र में 'विभावादि के संयोग से रसनिष्पत्ति' की जो बात कही गई है इसमें विभावादि का संयोग होगा सामाजिक के चैतन्य से जो स्वयं आनन्दात्मक भी है अत: रस भी है। इस संयोग से विभावादि जैसे होंगे वैसे ही भाव (रत्यादि) का जागरण होगा, जैसा कि कहा जा चुका है। ध्वनिसंप्रदाय में उत्पत्ति मानी है भावों से रसों की। ठीक उल्टी स्थिति। ध्वनिसंप्रदाय में विभावादि का संयोग माना जाता है स्थायी भाव नाम से पुकारे गए रत्यादि भावों के साथ। इस संयोग से होता है आत्मा पर पड़े माया के आवरण का भङ्ग। अब अनावृत आत्मचैतन्य के द्वारा होता है उन भावों का आस्वाद, जिसमें स्वयं आत्मा भी विषय बनता है यानी आत्मा स्वयं अपना भी आस्वाद करता है। इस प्रकार सामग्री कुल मिलाकर एक ही है, किन्तु भोज के मत में पहले सहृदयचैतन्य रूप शृङ्गार को उन्मेष मिलता है और स्त्रीपुरुषसंयोगादि सामग्री से उन्मिषित शृङ्गार को उसके पश्चात् जो भोज के अनुसार भावमात्र होता है। इस प्रकार ध्वनिमार्गी जहाँ रत्यादिसंवेष्टित चिति को रस मानते हैं वहाँ भोजराज केवल चिति को, वे रसभूमिका से रत्यादिभावों को पीछे छोड़ देते हैं। सर्वथा रसत्व का केन्द्र इन दोनों संप्रदायों में चिति ही है, भावादि को इसमें ध्वनिसंप्रदाय जोड़े रखता है और भोज का शृङ्गारवाद उन्हें पीछे छोड़ केवल 'अहंभाव' या 'आत्मतत्त्व' को रस मानता है। हमने भी अपने **'रसभोग'** नामक ग्रन्थ में सिद्धान्तवाक्य के रूप में लिखा है **'रसश्चित्'** (कारिका १५,३९)। इस भूमिका से

लाभ यह है कि इस एक ही लक्षण से 'महारस, ब्रह्मरस, लय, चमत्कार' आदि सभी आनन्द अपनाए जा सकते हैं। महिम्नःस्तुति में नामभेद को महत्त्व न देते हुए केवल तत्त्व को महत्त्व दिया गया है यह कहते हुए कि—'भगवन् ! आपके 'भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, महादेव, भीम तथा ईशान' ये जो आठ नाम हैं इनमें से प्रत्येक के पीछे समान रूप से विद्यमान रहती जो आनन्दरूप चिति है वह तो आप ही हैं'—

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहाँ—
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम् ।
अमुष्मिन् प्रत्येकं प्रविचरति देव! श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रविहितनमस्योऽस्मि भवते ॥

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः ।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः ॥ (महिम्नःस्तोत्र २७,२९)

इस प्रकार नाममात्र में भेद दिखलाया गया, वस्तुतत्त्व में नहीं।

महाकवि कालिदास में भी ये सभी विषय यथावत् प्रतिपादित मिलते हैं। उदाहरणार्थ— 'पञ्चमहाभूत, सूर्य, चन्द्र तथा यजमान (चैतन्य)' इनकी समष्टि है 'अष्टमूर्त्ति' नामक शिव। यह ईश्वर हमारे सामने उपस्थित और हमारे लिए प्रत्यक्ष है। अपने तीनों नाटकों के नान्दीश्लोकों में वे इस 'अष्टमूर्त्ति' को प्रणाम करते हैं। शाकुन्तल में तो वे यह भी कह देते हैं कि इन आठ आठ रूपों में 'ईश' प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है—

(क)	**१. या सृष्टिः स्रष्टुराद्या**	जो प्रजापति की प्रथम सृष्टि है अर्थात् **जल**
	२. वहति विधिहुतं या हविर्	जो विधिपूर्वक होम किए हविष्य का वहन करती है = **यज्ञाग्नि**
	३. या च होत्री	जो हवन करती है, **यजमान**
(ख)	**४-५. ये द्वे कालं विधत्तः**	जो दो काल का विधान करती हैं, **सूर्य, चन्द्र**
	६. श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्	जिसका गुण है शब्द और जो विश्व को व्याप्त किए हुए है—**आकाश**
(ग)	**७. यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति**	जिसे कहा जाता सभी बीजों की प्रकृति **पृथिवी**

८. **यया प्राणिनः प्राणवन्तः** जिससे सभी प्राणी प्राणवान् हैं, **वायु**

(घ) **प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नाँस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥**

यहाँ (घ) में **'प्रन्नाँस्त०'** के स्थान पर अन्य सभी संस्करणों में **'प्रपन्नस्त०'** पाठ छपा है या प्रसन्नस्त०। यह ब्राह्मी लिपि की ठीक पँहचान न करने का परिणाम है। ईश्वर के अनुग्रह के लिए 'प्रपत्ति' अपरिहार्य है। यह स्वयं कालिदास की घोषणा है —

'स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभः'

'शिव सुलभ होते हैं स्थिर भक्तियोग से।' विक्रमोर्वशीय नान्दी

मालविकाग्निमित्र में भी वे इसी अभिप्राय को व्यक्त करते और लिखते हैं —

'एकैश्वर्य—स्थितोऽपि प्रणतबहुफलो यः स्वयं कृत्तिवासाः'

'जो पहने हुए हैं गजचर्म, जबकि प्रधान ऐश्वर्य में अवस्थित हैं। इसमें प्रमाण? प्रमाण है 'प्रणत भक्तों को प्रदान विविध फल'। स्वयं कृत्तिवास क्यों? 'अपरिग्रहयोग' के कारण।

ये सभी अभिप्राय सिद्ध होते हैं **'प्रपन्नाँस्त०'** पाठ मानने पर ही[१]।

यह भी कहा चुका है कि 'प्रपन्न' और 'प्रसन्न' इन दोनों विशेषणों को हटा देने पर भी वाक्यार्थ में कोई कमी नहीं आती, क्योंकि इन दोनों के बिना भी केवल **'ताभिः प्रत्यक्षाभिरष्टाभिस्तनुभिरीशो वोऽवतु'** इतना कहना भी पर्याप्त है। 'प्रपन्नान्' पाठ मानने पर यह दोष तो समाप्त हो ही जाता है = 'वाच्याऽवचन' नामक एक दूसरा दोष भी रुक जाता है। अब 'प्रसन्न' पाठ का अवसर ही नहीं।

कालिदास 'पुरुष' पर आश्रित 'प्रकृति'—मण्डल के प्रेमी हैं। यह तथ्य रघुवंश के पञ्चम सर्ग में कौत्स नामक स्नातक से सम्राट् रघु द्वारा पूछे गए सात प्रश्नों से स्पष्ट है। कौत्स महर्षि वरतन्तु का शिष्य था। गुरुदक्षिणा देने के लिए उसे १४ कोटि मुद्राएँ अपेक्षित थीं। उनके लिए उसने भेंट की सम्राट् रघु से। सम्राट् ने कौत्स से पूछा—

१. **अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे! कुशली गुरुस्ते।**
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं चैतन्यमुग्रादिव दीक्षितेन॥ रघु० ५.४॥

'हे कुशाग्रबुद्धे! तुम्हारे गुरु तो सकुशल हैं जिनसे तुमने उसी प्रकार ज्ञान पूरी मात्रा में प्राप्त किया है जिस प्रकार दीक्षित (यजमान) भगवान् शिव की उग्रमूर्त्ति से प्राप्त करता है चैतन्य।' दीक्षित अपनी चेतना यज्ञाग्नि में डाल देता है तब उसे 'उग्र' मूर्त्ति से नवीन चेतना प्राप्त होती है।

---

१. हमनें अपनी कालिदासग्रन्थावली (१९८६) में यही पाठ मूल में छापा है।

भारतीय शिक्षाविधि और गुरुशिष्य–परम्परा के विषय में क्या रह जाता है कहने को शेष इसके आगे। यह उपमा अन्य किसी कवि ने नहीं दी। रघु का द्वितीय प्रश्न था–

२. **कायेन वाचा मनसाऽपि शश्वद् यत् संभृतं वासवधैर्यलोपि।**
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत्।। रघु०५.५।।

महर्षि के त्रिविध तप में विघ्न तो नहीं आ रहे हैं, जिसे काय, वाणी और मन से इकट्ठा किया गया है और जिससे इन्द्र का धैर्य छूटने लगता है।

३. तृतीय प्रश्न है आश्रमपादपों के विषय में–

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम्।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम्।। रघु० ५.६।।

आश्रम के वृक्षवनस्पति पर बवण्डर आदि का उपद्रव तो नहीं है, जिन्हें आप सबने आधार (टेकी) बन्ध (बाँधना) आदि प्रयत्नों से पुत्र के समान बढ़ाया है और जो आपका श्रम दूर कर देते हैं।

४. चतुर्थ प्रश्न है मृगसन्ततिविषयक–

क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः।। रघु० ५.७।।

मृगियों के छौने तो प्रसन्न एवं स्वस्थ हैं, जिनकी नाल आप लोगों की गोद में ही गिरती है और उन पर वात्सल्य इतना कि यज्ञकार्य के लिए संचित कुशों को भी वे खा सकते हैं।

५. पाँचवाँ प्रश्न है तीर्थजल से सम्बन्धित–

निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम्।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित्।। ५.८।।

जिनसे आप सबका नियमित स्नान संपन्न होता, जिनसे आप पितरों को अंजलि प्रदान करते और जिनकी वालु पर रखे रहते [1]उञ्छ के छठे भाग, वे तीर्थ (जलाशयों) के जल तो ठीक हैं?

६. छठा प्रश्न है कृषि से संबन्धित–

नीवारपाकादि कडङ्गरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित्।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः।। ५.९।।

शहर के पशु आपकी नीवार आदि की फसल चर तो नहीं लेते? उन्हीं से आप सब समय पर उपस्थित अतिथि की सेवा करते और उन्हीं से अपना शरीर बचाते हैं।।

---

१. खेत में गिरे अन्नकण बटोरना। उसका भी छठा भाग राज्य के कर के रूप में अलग कर देना।

७. सातवाँ प्रश्न है समाजविषयक। समाज निर्भर करता है सन्तति पर। सन्तति निर्भर करती है विवाह पर। वह संभव है द्वितीय (गार्हस्थ्य) आश्रम पर। रघु उसी पर प्रश्न करते हैं—

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग् विनीयाऽनुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते।। ५.१०।।

महर्षि वरतन्तु ने प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें विवाह की अनुमति दे दी है न? अब उपस्थित है सर्वोपकारक्षम द्वितीय (गृहस्थ) आश्रम में प्रवेश का समय।

ध्यान दीजिए इन प्रश्नों पर। इनमें चर और अचर दोनों प्रकार की प्रकृति महाकवि कालिदास की प्रतिभा में मनुष्य की सहचारिणी लग रही है। कितना अधिक है कवि को मानवीयता के साथ साथ उसके पर्यावरण का ध्यान?

द्वितीय आश्रम में जो सन्तति उत्पन्न होती है वह पुत्र रूप भी होती है और पुत्रीरूप भी। पुत्र हो या पुत्री, कालिदास की दृष्टि में उसका शरीरिक, मानसिक और शैक्षणिक विकास विधिवत् होना चाहिए। शिक्षा में पुरुषों के लिए सभी चौदह विद्याओं का अभ्यास और प्रशिक्षण आवश्यक है। वे संगीत और नाट्यकला में भी दीक्षित हों और चित्रकला में भी। शस्त्रास्त्रों के अभ्यास भी उनके लिए अनिवार्य हैं। इनके उदाहरण हैं कालिदास के कुमार रघु, आयु, वसुमित्र, सर्वदमन और कार्त्तिकेय। कहा जा चुका है कि रघु का शरीर ठीक से परिपुष्ट हुआ था और बल तथा शस्त्रविद्या में वे इतने प्रौढ़ थे कि उन्होंने इन्द्र के उस वज्र को भी विफल कर दिया था जो पर्वतों पर भी सदा सफल रहा। आयु ऐसा कुमार है जो अपने पिता से आगे बढ़ा हुआ है अस्त्रविद्या में और वह उस गृद्ध को मार गिराता है जो 'संगमनीय'—मणि को मांसपिण्ड समझकर ले भागा था और जिसे स्वयं पुरूरवा अपने बाण का निशाना नहीं बना सके थे। वसुमित्र पितामह पुष्यमित्र के अश्वमेध के अश्व की रक्षा करता और सिन्धुतीर पर घुड़सवार यवनों को शिकस्त देता है। सर्वदमन तो बचपन में ही सिंह के दाँत गिनता सामने आता है और भगवान् कार्त्तिकेय (कुमार) एकमात्र योद्धा है जो अजेय तारकासुर का वध कर सकता था।

पुत्रियों का प्रतिमान है पार्वती, शकुन्तला और मालविका। पार्वती पूर्णत: दिव्य, शकुन्तला अर्धदिव्य और मालविका केवल मानुषी कन्या। उर्वशी केवल दिव्य ललना, किन्तु उसकी परिणति मानुषी माता के रूप में। इनमें केवल मानुषी कन्या का चित्र देखिए—

सबसे पहले तो मालविका सुन्दरी है और उसका सौन्दर्य स्वाभाविक है बनावटी नहीं—'अव्याजसुन्दरी' है मालविका (माल २.१३)। चित्र जैसा आकर्षक उससे

अधिक आकर्षक वह स्वयं –**'चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्'** (माल० २.२)। मालविका में रूप है और वह जिन अंगों की परिणति है वे सभी दोषरहित तथा स्पृहणीय हैं– **'अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपस्य'** (माल० २.२.२)। यह रूप ऐसा इस कारण है कि 'इसकी आँखें बड़ी बड़ी हैं, चेहरे पर शरत्काल के चन्द्र की कान्ति है, दोनों हाथ कन्धों पर से ढाल लिए हैं, छाती छोटी, किन्तु कसे और उन्नत उरोजों से युक्त, बाजू जैसे पोंछ दिए गए हों, कमर ऐसी कि चाहें तो उसे मुट्ठी में ले लें, जघन ऐसा कि जिसके पीछे नितम्ब और पैरों के पंजे ऐसे कि उनकी अंगुलियाँ ऊपर की ओर उठी। इसका शरीर तो नृत्य के गुरु की जैसी इच्छा बिल्कुल वैसा ही है'–

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्त्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः।। माल० २.३।।

यह कन्या ऐसी है कि इसको अत्यन्त कठिन नृत्य (छलिक) का भी पूर्ण अभ्यास है।

पार्वती का शरीर यौवन से तिल तिल खिल उठा तो लगा कि तूलिका से उन्मीलित किया गया चित्र हो या सूर्य की किरणों से पूरी तरह खिल उठा अरविन्द। उसमें शोभा ही शोभा थी–

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन।। कुमार०१.३२।।

मालविका और शकुन्तला के विषय में भी कालिदास ऐसी ही कल्पना प्रस्तुत करते हैं। उर्वशी के विस्मयकारी सौन्दर्य पर तो पुरूरवा कल्पना में डूबा हुआ दिखलाया गया है कि–

'उर्वशी के निर्माण में प्रजापति था कान्तिविखेरता चन्द्र, या शृङ्गारमात्र को रस सिद्ध करने वाला केवल मदन, या पुष्पों का आकर मास (वसन्तमास)। जिस पुराण मुनि नारायण को इसका निर्माता कहा जाता है वह तो वेदमन्त्र रटते रटते हो गया था जड़ और था विषयों से विरक्त। भला वह इस मनोहर रूप को बना कैसे सकता है? ('अस्याःसर्गविधौ० पृष्ठ ३६ पर उद्धृत पद्य)।

नारायण ऋषि के ऊरु से उद्भूत यह अप्सरा क्या है? यह है आभरण का आभरण, प्रसाधन का प्रसाधन और उपमान का उपमान–

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे! प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः।। विक्र०२.३।।

शकुन्तला के निर्माण में विधाता ने क्या क्या नहीं किया? पहले बनाई उसकी मूर्त्ति (चित्र)। उसमें डाले प्राण। रूप बनाया रूप के बिखरे उपादानों से रूपराशि

एकत्रित कर अथवा विधाता ने इसका निर्माण बाह्य उपकरणों से नहीं, केवल मानसिक उपकरणों से किया है। विधाता विभु थे इसीलिए उनके लिए यह करना संभव हुआ। तभी तो बन सका इसका ऐसा शरीर –

चित्रे[1] निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥ शाकु० २.१०॥

इसीलिए कुमारी शकुन्तला का जो असाधारण रूप, वह है अनाघ्रात पुष्प, नखों से अविदारित किसलय, अनाविद्ध (दोषरहित) और अनबिंधा रत्न, अछूता मधु या पुण्यों का समग्र फल। –

अनाघ्रातं पुष्पं, किसलयमलूनं कररुहै–
रनाविद्धं रत्नं, मधु नवमनास्वादित–रसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥ शाकु० २.११॥

मालविका कैसी है? कालिदास द्वारा परिकल्पित चित्र में 'दीर्घाक्षी' आदि, जैसा उद्धृत किया जा चुका है (पृष्ठ २३७)।

मेघदूत की यक्षी *'विधाता के द्वारा गढ़ी सबसे पहली स्त्रीसृष्टि है, क्यों, इसलिए कि 'वह शरीर से तन्वी है, वय में षोडशी है, नुकीले वज्र से हैं उसके दाँत, पके कुँदरू से हैं उसके लालचट्ट ओंठ, कमर पतली, चकित हरिणी के नेत्र से हैं उसके नेत्र, नाभि गहरी है, नितम्बों का भार उसमें इतना कि उसकी गति अलसाई और उसके स्तन इतने बड़े कि कुछ कुछ सामने झुकी हुई है वह'* –

तन्वी, श्यामा, शिखरिदशना, पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ (मेघ० ८०)

(३) मधु

रस की अपेक्षा रस के लिए वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध 'मधु'–शब्द अधिक समर्पक और उपयुक्त है। 'मधु' का प्रथम अर्थ है शहद। उसके निर्माण की प्रक्रिया रसनिष्पत्ति प्रक्रिया से मेल खाती है। रस में अनेक अर्थ मिलकर एकाकार हो जाते हैं

१. चित्र का अर्थ मूर्त्ति भी माना गया है शिल्पशास्त्र में,विशेषत: विष्णुधर्मोत्तरपुराण के चित्रसूत्राध्याय में।

पानक—रस में मिले पदार्थों के समान। साथ ही उनसे एक विलक्षण आस्वाद भी प्रकट होता है जो नया और मिले प्रत्येक पदार्थ के आस्वाद से पृथक् हुआ करता है। शहद की भी यही स्थिति है। रस में भी विभाव+अनुभाव+सञ्चारी+स्थायी भाव ऐसा संमिश्रण रहता है। स्थायी भाव का अन्तिम स्वरूप है अनुभविता का स्वात्मा यानी प्रत्यक् चैतन्य जैसा कि भोजराज ने भी स्वीकार किया है। मधु ही है आत्मा माधुर्य की और मधु ही है सभी सुमानुषों की तृप्ति का जनक, तृप्ति का विषय। यह जो मधुरस या माधुर्य है यह कालिदास के संपूर्ण साहित्य में अक्षर अक्षर में भरा पड़ा है।

१. शकुन्तला महर्षि कण्व के आश्रम से पतिगृह के लिए डग भरने को है, किन्तु उसे पीछे से पल्ला पकड़कर पीछे की ओर खींच रहा है कोई। अपशकुन था यह। शकुन्तला ने पीछे देखा तो जाना कि वह है शकुन्तला जैसे ही जीवन का उसका पोषित पुत्र मृगशावक। उसका नाम था 'दीर्घापाङ्ग' यानी जिसकी आँखे बड़ी बड़ी थीं। इसका जीवन शकुन्तला जैसा ही। होते ही सहना पड़ा था इन दोनों को माता और पिता दोनों का विछोह। कदाचित् उसके नेत्रों की दीर्घता में प्रतिफलित हो गई थी भावी घटनाएँ, और उसने उस कष्ट में शकुन्तला को ढकेलना नहीं चाहा, किन्तु उसके इस संकेत को किसी ने समझा नहीं। महर्षि कण्व इस दीर्घापाङ्ग का परिचय कराते हैं—'जिसके कुशाङ्कुरों से घायल मुख पर तुमने इङ्गुदी का तेल सींचा और श्यामाक धान्य खिला खिलाकर पाला, वही पुत्र जैसा मृगपोतक तेरा मार्ग रोके खड़ा है—

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टि—परिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते।। शाकु० ४.१४।।

शकुन्तला भी इसे रोकती हुई कहती है—

वच्छ किं सहवासपरिच्चाइणिं मं अणुसरसि। अचिरप्पसूदाए जणणीए विना वड्ढिदो। दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिंतइस्सदि। णिवत्तेहि वच्छ णिवत्तेहि (शाकु० ४.१४)

इसी समय चिल्लाने लगी चक्रवाकी तो शकुन्तला की अन्तश्चेतना में उभरी उसकी फलश्रुति 'दुष्करमहं करोमि'—'मैं कुछ गलती करने जा रही हूँ'।

२. सीताहरण से विह्वल राम को लताएँ और मृगियाँ संकेत देती हैं कि सीता को रावण दक्षिण दिशा में ले गया है, किन्तु राम उनके संकेत को समझे नहीं। विमान से लौटते समय राम को इसका बोध हुआ। वे कहते हैं—

त्वं रक्षसा भीरु! यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः।।
मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन् माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि।।

—(रघु० १३.२४—२५)

हे भीरु सीते! तुमको रावण जिस रास्ते ले गया था उसका निर्देश इन लताओं ने मुझे देना चाहा था, बोलने में असमर्थ थीं ये, किन्तु अपनी शाखाएँ दक्षिण दिशा में झुका रही थीं।

ये मृगियाँ भी कुशाङ्कुर छोड़कर अपनी ऊर्ध्वपक्ष्म की बड़ी बड़ी आँखें दक्षिण दिशा में घुमा घुमा कर तुम्हारे मार्ग का संकेत कर रही थीं, जिसका मुझे ज्ञान नहीं था।

संस्कृत के काव्यशास्त्र में ये दोनों पद्य कण्ठहार बन गए। आचार्य कुन्तक से लेकर इन पर ध्यान दिया जाता रहा। उत्तरसीताचरित में भी इस अभिप्राय को स्थान दिया गया है। वन में छोड़ी गई गर्भवती सीता को प्रसव वेदना हुई तो आश्रम के परिसर की प्रकृति म्लान हो गई। कविवर महर्षि इस स्थिति को परख लेते हैं और बाहर निकल आते हैं। वहाँ उन्हें दो पुत्रों को जन्म दे चुकी सीता के दर्शन होते हैं। प्रकृति की मानवपीड़ा में सहभागिता का यह उज्ज्वल नमूना है।



अन्य कवियों पर कालिदास की छाया

महाकवि कालिदास का संस्कृत के परवर्त्ती साहित्यकारों पर प्रभाव पड़ा और गहरी मात्रा में पड़ा।

(१) **अश्वघोष** कनिष्क के समकालीन रचनाकार हैं। अयोध्या के निवासी इन्हें स्वाभाविक ही है वाल्मीकीय रामायण का अभ्यास हो। रामायण का प्रभाव अश्वघोष की दोनों काव्यकृतियों 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। किन्तु महाकाव्यविधा को जन्म दिया है महाभारतसंहिता में आए लम्बे आख्यानों ने जो अनेक अध्यायों में [1]उपनिबद्ध हैं। अश्वघोष इससे भी प्रभावित न हों ऐसा संभव नहीं। कालिदास भी इन दोनों उपजीव्य महाकोषों से दूर तक प्रभावित मिलते हैं। किन्तु अश्वघोष की कृतियों में जो कालिदासकृतियों का भावसाम्य और रचनासाम्य मिलता है उसमें कारण है अश्वघोष पर कालिदास का प्रभाव, क्योंकि कालिदास हुए विक्रमादित्य के पूर्व और अश्वघोष हुए विक्रमादित्य के १७५ वर्ष पश्चात्। उस समय का झुकाव वेदमार्ग की ओर था जिसका विश्वास था कर्ममार्ग, योगसाधना और सरसता से परिपूर्ण, उत्तम और परिष्कृत जिजीविषा में। बुद्ध को कालिदास ने अपने साहित्य से दूर रखा[2], अश्वघोष उसी में लिप्त रहे और उन्होंने आत्मनित्यतावाद के विरुद्ध निर्वाण—वाद को कविता का उपहार दिया। कालिदास की दृष्टि में यह हुआ श्मशानशूल का यूपसत्कार (कुमार० ५.७३)। यह कार्य बुद्ध भगवान् से ही चल पड़ा था। वैदिक सम्प्रदाय की ओर से इस प्रकार की समीक्षा, इस कारण, उपयुक्त ही थी।

जहाँ तक अश्वघोष पर कालिदास के प्रभाव का प्रश्न है प्रो० नन्दर्गीकर और पं० क्षेत्रेशचन्द्र जी चट्टोपाध्याय ने इसके लिए अनेक पद्य उद्धृत किए हैं[3]।

(२) कालिदास ने संस्कृत की लेखनी को शब्दश्लेष की ओर अग्रसर किया था। परवर्त्ती प्रतिनिधि कवियों को उनकी यह प्रवृत्ति अत्यधिक अच्छी लगी और वे सब श्लेषयोजना में अधिकाधिक प्रयत्नशील दिखाई दिए। कालिदास में श्लेष का एक

---

१. द्रष्टव्य प्रो० रामजी उपाध्याय का 'आधुनिक संस्कृतसाहित्य का इतिहास'।

२. दूर रखा यानी बुद्ध का उल्लेख तक नहीं किया। कुमार० ६.५५ पद्य में बुध के स्थान पर बुद्ध पाठ भी है।

३. प्रो० नन्दर्गीकर द्वारा संपादित रघुवंश भूमिका पृष्ठ १६३—१९५। प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र जी चट्टोपाध्याय का निबन्ध।

स्थल देखा जाए। 'रघु का मार्ग राजाओं ने साफ कर दिया, क्योंकि वे उनके फलों से रहित कर दिए गए, उखाड़ दिए गए, और तोड़ दिए गए'—'त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः, तस्यासीदुल्वणो मार्गः'। कवि की प्रतिभा को इस वक्तव्य की संगति 'हाथी में भी दिखाई दी। अतः उसने उपमान के रूप में प्रस्तुत करते हुए चौथा चरण रचा—'पादपैरिव दन्तिनः'। अब प्रथम तीन चरणों पर पुनः ध्यान दीजिए। लगेगा कि उसके सभी शब्द हाथी और वृक्षों पर भी लागू हो रहे हैं। वृक्षों के फल झड़ाए जाते हैं, वृक्षों को उखाड़ा भी जाता है और तोड़ा भी। बीच के वृक्षों को हटाने से मार्ग खुल भी जाता है। कितना स्पष्ट है यहाँ श्लेष। यह था रघुवंश के चतुर्थ सर्ग का तैंतीसवा अनुष्टुप्। इसके पहले का ३२वाँ अनुष्टुप् भी देखिए कितनी प्रासादिक है उसमें वाक्यार्थों की श्लिष्ट योजना—

स सेनां महतीं कर्षन्	रघु विशाल सेना को ले जा रहा है जो
पूर्व सागर—गामिनीम्	पूर्वसागर की ओर आगे बढ़ रही है
बभौ	वह ऐसा लगा जैसे
हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भागीरथः॥	शिवजटा से टपकी गङ्गा को ले जाते भगीरथ॥ —रघु० ४.३२

यहाँ 'पूर्वसागरगामिनीत्व' और 'महतीत्व' समान रूप से सेना और गङ्गा में लागू होने वाले विशेषण हैं। इनकी श्लेषयोजना स्पष्ट हैं। यहाँ उपमा भी दो प्रस्तुतों के बीच की है। जब सेना पूर्व की ओर बढ़ रही थी तब गङ्गा की धारा भी। एक के आगे महाराज भगीरथ चल रहे हैं ओर दूसरी के आगे महाराज रघु।

वंगभूमि के पादपद्म—प्रणत शासकों को रघु ने उखाड़ा और वहीं जमा दिया धान के समान, अतः उनने भी रघु को पर्याप्त फल प्रदान किये—

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खात—प्रतिरोपिताः॥ रघु० ४.३७॥

इस उक्ति में राजा और धान के पौधे (कलम) दोनों में पादपद्मप्रणतत्व, उत्खातप्रतिरोपितत्व और अधिकफलत्व समानरूप से लागू हो रहे धर्म हैं, अतः इनके वाचक सभी शब्द श्लिष्ट हैं। पादपद्म शब्द में एक समास वह जिसे उपमितसमास कहा जाता है और दूसरा वह जिसे विशेषणसमास। धान झुकी पैरों पर जो पद्म के समान थे और राजा झुके पैरों पर जो पद्म थे।

संध्याकाल सूर्य की पल्लवरागताम्र प्रभा और नन्दिनी निलय की ओर चलीं इसके पूर्व दोनों ने दिशाओं के अन्तराल को बनाया पवित्र अपने सञ्चार से—

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलायाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः।। रघु० २.१५।।

'दिगन्तराल को सञ्चारपूत करना, पल्लवरागताम्र होना और निलय (अस्त, आवास) की ओर गमन' ये तीनों विशेषताएँ सूर्यप्रभा और नन्दिनी दोनों में समान रूप से लागू हैं, किन्तु समय सन्ध्या का है अत: ये सभी विशेषण सूर्यप्रभा पर ही लागू होते समझ में आते हैं, परन्तु अन्त में 'मुनेश्च धेनुः' सुनते ही ये सभी विशेषताएँ धेनु पर भी लागू मिलती हैं, अत: स्पष्ट है यहाँ श्लेष। निलय–शब्द का श्लेष शब्दगत है, क्योंकि निलयशब्द से ही निकल पाते हैं दो अर्थ। शेष सभी श्लेष अर्थगत हैं।

(i) परवर्त्ती कवियों में भारवि,माघ,रत्नाकर,त्रिविक्रम,श्रीहर्ष आदि ने इस प्रकार द्व्यर्थक शब्दयोजना में पर्याप्त रुचि ली और उनका सफल प्रयोग किया। भारवि ने–

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः।। किरात० २.३

नय और जलाशय में साम्ययोजना की केवल 'तीर्थ' इस द्व्यर्थक शब्द के प्रयोग के आधार पर।

(ii) शिशुपालवध के रचयिता महाकवि माघ ने और बारीकी दिखलाई श्लेष के प्रयोग में। उनके काव्य का आरम्भ देवर्षि नारद के आकाश से द्वारकापुरी में उतरने से होता है मुख्य वाक्य है 'द्वारका में श्रीकृष्ण ने आकाश से उतरते हिरण्यगर्भाङ्ग से उत्पन्न मुनि (नारद) को (१.१) देखा' इन्हीं मुनि को नारद के रूप में पँहचान लिया (१.३) फिर दर्शन क्रिया के कर्म के रूप में अनेक उपमाएँ दीं। पहले कहा वे भगवान् शिव जैसे लग रहे थे, फिर कहा मेरु से, फिर बतलाया बलराम जी से, फिर कहा शरद् के मेघ से, आगे कहा ऐरावत हाथी जैसे। कवि का ध्यान केवल उपमेय और उपमान के रंग पर है। दोनों के रंग मिलते जुलते हैं। ऐरावत और नारद के साम्य में माघ की जो द्व्यर्थक पदावली है उसपर ध्यान दीजिए–

निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना।
चकासतं चारु चमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्।। १.८।।

नारदजी के कमलनाल से गौर वर्ण के शरीर पर था चमूरुमृग का सुन्दर चर्म जिसके रोयें स्वभावत: अनेक वर्ण के, उजले रंग के और सूक्ष्म थे। नागेन्द्र (उत्तम गजराज) के शरीर पर थी कुथ यानी झूल जो कालीन की थी, अत: उसमें भी अनेक वर्ण थे, अत: उससे मृगचर्म की उपमा बन सकती थी। शायद ऐरावत का रंग सफेद था, अत: गौरवर्ण के नारदजी का उपमान बना दिया गया वह। कुथ और मृगचर्म के लिए कलात्मक कौशल अपना गया विशेषणों के एक बार प्रयोग का, और श्लेष

का—'जैसा निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मत्व' कुथ में वैसा ही मृगचर्म में। इसी प्रकार जैसा 'लसद्विसच्छेदसिताङ्गत्व' नारद में (कदाचित्) वैसा ही नागेन्द्र में।' विभक्तियाँ भी ऐसी जिनका उभयान्वयित्व सुख से संभव। बस, कवि का कलाकौशल पूर्ण और उसमें उसका काव्य बृहत्त्रयी (किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित) का मध्यमणि बन गया, किन्तु मुख्य सहारा था व्याकरण से शुद्ध भाषा। कालिदास ने भी नारदजी को आकाश से उतारा, राजभवन में ही उतारा और पहले प्रकाशमात्र बतलाया और नारद के रूप में समझा बाद में, किन्तु कालिदास को उपमा न सूझी ऐरावत की, न पर्वतराज की, न बलराम की और न निरर्थकता के लिए प्रसिद्ध शरत्काल के मेघ की। माघ को शरत्काल के मेघ में बिजलियाँ भी दिखाई दे गई थीं। कालिदास ने नारद के आकार पर दृष्टि दी—'ऊपर जटाएँ और बीच में यज्ञोपवीत। जटाएँ पिङ्ग और यज्ञोपवीत शशिकलामल। स्वयं नारद के वर्ण पर कालिदास ने ध्यान नहीं दिया और लिखा 'वे जङ्गम कल्पवृक्ष थे'।

गोरोचनानिकषपिङ्गजटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलामलवीतसूत्रः।
मुक्तागुणातिशयसंभृतमण्डनश्रीर्हैमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः।।(विक्र०५.१९)

कल्पवृक्ष पर टँगी रहती हैं मोती की शुभ्र मालाएँ और उसमें नीचे की ओर निकली रहती हैं पीली वरोहें। ऊपर फैला उसकी शाखाओं का वितान। नारद जी और कल्पवृक्ष की विशेषता एक सी आकार में भी और रंग में भी। दोनों कवियों की प्रतिभाओं के झुकाव ध्यान देने योग्य हैं। जो माघ को सूझा वह कालिदास को नहीं और जो कालिदास को सूझा वह माघ को नहीं। कालिदास की कल्पना में 'महापुरुष के दर्शन की अमोघता भी है और उसकी व्यक्तिगत महिमा भी। कालिदास के नारद बिछुड़ने जा रहे उर्वशी और पुरूरवा को इन्द्र का संदेश सुनाने जा रहे हैं न बिछुड़ने का'। निश्चित ही दोनों कवियों की प्रतिभाएँ भिन्न हैं, परन्तु माघ कालिदास द्वारा प्रवर्तित 'श्लेष'—योजना से बहुत अधिक प्रभावित हैं।

(iii) रत्नाकर : माघ के समकालीन रत्नाकर उभयार्थक शब्दयोजना के प्रति अत्यधिक आकृष्ट हैं। उदाहरणार्थ—

अस्त्युन्नते सुरसरिज्जलधाव्यमानभागे नवार्करुचि मन्दरशैलशृङ्गे।
ज्योत्स्नावतीति नगरी भुवनत्रयैकभूषा वृषाङ्कशिरसीव शशाङ्कलेखा।। हरविजय १.४

इस पद्य में उन्नतत्व, सुरसरिज्जलधाव्यमानभागत्व और नवार्ककान्तित्व उपमेय मन्दरशैलशृङ्ग और उपमान वृषाङ्क (शिव) सिर में समान हैं। इसी प्रकार भुवनत्रयैकभूषात्व दोनों में समान रूप से अन्वित है— ज्योत्स्नावती नगरी (उपमेय) तथा शशाङ्कलेखा (उपमान) में।

(iv) **श्रीहर्ष** भी क्रमागत इस श्लेषयोजना में अपना अद्‌भुत सामर्थ्य व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ–

वहतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुद्राक्षमधुव्रतं खगः।
स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव।। नैषध० २.६।।

'बहु–शैव–लक्ष्मता' नल के कर में और 'बहु–शैवल–क्षमता' तालाब में समानरूप से लागू है। इसी प्रकार धृतरुद्राक्षमधुव्रतत्व भी नल के कर में भी उसी प्रकार लागू हो रहा है जिस प्रकार कोकनद में। कर पक्ष में इसमें उपमितसमास होगा और कोकनद–पक्ष में विशेषणसमास।' यह रही कला श्रीश्रीहर्ष की जिसमें शब्दश्लेष ही रीढ़ है। आगे चलकर श्रीश्रीहर्ष स्वयंवर सभा में ऐसी रचना प्रस्तुत करते हैं जो पाँचों नलों के पक्ष में लागू होती हैं 'देवः पतिर्विदुषि नैष धरा जगत्या' की पञ्चनली तो श्लेष का विस्मयकारी प्रयोग है जो समानरूप से पाँच अर्थ देता है।

(३) महाकवि कालिदास ने द्रुतविलम्बित वृत्त में सरल यमक प्रस्तुत किया रघुवंश के नवम सर्ग में। इसे भी भारतीय मनीषा ने बहुत अधिक आदर दिया। कालिदास ने एक पद्य में एक ही यमक रखा था। ऐसे यमकों की संख्या थी ५४। यमवतामवताञ्च धुरि स्थितः (र० ९.१) सनगरं नगरन्ध्र (९.२), 'श्रमनुदं मनुदण्ड' (९.३) इत्यादि। माघ आदि ने छन्द अपनाया द्रुतविलम्बित ही, किन्तु उन्होंने उसमें यमक को चारों चरणों में बिठाया। यथा–

नवपलाश–पलाश–वनं पुरः स्फुटपराग–पराग–तपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्त–मलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः।।

नए संस्कृतकाव्यों में भी यह प्रवृत्ति जागरूक है। उत्तरसीताचरितम् में सुजनताजनतापहरं (१०.६२), दुहितरं हितरञ्जित०, 'जनमनोनमनो०' (१०.६१), स्थविरतां विरतामिव (१०.६२) काञ्चन काञ्चनतां (१०.६२), समतया मतया (१०.६४), तिमतीति मतीन्दु०' (१०.६४) इस प्रकार यमक और द्रुतविलम्बित की यह संगत सहज और स्वाभाविक ही है।

(४). कालिदास ने रघुवंश के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर में संमिलित राजाओं का वर्णन सुनन्दा–नामक परिचारिका द्वारा करवाया। स्वयंवर सभा में जिन राजाओं का वर्णन किया उनमें प्रथम सात थे १. मगधेश्वर परन्तप २. अङ्गराज ३. अवन्तिनाथ ४. अनूपराज प्रदी/तीप ५. शूरसेनाधिप सुषेण ६. कालिङ्गराज हेमाङ्गद और ७. पाण्ड्य राज। आठवॉ और अन्तिम था रघुपुत्र कुमार अज। यह पूरा प्रकरण ६४ श्लोकों में केवल एक सर्ग में पूरा हो गया। विशेषता यह थी, कि सभी राजाओं मे स्पृहणीय गुणों का उल्लेख किया गया। दोष किसी में नहीं दिखलाया गया। दोष को

व्यञ्जना की तिरस्करिणी में छिपाकर प्रस्तुत किया। प्रथम सातों राजाओं के बड़े बड़े रनिवास थे और अज था कुमार। कुमारी के लिए इतना अन्तर पर्याप्त था। पाण्ड्य देश का राजा रंग से इन्द्रनील मणि सा था अर्थात् एक दम कृष्ण वर्ण का। सुनन्दा ने गौर वर्ण की इन्दुमती का इसके साथ विवाह होने पर जो छटा उभर सकती थी उसके लिए उपमा दी तडित् और तोयद की (रघु० ६.६५)। श्रीश्रीहर्ष नैषधीयचरित में 'दमयन्ती'–स्वयंवर रचते हैं। वे ११ से १४ सर्ग तक स्वयंवर को ही खींचते जाते हैं। पूरे पूरे ११–१३ सर्ग तथा १४.४८ पद्यों में वे नल के गले में दमयन्ती से वरमाला डलवाते हैं। इस प्रकार जिस वस्तु को कालिदास केवल ६४ पद्यों में प्रस्तुत कर देते हैं उसके लिए श्रीश्रीहर्ष ३४७ श्लोक के साढ़े तीन सर्ग लिखते हैं। इस विस्तार का आधार है श्लेष। श्लेष की इस विस्मयकारी योजना पर श्रीश्रीहर्ष स्वयं लिखते हैं–

श्लिष्यन्ति वाचो यदमूरमुष्याः कवित्वशक्तेः खलु ते विलासाः।
भूपाललीलाः किल लोकपालाः समाविशन्ति व्यतिभेदिनोऽपि।। नैषध १४.१६

ऐसा वर्णन मनुष्ययोनि के प्राणी से संभव नहीं, अतः कवि ने साक्षाद् वाग्देवी को सौंपा यह कार्य और स्वयंवर सभा में उपस्थित राजाओं का वर्णन स्वयं वाग्देवी से ही करवाया। उन्होंने सरस्वती से अनुरोध किया कि राजाओं के गुणों के उल्लेख के बहाने विद्वानों को विभिन्न वाङ्मय सुनाओ–

जगत्त्रयीपण्डितमण्डितैषा सभा न भूता न च भाविनीयम्।
राज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन संख्यावतः श्रावय वाङ्मुखानि।। नैषध १०.७२

(५) श्रीश्रीहर्ष ने स्वयंवर में उपस्थित राजा लोगों की प्रशस्ति इस प्रकार के शब्दार्थबन्धों में की जिनसे भारतीय साहित्य शताब्दियों तक प्रभावित रहा। शब्दबन्ध का अद्वितीय नमूना देखिए। एक राजा के विषय में केवल इतना ही कहा गया कि 'इसने एक तालाब खुदवाया', परन्तु इसी तथ्य को स्रग्धरा वृत्त में इस कसावट के साथ प्रस्तुत किया–

उन्मीलल्लील–नीलोत्पल–दल–दलनामोदमेदस्विपूर–
क्रोडक्रीडद्द्विजालीगरुदुदितमरुत्स्फालवाचालवीचिः।
एतेनाखानि शाखानिवह–नवहरित्पर्णपूर्ण–द्विजाली–
व्यालीढोपान्तशान्तव्यथ–पथिकदृशां दत्तरागस्तडागः।। (नैषध १२.१०१)

(i) उन्मीलल्लीलनीलोत्पलदलदना (ii) मोदमेदस्त्रिपूर (iii) क्रोडक्रीडद्द्विजा (iv) स्फालवाचाल (v) नाखानि शाखानि (vi) वहनवहरित्पर्णपूर्ण (vii) द्विजाली–व्यालीढो (viii) पान्तशान्त (ix) व्यथपथिकदृशां (x) दत्तरागस्तडागः'–इस प्रकार दस दस सानुप्रास घटकों से घटित इतने बड़े शब्दसामर्थ्य को संस्कृत भाषा और उस पर

असाधारण अधिकार वाला महान् शिल्पी ही प्रस्तुति दे सकता है।

उत्प्रेक्षा बौद्धिक व्यायाम का अलंकार है। कीर्त्तिपूर के वर्णन में श्रीहर्ष उत्प्रेक्षा की झड़ी लगा देते हैं। वे कहते हैं—

इस राजा का कीर्त्तिपूर त्रैलोक्य में कहाँ उपलब्ध नहीं है? कैलाश के सिर पर जाइए तो वहाँ भगवान् शंकर के सिर पर विद्यमान चन्द्रमा की एक कला के साथ १५ कला बनकर जुड़ा मिलता है, पाताल में जाइए तो अत्यधिक संख्यावाले फणों के लिए अपेक्षित अत्यधिक संख्या वाले शेष—शरीर बना दिखाई देता है, पृथिवीलोक में जो दुग्धाम्भोधि को अगस्तमुनि से पी लिए जाने का भय था इसे इस कीर्त्तिपूर ने मिटा दिया है।

अध्याहारः स्मरहरशिरश्चन्द्रशेषस्य शेष—
स्याहेर्भूयःफणसमुचितः काययष्टीनिवेशः।
दुग्धाम्भोधेर्मुनिचुलुकनत्रासनाशाभ्युपायः
काव्यव्यूहः क्व जगति न जागर्त्यदः —कीर्त्तिपूरः।। (नैषध १२.५७)

इतना लिखकर भी कवि की प्रतिभा संतुष्ट नहीं, क्योंकि पद्य १२.९५ में वह इससे बड़ी कल्पना करती है—

दामोदर की उदरदरी में फैलकर रह रही त्रिलोकी में इस राजा का अधिक यश अँट नहीं पाया और उससे बाहर निकल पड़ा है। वही दिखाई दे रहा है श्वेतकमल के रूप में। यश स्वयं भी हाथीदाँत सा समुज्ज्वल है।

इस अभिप्राय पर लिखा सानुप्रास पद्य देखिए—

आस्ते दामोदरीयामियमुदरदरीं याऽवलम्ब्य त्रिलोकी
संमातुं शक्नुवन्ति प्रथिमभरवशादत्र नैतद्यशांसि।
तामेतां पूरयित्वा निरगुरिव मधुध्वंसिनः पाण्डुपद्म—
च्छद्मापन्नानि तानि द्विपदशनसनाभीनि नाभीपथेन।। (नैषध १२.९५)

कालिदास यश की व्याप्ति एक ही पद्य में सफलतापूर्वक कर डालते हैं— पृष्ठ २६ पर उद्धृत पद्य 'आरूढमद्रीन्' आदि।

श्रीहर्ष पर्यायोक्तालङ्कार या व्याजोक्ति से भी अतिशयोक्ति को उभार देते हैं यद्यपि वे कुछ चूक भी कर जाते हैं। संख्या सीमित है परार्ध तक। प्रज्ञाचक्षु में देखने की शक्ति नहीं होती। अन्धकार कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं होता, वह होता है प्रकाश का अभाव। स्वर सात ही होते हैं, आठवाँ नहीं। वन्ध्या को सन्तति नहीं होती। मूक में वाणी का अभाव होता है। कछुए की स्त्री में दूध नहीं होता। इतनी बातें मन में रखिए और सुनिए श्रीश्रीहर्ष का अतिशयोक्तिपूर्ण पर्यायोक्त—

अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्ष्यीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्त्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा–
न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि।। नैषध १२.१०६

यहाँ 'प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिर' इस कथन से तिमिर की वास्तविकता ही सिद्ध होती है जबकि विवक्षित है अवास्तविकता। श्रीश्रीहर्ष के द्वारा काव्यमीमांसकों में श्रेष्ठ कहे गए महिमभट्ट के अनुसार यहाँ जो नहीं कहना था वह कह दिया गया, अतः अवाच्यवचनत्व दोष हुआ। अतः उन्हें कहना चाहिए था 'प्रज्ञाचक्षुरवेक्षिताश्च तिमिर–प्रख्याः'। तिमिर दिखाई देता है चक्षुष्मान् व्यक्तियों को ही। यदि उसका अभाव बतलाना अभीष्ट है तो वह प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणत्व से सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'गान का अभाव गाता के मूकत्व से ही सिद्ध हो जाता है, अतः मूक का वन्ध्योदरसंभूतत्व प्रत्युत मूकों के अभाव की प्रतीति कराता है जो अनावश्यक है। वस्तुतः यहाँ श्लोक की रचना ऐसी कुछ होनी चाहिए थी–

अस्य क्षोणिपतेरकीर्त्तिलतया विष्णोः पदे रूढया
संख्या कापि परार्धपारगमिताऽलम्भ्यन्धकाराभया।
वन्ध्याया यदि पुत्रकोऽत्र गणनां कर्त्तुं क्षमेताष्टमं
श्रित्वा किञ्च परात्परं स्वरमिमां गातुं क्षमेतोच्चकैः।।

इससे श्लोकवाक्यार्थ में आश्रयासिद्धिनामक आया हुआ दोष हट जाता है और अपुष्टत्व दोष भी। ऐसा पद्य श्रीश्रीहर्ष ने भी दिया है–

खण्डक्षोदमृदि स्थले मधुपयःकादम्बिनीतर्पणात्
कृष्टे रोहति दोहदेन पयसां पिण्डेन चेत् पुण्ड्रकः।
स द्राक्षाद्रवसेचनैर्यदि फलं धत्ते ततस्त्वद्गिरा–
मुद्देशाय ततोऽप्युदेति मधुराधारस्तमप्रत्ययः।। (नैषध २१.१५३)

दमयन्ती की वाणी उस संभावित मधुर फल से भी अत्यधिक मधुर है जो फल सर्वोत्कृष्ट जाति के उस गन्ने में लगे जिसे लगाया गया हो खाँड़ की भूमि में, जिस पर वर्षा हुई हो शहद की कादम्बिनी की, जिसमें खाद दिया गया हो खोए का और सींचा गया हो जिसे द्राक्षारस से।

स्मरणीय है कि गन्ने में न फूल आते और न फल लगते। कालिदास का अलंभावात्मक अलंकार इस प्रकार की दार्शनिक मनमानी का खेल नहीं। वह तो प्रतिभा का स्वाभाविक प्रकाश है।

मृगयाक्षेत्र: कुमारदास

रघुवंश में कालिदास ने दशरथ की मृगयाक्रीडा नवमसर्ग में प्रस्तुत की। सजाधजा है यह सर्ग। वसन्तवर्णन और मृगयाविहार दोनों में भारतीय वन्यजीवन के अनेक चित्र प्रस्तुत किए गए हैं, किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया कि दशरथ की मृगया का क्षेत्र कौन सा था। इसका स्पष्टीकरण होता है कुमारदास के जानकीहरणम् से। इस रचना में कालिदास की श्लिष्टभाषा अधिक श्लिष्ट मिलती है, फलत: इस कृति पर भी कालिदास की ही छाया है। प्रसिद्ध भी है कि रघुवंश (काव्य और राघव वंश) के रहते जानकीहरण (काव्य और सीता–पहरण) दो ही कर सकते हैं १. कवि कुमारदास और २. रावण –

जानकीहरणं कर्त्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कवि: कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षम:।।

नाटकों में प्रभाव

कालिदास के तीनों नाटक अत्यधिक मिलते जुलते हैं भास के नाटकों से। भास का कालिदास ने उल्लेख भी किया है और उनके अभिप्रायों को भी अपनाया है। कालिदास की–

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दु:खमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।। मेघ० १०७।।

इस सुप्रसिद्ध उक्ति का मूल भास के स्वप्नवासवदत्तम् की यह उक्ति है–

'कालक्रमेण जगत: परिवर्त्तमाना चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्ति:।।'

भास के स्वप्नवासवदत्तम् का ही कलाओं के संमिश्रण से परिबृंहित रूप है मालविकाग्निमित्रम्, किन्तु हर्षवर्धन की रत्नावली नाटिका पर छाया है मालविकाग्निमित्रम् की। रत्नावली की भाषा कालिदास की सरलता से कुछ दूर हटी हुई लगती है 'श्लेष' की छटा के कारण। उदाहरण–

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा–
दायासं श्वसनोद्‌गमैरविरलैरातन्वतीमात्मन:।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्या: करिष्याम्यहम्।। २.४।।

यहाँ उद्यानलता से सभी विशेषण उपमानभूत नारी में भी समानरूप से लागू हो रहे हैं। महिमभट्ट की दृष्टि में यहाँ यदि 'समदना नारी' का उल्लेख न भी किया जाता तो उसकी प्रतीति हो जाती।

कालिदास

धर्म के क्षेत्र में कालिदास पुरुषार्थवादी हैं, निर्वाणवादी नहीं। निर्वाण धर्म का उत्तरार्ध है। पूर्वार्द्ध है अभ्युदकारी कर्म। इस कारण कालिदास जिस धर्म के अनुयायी हैं वह है सनातन वैदिक धर्म। इसमें स्पष्ट रूप से निःश्रेयस को अन्तिम उपेय माना गया है, परन्तु उपायरूप से उसमें अभ्युदय भी जोड़ा गया है। धर्मलक्षण का परिष्कार है—**'यतोऽभ्युदयो निःश्रेयसहेतुः स धर्मः'** जैसा कहा जा चुका है। अश्वघोष की कविता सुभगा तो है, परन्तु उसके पास केवल लाश है पति की और चहुँओर 'सर्व क्षणिकं', 'सर्व दुःखं' का श्मशान है फैला हुआ।

परवर्त्ती भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि कवि और भवभूति आदि नाटककार भी वैदिक मार्ग के अनुयायी हैं। जहाँ तक संवाद, आहरण और अनुहरण की बात है कालिदास स्वयं उतना आहरण नहीं करते जितना उनका आहरण किया गया है। हमारा श्लोक है—

साहित्ये कालिदासस्य पूर्वाहरणचातुरी।
चातुरीमनुहर्त्तॄणां कालिदासस्य नात्यगात्।।

कश्मीर का शैवशास्त्र वाणी और अर्थ को अभिन्न मानता है। यह दर्शन लगभग ५०० ई० की देन है। परन्तु कालिदास रघुवंश के मंगल पद्य में वाक् और अर्थ को शिव और पार्वती जैसा संपृक्त मानते हैं। उनके इस पक्ष को परवर्त्ती आचार्यों ने मान्यता दी। 'साहित्यमीमांसा' के मङ्गल पद्य में संसार के निर्माण में इन्हीं दो वस्तुओं को निदान माना गया—

निदानं जगतां वन्दे वस्तुनी वाच्य—वाचके।
ययोः साहित्यवैचित्र्यात् सतां रसविभूतयः।।

गोसाँई तुलसीदास जी ने भी गिरा और अर्थ को जल और तरंग की उपमा दी और [१]अनिर्वचनीय माना, क्योंकि इन दोनों को भिन्न भी नहीं कहा जा सकता और अभिन्न भी—

गिरा अरथ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीतारामपद जिन्हहिँ परम प्रिय खिन्न।।

—(बालकाण्ड दोहा—१८)

---

१. माया को माना जाता है अनिर्वचनीय अर्थात् 'सत् भी नहीं और असत् भी नहीं कहा जा सके जिसे। यहाँ गिरा और अर्थ के भेद को न कहा जा सकता सत्य या वास्तविक और न असत्य या मिथ्या। अतः इन दोनों का सम्बन्ध बना अनिर्वचनीय। यह कविता में विज्ञान की कल्पना है। वस्तुतः शब्द सर्वथा पृथक् है और अर्थ पृथक्। द्र० हमारी काव्यालङ्कारकारिका।

अन्तिम निष्कर्ष जो भी हो, परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि भले ही भर्तृहरि आदि ने वागर्थ—सम्बन्ध पर चेतना के दो स्तर 'पश्यन्ती' और 'मध्यमा' की कल्पना कर बाद में रहस्यपूर्ण कुछ उद्‌गार व्यक्त किए हों, परन्तु उनके पहले कालिदास इस स्थिति को पूरी गम्भीरता के साथ प्रस्तुत कर चुके थे। कालिदास का 'संपर्क'—शब्द 'साहित्य'—शब्द का स्मरण दिलाता है। यह स्थिति 'मध्यमा' की है। मध्यमा यानी शब्द और अर्थ जिसमें विभक्त हो गए हों। जो पश्यन्ती है उसमें शब्द और अर्थ का विभाजन नहीं होता। परा वाणी को आत्मचैतन्य ही माना जा सकता है, अत: वह —'वक्तीति वाक्' निरुक्ति के अनुसार होगी वाक्। पश्यन्ती की स्थिति है निर्विकल्पक चिति की अर्थात् यह है आगामी सविकल्पक स्थिति की सीढ़ी, अत: इसका केवल अनुमान ही हो सकता है अनुभव नहीं। जिस प्रकार परा वाणी नहीं अपितु शुद्ध चिति है उसी प्रकार बैखरी भी वाणी नहीं, क्योंकि वह स्थूल ओर जड़ है। उसे श्रवणेन्द्रिय से सुना जाता है, परन्तु अर्थ का बोध होता है उसके साथ हुए संकेतग्रह से अर्थात् इस प्रकार की मानसिक ग्रन्थि से कि इस प्रकार की ध्वनि का अर्थ यह है अथवा यह अर्थ इस प्रकार की ध्वनि का ज्ञेय है। यह हुआ चेतना के स्तर पर ही। इसलिए 'चिति >(पश्यन्ती) >मध्यमा >वैखरी' ये हुए वाक्तत्त्व के स्तर। इनमें से केवल मध्यमा ही कही जा सकती है वाणी। उसी में मिलती हैं अर्थ की उससे अभिन्नता। अर्थ व्याप्य है और वाणी व्यापक। इसलिए वाणी जलरूप और अर्थ है तद्‌गत तरंगरूप। यह विचार है गोस्वामी जी का। कुल मिलाकर यह प्रभाव है महाकवि कालिदास का। जिस प्रकार वाणी अर्थ से मिलती है उसी प्रकार अर्थ भी वाणी से मिलाया जाता है। कालिदास इस सत्य के भी अनुभवी हैं। कुमारसंभव में सप्तर्षिमण्डल के प्रवक्ता आङ्गिरस महर्षि कहते हैं 'गिरिराज आपसे अनुरोध है शिव से मिला दो अपनी कन्या को' और वे उपमा देते हैं जैसे भारती मिला दी जाती है अर्थ से'—

तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि। (कुमार० ६.७९)

अर्थ होगा स्फुरित कवि की चेतना में। उसे मिलाया जाएगा वाणी से। यह हुआ अन्विताभिधान। इसमें सभी अर्थ परस्पर में अन्वित रूप में ही स्फुरित होंगे। अभिधान सुनकर सहृदय पदार्थों का अन्वय खोजेगा, जिसमें बैठें मिलेंगे 'सादृश्य, संभावन, आरोप, अतिशय, दृष्टान्त, अर्थान्तर, पर्याय, आक्षेप, विरोध, श्लेष, शृङ्खला' आदि वैशिष्ट्य जिनसे उक्ति में आकर्षकता आ जाएगी। इस प्रकार अन्वित का अभिधान या अन्विताभिधान की परिणति है अभिहितान्वय। कविता बन भी गई, प्रकाशित भी हो गई और संप्रेषित भी। यानी शिव प्रकट हुए, उन्हें पार्वती मिली और दोनों बैखरी ध्वनि को नन्दी बनाकर विश्व सञ्चार में चल पड़े। किन्तु रहे दोनों वागर्थ

जैसे संपृक्त ही। बिछुड़े कभी नहीं। महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त ने भी विचार दिया—

यदि कविहृदय शिवमय है तो उसमें जो भी कुछ स्फुरित होगा वह शिवमय होगा ही। किसी भी कवि की वाणी किसी भी अंश में अशिव नहीं रहती। आप भी उससे शिवमय दशा में जा पहुँचें।

वस्तुतः शिवमये हृदि स्फुटं सर्वतः शिवमयं विराजते।
नाऽशिवं क्वचन कस्यचिद् वचस्तेन वः शिवमयी दशा भवेत्।।

—लोचन प्रथमोद्योतान्त।

स्पृहणीय है उनकी यह उक्ति। यही शिवमयता है कवि का 'प्राचेतस'—भाव। इसका भी प्रभाव है कविता में संगीत का जुड़ जाना और उक्ति का पद्य रूप में या छान्दस विग्रह में प्रकट होना—

'शोकः श्लोकत्वमागतः'—आनन्दवर्धन
'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'—कालिदास—राजशेखरादि

यह आविर्भाव वैसा ही स्वाभाविक है जैसा प्रभातवेला में चिड़ियों का चहचहाना—

प्रयोजनं कवेः काव्ये नापि किञ्चन दृश्यते।
चुङ्कृतौ कलविङ्कस्य यथा प्राभातिके क्षणे।। काव्याङ्कारकारिका ११

अवश्य ही चिड़ियों की चहचहाहट का कोई प्रयोजन नहीं होता, न कोई प्रशिक्षण। वह एक स्वाभाविक उल्लास हुआ करता है।



क़ालिदाससाहित्य में कलाएँ

दिल्ली के रवीन्द्रभवन में जैसे साहित्यअकादमी का कार्यालय है वैसे ही सङ्गीतनाटक अकादमी का भी। कहीं–कहीं इन्हीं प्रवृत्तियों के लिए 'ललितकला अकादमी'–शब्द भी चलता है। स्मरणीय है कि ललितकला शब्द कालिदास की देन है। विलाप करते हुए अज ने इन्दुमती को 'गृहिणी, सचिव, सखा, एकान्त में 'ललितकला' विधि में प्रियशिष्या कहा था–

गृहिणी सचिवः सखा मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्।। रघु० ८.६७।।

वस्तुतः कला के साथ जोड़ा गया विधि शब्द 'प्रयोग' परक है कलाओं की ललितविधि यानी ललित प्रयोग। रतिकला भी इसमें आती है और कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग में निधुवन के उपदेश में पार्वती ही थी शिव की एकान्त स्थान में शिष्य। उसमें उन्होंने जो युवतिनैपुण्य प्राप्त किया उसकी गुरुदक्षिणा वही युवतिनैपुण्य बन गया–

शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शङ्करस्य रहसि प्रपन्नया।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत् तदेव गुरुदक्षिणीकृतम्।। कुमार० ८.१७।।

यहाँ 'गुरु'–शब्द कितना सार्थक है द्रव्यपक्ष में भी ओर रतिपक्ष में भी। अज का भी संकेत कदाचित् इसी स्थिति के लिए है, किन्तु 'ललितकलाविधि' से ललितकला शब्द भी निकाला जा सकता है और उसको व्यापक अर्थ में अपनाया जा सकता है।

चित्रकला

'विष्णुधर्मोत्तर'–पुराण के चित्रसूत्र–प्रकरण में चित्र–शब्द चित्र के लिए भी प्रयुक्त है तथा मूर्त्ति के लिए भी। किन्तु चित्र शब्द आलेख्य अर्थ में अधिक प्रचलित है। कालिदास साहित्य में आलेख्य और मूर्त्ति दोनों कलाएँ व्यापक स्तर पर सुलभ हैं। एक कला में अन्य कलाएँ अलंकार बनकर प्रयुक्त होती हैं [१]। काव्य भी कला है। यह शब्दैकसंवेद्य है, अतः अपरोक्ष का विषय नहीं है, किन्तु इस कला में प्रत्यक्षज्ञानसंवेद्य कलाएँ अलंकार बनती हैं। ये हैं संगीत, मूर्त्ति और चित्रकला। कालिदाससाहित्य में

१. यच्च शब्देषु पद्यत्वं सा संगीतकला प्रिया।
कला कलान्तरे यस्मादलङ्कारत्वमश्नुते।। काव्यालङ्कारकारिका ९४ कारिका।।

इनके सन्दर्भ अनेक बार मिलते हैं।

१. रघुवंश के द्वितीय सर्ग में दिलीप नन्दिनी पर आक्रमण करने वाले सिंह पर बाण चलाना चाहते हैं, किन्तु शिव के प्रभाव से उनका हाथ तरकस में ही सटा रह जाता है। इस स्थिति में कालिदास उन्हें चित्रलिखित सा बतलाते हैं—

वामेतरस्तस्य कर: प्रहर्त्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे।। रघु० २.३१।।

२. चित्र में गति नहीं होती, अत: दिलीप में भी गतिहीनता प्रकट की गई। भगवान् शिव के तपोवन में वसन्तश्री फूट पड़ी और लताओं से वृक्ष, भ्रमर भ्रमरियों से हिरन हिरनियों से, हाथी हथिनियों से, चक्रवाक चक्रवाकियों से और किन्नर किन्नरियों से मिलन में डूब गए। भ्रमर कमलमधु का पान भ्रमरी के साथ करता, चक्रवाक चक्रवाकी को देता अपनी अर्ध उपभुक्त कमलककड़ी, हिरन भी आँख मींच कर खड़ी हिरनी की आँख अपने शृङ्ग से खुजलाता। ये सभी व्यापार चल रहे थे 'रस' के साथ अर्थात् इनमें उनकी चेतना डूबी हुई थी। यह थी वसन्त की गतिमत्ता। सभी तपस्वी डिग गए, परन्तु शिव समाधि में ही डूबे दिखाई दिए तो नन्दी ने शिव की इच्छा के अनुरूप आदेश किया 'चपलता छोड़ो' तो सारी गतिमत्ता तिरोहित हो गई। जो जिस स्थिति में था वह उसी स्थिति में अवस्थित और स्थिर दिखाई दिया। एक प्रकार से मरा हुआ सा। परन्तु महाकवि चैतन्यवादी ठहरा। उसने इस गतिहीनता का चित्रण मृत्यु से नहीं, कला से किया। कला में भी चित्रकला का स्मरण किया।

निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम्।
तच्छासनात् काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे।। (कुमार० ३.४२)

'वृक्षों में कम्पन तक नहीं था, भौरें छिप गए थे, कोकिल ने कूकना छोड़ दिया था और सारस आदि अन्यपक्षियों ने भी, हिरन जहाँ के तहाँ खड़े थे। सारा वन मानों वन नहीं रह गया था। बन गया था वह चित्र।' चित्र यानी निस्सत्त्व, स्थिर, जड़ ओर गतिशून्य। यह रही काम के मित्र मधु की दशा। मधु को नन्दी ने ही निष्क्रिय और निश्चेष्ट कर दिया। अब पहुँचा स्वयं काम। वह शिव के ध्यानस्थल तक जा पहुँचा। परन्तु ज्योंही उसे दिखाई दिए समाधिस्थ शिव तो उसके हाथ से धनुष भी भय के कारण छूट गया और बाण भी। कब छूटे ये यह भी उसे समझ में नहीं आया—

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाऽप्यधृष्यम्।
नाऽलक्षयत् साध्वससन्नहस्त: स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्।। कुमार० ३.५१।।

बात बिगड़ गई। देवताओं ने काम को जिस कामना से भेजा था वह पूरी होती नहीं दीखती थी। काम भी भगवान् कामेश्वर से अलग होकर शिव को घायल करना

चाह रहा था। अर्थात् वह भी अभी तक एक प्रकार से जड़ ही था। वह शिव को आहत कैसे करता, क्योंकि शिव ठहरे चेतन। भला जड़ भी चेतन को आघात पहुँचा सकता है? ब्रह्माजी का उपाय असफल, इन्द्रादि देवगणों की आशा पर पानी फिर गया। परन्तु तारकासुर का उत्पात तो समाप्त करना आवश्यक था। वह शिव को भी अभीष्ट था। तारकासुर का उत्पात केवल शिव के अंश से उत्पन्न कुमार ही कर सकता था। शिव के अंश को कुमार का रूप केवल माता पार्वती ही दे सकती थीं। वे स्वयं शिव को पति के रूप में प्राप्त करना चाह रही थीं। अर्थ यह कि काम को वे अपने अन्तर्मन में छिपाए हुए थीं। वे ठहरीं पराभट्टारिका, पराशक्ति, परम और चरम ईश्वरी, परमेश्वरी।

वसन्त एक ओर निश्चेष्ट पड़ा था और कामदेव दूसरी ओर घबराया बैठा था। शिव समाधिस्थ ही थे। एक चतुर्थ दृश्य प्रस्तुत हुआ। पार्वती ने मन में काम को बिठा ही रखा था, अब वसन्त को भी शरीर पर धारण कर लिया। उन्होंने पद्मरागमणि के स्थान पर अशोकगुच्छ धारण कर रखा था, सुवर्ण के स्थान पर कर्णिकार—पुष्प धारण कर रखे थे, सिन्धुवार को बना रखा था मोती, पहन रखी थी करधन वकुलपुष्पों की। हाथ में लिए थीं खिला कमलपुष्प, साड़ी पहन रखी थी ऐसी जिसका रंग था क्षितिज पर काफी ऊपर उठ आए सूर्यबिम्ब सा लाल यानी गुलाबी रंग।

यह हुई संघशक्ति १. स्वयं पार्वती यानी स्वयं नारीरूप शिव जो चेतन हैं,
२. मन में नियन्त्रित काम और
३. बाह्य किन्तु अपूर्व सुन्दर शरीर पर वसन्त।

यह त्रिक शिव के लिए तपोरत पार्वती के रूप में पहुँचा दर्शन करने हेतु भगवान् शिव के। उसी क्षण छोड़ी समाधि शिव ने। नन्दी ने सूचना दी दर्शनार्थ उपस्थित पार्वती की। भ्रूक्षेप से शिवजी ने दे दी उन्हें अनुमति। पहुँच गई पार्वती, मन में काम और शरीर पर वसन्त लिए शिवजी के समक्ष। उनकी दोनों सखियों ने अपने हाथों चुना था वसन्त के पुष्प और पल्लवों को। उन्हें शिवजी के पैरों के नीचे बिखेर दिया। यानी वसन्त को शिव को अर्पित कर दिया[१]। उधर पार्वती जी भी झुकी और अपनी अलकों का हेमाभ कर्णिकार खिसकाते हुए उन्होंने भी प्रणाम किया भगवान् को। उसी समय उनके कान में लगा किसलय भी खिसककर शिवजी को अर्पित हो गया। उन्होंने पार्वती को आशीर्वाद दिया—'तुम पाओ ऐसा पति जो किसी को प्राप्त नहीं'। पार्वतीजी ने कमलगट्टों की स्वयं बनाई सूखी माला अपने किसलय सदृश सुन्दर हाथों से भगवान् को अर्पित की। शिवजी ने भी उसे लेने हेतु हाथ बढ़ाया।' यह

---

१. अभिनवगुप्त का सिद्धान्त है कि वसन्त के अशोक आदि ही वसन्तऋतु है।

बनी अनुकूलता और आभिमुख्य या आँखें चार होने की महत्त्वपूर्ण स्थिति। काम को मौका मिल गया। उसने चढ़ाया धनुष पर संमोहनास्त्र। इतने से भी शिव का धैर्य कुछ ढीला हुआ और उन्होंने पार्वती के बिम्बफल जैसे अधरोष्ठ से मण्डित सुन्दर मुखमण्डल पर दृष्टि डाली। पार्वतीजी को रोमाञ्च हो गया और उन्होंने अपना मुख तिरछा कर लिया। इसमें कटाक्ष अपने आप सध गया। अब क्या हुआ? उपर्युक्त त्रिक ने शिव को डिगा तो दिया—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।। (कुमार० ३.६७)

अकेला वसन्त विफल, अकेला काम विह्वल, परन्तु वे ही शिव को डिगाने में सफल, किन्तु तब जब उन्हें धारण कर लिया पराम्बा, पराभट्टारिका, त्रिपुरसुन्दरी माँ पार्वती ने अपने ऊपर। पार्वती यानी नारीरूप में शिव। जो चित्र था वह जी उठा, गतिशील हो उठा, चेतना के अद्भुत रूप की सहायता से— 'उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं'— (कामायनी ६.२७) चरितार्थ हो उठा। स्वयं कालिदास ने शकुन्तला की रूपमाधुरी पर विस्मित होकर लिखा था कि 'पहले विधाता ने एक अपूर्व सुन्दरी का चित्र/मूर्त्ति बनाई और मन की मूर्त्ति बन गई तो उसी को कर दिया जीवित अर्थात् उसी में डाल दिया सत्त्व'—'चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा' (शाकु० २.१०)। कुमारसंभव का वसन्त केवल चित्र था और काम केवल मूर्त्ति। इन दोनों की जड़ता को दूर किया पार्वतीमाता के अनुग्रह ने, यह अनुग्रह और कुछ जो भी हो, परन्तु सत्त्वयोग तो अवश्य ही था।

आगे काम का दाह, पार्वती द्वारा अपनी रूपमाधुरी का धिक्कार, घोर तप, निष्ठा की परीक्षा और शिव के द्वारा पार्वती का स्वीकार। तप से पार्वती में कौन सी विशेषता आई, कि अब शिव ने पार्वती का क्रीतदासत्व घोषित कर दिया— 'अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि! तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः' (कुमार० ५.८६)। उत्तर में कहा जाएगा 'वह विशेषता आ गई थी पार्वती में जिसके अभाव में शिव को सती से बिछुड़ना पड़ा था, सती ने शरीर त्याग दिया था। सती में अमरता नहीं थी, वे स्वयं मृत्युञ्जय नहीं बन पाई थीं। मृत्यु यानी पञ्चभूतों का बिखराव। तप के द्वारा पार्वती ने इन पञ्चभूतों पर विजय प्राप्त की और वे स्वयं मृत्युञ्जय बन गईं। जल में गले तक डूब कर शिशिर में उन्होंने जलभूत पर विजय प्राप्त कर ली, पञ्चाग्नि तप से अग्निभूत पर, वायुभूत पर केवल वायुभक्षण का व्रत लेकर यानी प्राणायाम के द्वारा, आकाशभूत को जीता अनिकेतवास से। पृथिवीभूत को जीत चुकी थीं अपर्णात्व के द्वारा। पार्वती स्वयं गिरे पत्ते खाकर तपोरत रहीं, परन्तु बाद में उनने भोजन भी छोड़ दिया था—

स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः।। (कुमार० ५.२८)

तो यह हुई कथा चित्र और सत्त्व की कालिदास साहित्य में।

३. तारकासुर से पीड़ित देवगण ब्रह्माजी के पास पहुँचे, तो उन सबको निस्तेज देखकर ब्रह्मदेव ने कहा—'ये आदित्य शीतल क्यों हैं, इनका प्रताप (तपन) क्षति को प्राप्त क्यों है? इन्हें तो आँखें फाड़ फाड़कर देखा जा सकता है। ऐसा लगता है वास्तविक नहीं अपितु ये चित्रलिखित से हैं।

४. चित्र के लिए कालिदास आलेख्य शब्द का प्रयोग भी करते हैं। विरही प्रेमी प्रेयसी से आलेख्य में भी मिल नहीं पाते। पुरूरवा और यक्ष दोनों की यही स्थिति है। पुरूरवा और यक्ष दोनों की आँखें भर आती हैं और वे प्रिया का चित्र पूरा नहीं कर पाते। पुरूरवा अपनी दशा को इस प्रकार उपस्थित करता है—

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागम—कारिणीम्।
न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां
मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे! न भवष्यति।। विक्र० २.१०।।

५. यक्ष की भी यही स्थिति है। एक वर्ष के प्रिया—वियोग के शाप से वह अलका से हटकर रामगिरि पर आ ठहरा है जिसमें धातुराग सुलभ हैं और शिलाएँ भी। यक्ष यक्षी को तो बना लेता है, किन्तु ज्योंही वह बनाने चलता है यक्षी के पैरों पर गिरी खुद की प्रतिमा तो आँखें भर आती हैं। दिखना बन्द हो जाता है। विधाता इनके मिलन पर इतना विपरीत है कि चित्र में भी वह मिलन नहीं होने दे रहा है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्त्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः।। मेघ० १०३।।

६. मालविकाग्निमित्र में नायक अग्निमित्र नायिका मालविका का चित्र ही देखता है पहले। जब साक्षात् मालविका को देखता है तो चित्र को मालविका की प्रस्तुति में अपर्याप्त मानता है—

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसम्वादशङ्कि मे हृदयम्।
संप्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता।। माल० २.२

७. अज की प्रिया इन्दुमती स्वर्ग सिधार गई तो उसने जैसे तैसे आठ वर्ष बिताए, क्योंकि पुत्र दशरथ बालक थे। वह कटु नहीं बना। कभी वह लता आदि में प्रिया का अनुहार देखकर तृप्त हो लेता, कभी कभी प्रतिकृति (मूर्ति) देखकर और कभी स्वप्न में हुए क्षणिक समागमोत्सव में—

तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथञ्चिद्
बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः।
सादृश्य—प्रतिकृति—दर्शनैः प्रियायाः
स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च।। रघु० ८.९२।।

८. विक्रमोर्वशीय में निपुणिका विदूषक को आलेख्यगत वानर सा समझती है—

अहो आलेख्यवानर इव किमपि मन्त्रयन् निभृत आर्यमाणवकस्तिष्ठति।

—विक्रमोवर्शीय पृष्ठ ४४८ नीचे से पंक्ति ९

९. रघुवंश में कुमार सुदर्शन जब विवाह के योग्य हो गए तो उन्हें राजकन्याओं की प्रतिकृतियाँ दिखाई जाने लगीं। स्वयं राजकन्याएँ प्रतिकृतियों से अधिक सुन्दर थीं।

प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतसंदर्शिताभ्यः
समधिकतररूपा०० अधिविविदु०० श्रीभुवौ राजकन्याः।। (रघु० १८.५३।।

१०. शकुन्तला की रूपमाधुरी के लिए दुष्यन्त की **'चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा०'** उक्ति पर विचार दिए जा चुके हैं (पृष्ठ २३५)। इस अभिप्राय को ठीक से समझने में विष्णुधर्मोत्तर पुराण का निम्नलिखित वचन सहायक है—

सहकाररसं गृह्य उर्व्यां चक्रे वरस्त्रियम्।
चित्रेण सा ततो जाता रूपयुक्ता वराप्सराः।। ३.३५.३।।

११. पार्वती का चतुरस्रशोभी यौवन से सुन्दर शरीर तूलिका से उकेरा चित्र सा था—

'उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्' (कुमार० १.३२)।

१२. उजड़ी अयोध्या में चित्रलिखित हाथियों पर (रघु० १६.१३) शेर पञ्जे मारते हैं।

१३. अयोध्या लौटे राम जिन भवनों में रहते हैं उनमें चित्र भी बने हुए हैं (रघु० १४.२५)।

१४. अलका नगरी के भवनों में भी चित्र बने हुए थे (मेघ० ६३)।

१५. अलका में मेघ भवनों में प्रवेश कर लेते और वहाँ बने चित्रों को बिगाड़ देते हैं (मेघ० ६८)।

चित्रगत विशेषताएँ

शाकुन्तल में चित्रनिर्माण की प्रक्रिया भी प्रस्तुत की गई है। छठे अंक में दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाता है। उसकी समीक्षा विदूषक करता है और कहता है—

साधु वयस्य मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः।
स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु।

—(शाकु० ६.१३.६ पृ० ६२६)

साधु मित्र, इस चित्र में जो भावानुप्रवेश है वह अवस्थान की मधुरता के कारण दर्शनीय है, इसके उतार चढ़ाव में मेरी दृष्टि फिसल सी रही है।

वहीं सानुमती भी उपस्थित है। वह भी कहती है—

अहो एषा राजर्षेर्निपुणता जाने सखी अग्रतो मे वर्त्तत इति।

देखो तो यह निपुणता राजर्षि की लग रहा है सखी मेरे सामने उपस्थित है।

—(शाकु० ६.१३.७)

राजा कहता है 'मित्र! चित्र में जो कमी है उसे ठीक कर लेने पर भी, उस शकुन्तला का लावण्य रेखाओं में कुछ थोड़ा ही आ सका है—

यद् यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत् तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्।। (शाकु० ६.१४)

विदूषक मृगयाप्रसङ्ग में दुष्यन्त के साथ भी था, किन्तु उसे शकुन्तला को देखने का अवसर नहीं मिला था। वह चित्र में बनी तीन आकृतियों में, पूछता है इनमें शकुन्तला कौन सी है। सानुमती उसे मोघदृष्टि कहती है (शाकु० १४.२—३ षष्ठांक)। राजा पूछ देता है कि तुम खुद बतलाओ, तुम्हें कौन सी लगती है शकुन्तला? विदूषक पँहचान लेता है। दुष्यन्त कहता है तुमने एक बात नहीं पकड़ी। देखो मैंने एक भावचिह्न भी बनाया है। देखो—

इस चित्र में उँगलियों में पसीना है। रेखा के अन्त भागों में यह मलिन दिखाई दे रहा है। और कपोल पर गिरी आँसू की बूँद भी उभरी दिखाई दे रही है वर्त्तिका के उभार से—

स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्त्तिकोच्छ्वासात्।। (शाकु० ६.१५)

इतनी सूक्ष्म दृष्टि चित्रनिर्माणकला में दुष्यन्त की या महाकवि कालिदास की। इतने पर भी दुष्यन्त कुछ और बनाना चाह रहा है चित्र में। वह वर्त्तिका मँगाता है। विदूषक पूछता है मित्र और क्या बचा है जो तुम इसमें बनाना चाहते हो? दुष्यन्त उत्तर देता है— शकुन्तला तो आ गई, परन्तु उसका पर्यावरण छूट गया। वही चाहता हूँ

बनाना।

'आवश्यक है इस चित्र में बनाना मालिनी नदी का प्रवाह, उसके सैकत में हंस के जोड़े, उसके चहुँओर हिमालय के पावन शृङ्ग, शृङ्गों पर बैठे हरिण। बनाना चाहता हूँ वृक्ष जिसकी शाखा पर वल्कलवसन सूख रहे हों और जिसकी छाया में कृष्ण—मृग के नुकीले सींग से आँख खुजला रही हो मृगी'—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।। शाकु० ६.१७।।

दुष्यन्त आगे कहता है 'एक बात और रह गई है इस चित्र में। वह है 'वह प्रसाधन जो शकुन्तला को पसन्द था'—

अन्यच्च शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृतमस्माभिः—
कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे! शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।।

रह गया बनाना कान में शिरीष पुष्प जिसके धागे कपोल तक लटके हुए हों, इसी प्रकार रह गया है दोनों स्तनकोषों के बीच शरदिन्दुरश्मिगौर मृणालसूत्र।
(शाकु० ६.१८)

उपर्युक्त विशेषताओं से चित्र की अनेक विधाएँ स्पष्ट हैं। चित्र की एक विधा है **विद्धचित्रविधा** अर्थात् जैसा का तैसा चित्र। यह विधा 'मालिनी'—नदी आदि के चित्रण में प्रस्तुत है। दूसरी विधा है **भावचित्रविधा**। हंसमिथुन के आलेखन में वह भी प्रस्तुत है यहाँ। तीसरी विधा है **रसचित्रविधा**। मृगमृगीवृत्तान्त के द्वारा वह भी यहाँ उपस्थित हो चुकी है। इस विधा में दुष्यन्त ने स्वयं की विषमशीलता प्रस्तुत की। कहाँ तो अति तीक्ष्ण शृङ्गाग्र और कहाँ अति कोमल आँख। मृगी पूर्ण आश्वस्त। यही स्थिति दुष्यन्त और शकुन्तला की। शकुन्तला भी पूर्णतः आश्वस्त थी दुष्यन्त के परिचय से। मृगमृगी के रूप में दुष्यन्त चित्र में स्वयं को भी प्रस्तुत करना चाह रहा है जो उसका बाद का विचार है।

महाकवि इस चित्र का प्रभाव भी चित्रित करते हैं। उपर्युक्त चित्र शकुन्तला को हुई भ्रमरबाधा का चित्र था। उसमें शकुन्तला अपनी रक्तकमल जैसी हथेलियों से मुख ढँके है। विदूषक देखता और भूल जाता है कि यह स्थिति चित्रगत है और उसे वास्तविक मान चिल्ला उठता है—

'आः तत्रभवत्या वदनमभिलङ्घति मधुकरः'

आः, इनके मुख पर टूट रहा है भौंरा।

यह हुआ द्रष्टा का 'चित्रणीय–तन्मयीभवन'। विदूषक के स्वर में दुष्यन्त भी स्वर मिलाता और कहता है–'यह जाति ही उल्टी लत की है, हटाओ इसे'। विदूषक कहता है अविनीतों का निवारण करने वाले आप ही हैं, अतः इसे आप ही हटाइए। दुष्यन्त भावविभोर है। वह भौंरे से कहता है– 'अयि कुसुमित लता के प्रिय अतिथि! क्यों उठा रहे तो कष्ट यहाँ मँडराने का– तुम्हारी प्रिया, देखो, यह बैठी है पुष्प पर, परन्तु मधु नहीं छू रही, यद्यपि उसे तृषा सता रही है। यह मधु का पान तुम्हारे विना नहीं करेगी'–

एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु त्वया विना पिबति।। (शाकु० ६.१९)

विदूषक की भी यही स्थिति है। वह भी तन्मयावस्था में है। कहता है–'रोकने पर भी भ्रमर रुकने वाला नहीं'। तब दुष्यन्त स्वयं ही भौंरे को भय दिखलाता है–

'एवं भोः! न मे शासने तिष्ठसि? श्रूयतां तर्हि संप्रति–
अक्लिष्ट–बालतरुपल्लव–लोभनीयं पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं दशसि चेद् भ्रमर! प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्।।
(शाकु० ६.२०)

भ्रमर! सुन–'प्रिया के लाल लाल अधर–बिम्ब को डँसेगा तो मैं तुझे डलवा दूँगा कमलपुष्प के उदर की कारा में। प्रिया का बिम्बाधर इतना कोमल है कि मैंने भी उसे रतिमहोत्सवों में दयापूर्वक ही पिया है अक्लिष्ट (अरूढ) और बाल तरुपल्लव सा ठहरा वह।

विदूषक होश में आ जाता है और दुष्यन्त को सावधान करते हुए कहता है–'**भोः, चित्रं खल्वेतत्**' (शाकु० ६.२.१ पृष्ठ ६२९)। 'मित्र। यह तो चित्र है'। स्पष्ट है कि 'कला की सत्ता केवल प्रातिभ है, न पारमार्थिक, न व्यावहारिक और न प्रातिभासिक'। प्रातिभ शकुन्तला के प्रातिभ बिम्बाधर का प्रातिभ भ्रमर के प्रातिभ दंश से कुछ भी बिगड़ने को नहीं। चित्र ने तो प्रसुप्त संस्कारों को जगाया और उन्हीं के मधुर हिंडोले पर झुला दिया द्रष्टा और भावक की भावुक चेतना को। किन्तु, दुष्यन्त को यह अच्छा नहीं लगा। उसे होश आ गया। वह बोला '**कथं चित्रम्**? = 'क्या कहा, यह चित्र है, वास्तविक शकुन्तला नहीं? सानुमती भी भावना के प्रवाह में बह उठी थी। वह भी कहती है–'मैं भी इसे सच्ची शकुन्तला समझ बैठी थी। मुझे भी अब हुआ वास्तविकता का बोध' (शाकु० ६.२१.३)। दुष्यन्त दुखी हुआ और विदूषक से बोला 'क्या किया तुमने पौरोभाग्य (दोषदर्शन)–अरे, मैं तो तन्मय हृदय होकर प्रिया के

दर्शन—सुख का अनुभव कर रहा था, स्मृति कराकर तुमने पुनः कान्ता को चित्र ही बना दिया। धिक्'—और आँसू बहाने लगता है दुष्यन्त (शाकु० ६.२१, ६.२१.१—४ श्लोक २१)।

दर्शनसुखमनुभवता साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता।। (शाकु० ६.२१)

इस चित्र को भी दुष्यन्त देख नहीं पाता (शाकु० ६.२२), मेघदूत में यक्ष के नेत्रों में आँसू भर आते हैं तो वह यक्षी के बने चित्र में स्वयं का चरणपतित मुद्रा का चित्र नहीं बना पाता (मेघ १०३)। दुष्यन्त की आँखों में भी उमड़ आते हैं आँसू। यह हुआ पराकाष्ठा को प्राप्त प्रभाव चित्रदर्शन का।

चित्रद्विप उनके साथ हथनियाँ और पद्मवन में उनकी केलि रघुवंश १६.१६ में चित्रित ही है।

चित्रकला के उपकरण

कालिदास ने चित्रकला के उपकरणों का भी उल्लेख किया है जो निम्नलिखित हैं—

१. कान्ति,
२. सादृश्यातिशय,
३. कुछ वैसादृश्य भी। इन सबका कारण केवल,
४. समाधि। यह एक ऐसा गुण है जिसमें चित्त एकाग्र हो जाता, अन्य किसी वस्तु का ज्ञान उस समय उसे नहीं होता, वह तन्मय हुआ रहता है जब कारुकर्म यानी चित्र निर्माण में होता है प्रवृत्त,
५. कारु (चित्रकार) के हृदय का अभिष्वङ्ग,
६. प्रभाव,
७. मिथ्यात्वबोध,
८. वर्णद्रव्य और
९. आधार (पट आदि)

वर्णद्रव्य शाकुन्तल में बाजार से नहीं खरीदे जाते। ये वे वर्णद्रव्य हैं जो अप्सराओं के अङ्ग—प्रत्यङ्गों की सजावट से बचे रहते हैं। इनसे लिखा जा रहा है यश मनुष्य दुष्यन्त का, वह भी अंशुकों पर। अंशुक भी वे जो कल्पलताओं के ध्वजपटों में लगे हैं। जो मजबून लिखा जा रहा है वह है पद्य—मय। अर्थात् हृदय से लिखा जा रहा है वह, अन्यथा वह गद्य में भी लिखा जा सकता था। सौन्दर्य व्यर्थ यदि वह सुरक्षित न रह सके। कल्पलता मन की कामना पूरी कर सकती हैं, परन्तु सुरक्षा देने

में वे भी असमर्थ। जिसने दी सुरक्षा वह है मनुष्य। तो यह जो लिपिकर्म चल रहा है इसमें सौन्दर्य और कल्पलताओं से समृद्ध देवजाति असमर्थ। समर्थ केवल मानवजाति। अत: दिवौकस यानी देवता लोग त्वच्चरित 'तुम मर्त्य का चरित' मन से लिख रहे हैं। यह है महत्त्व मानव का। क्यों? क्या है इसमें अधिक और क्या है कमी देवजगत् में? सोचिए। एकमात्र संयम। संयम का धनी मनुष्य ही होगा। देव में यदि संयम हो तो वह देवता कैसा? ये सभी तथ्य चित्रनिर्माण की इस घटना से निकल रहे हैं। यहाँ चित्र को कविता मिल गई और चित्र का मौन एक भव्य मुखरता में परिणत हो गया। हमने इसीलिए लिखा है 'चित्र, मूर्त्ति और काव्य' तीनों की भावभूमि एक और अभिन्न ही हुआ करती है—

इमां काव्यकलामेव मूर्त्तिश्चित्रं च चुम्बत:।
किन्तु राधायते काव्यकृष्णे भाषैव केवला।।
मूर्त्तौ चित्रे च या पूर्वभूमि: सा काव्यमेव हि।
काव्यमेव हि मूर्त्तौ च चित्रे च परिवर्त्तते।।

—(काव्यालङ्कारकारिका १८२—१८३)

लिपिरंग

उपर्युक्त लिपिकर्म में अनेक रंगों का उपयोग यह भी संकेत दे रहा है कि ग्रन्थ भी केवल एक रंग में नहीं, अपितु अनेक रंगों में लिखे जाते थे। गीता और कुरानशरीफ आदि के ऐसे लेख मिले भी हैं।

चित्र शब्द का मुख्य अर्थ है विविध प्रकार के रंगों की योजना। चित्र, आलेख्य, प्रतिकृति आदि शब्दों के प्रयोग विना भी कालिदास—साहित्य में अनेक प्रसङ्ग ऐसे हैं जिनमें अनेक प्रकार के रंगों का सन्निवेश है। एक अकेले मेघदूत में ही देखिए—

१. श्यामवर्ण के मेघ पर अनेक वर्ण का इन्द्रधनुष ऐसा लग रहा है जैसे श्रीकृष्ण के सिर पर मयूरपिच्छ का मुकुट = मोरमुकुट, या अनेक रत्नों की कान्तियों का मिश्रण—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुष्खण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णो:।। मेघ० १५।।

कृष्ण वर्ण का मेघ सफेद बर्फ से ढँके कैलास शृङ्ग पर जब बैठ जाएगा तब उस पर्वत की शोभा बलराम जी जैसी ही हो जाएगी जो गौरवर्ण के शरीर पर नीलाम्बर डाले रहते हैं—

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्य:कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रे: स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री–
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव।। (मेघ० ६३)

गंगाजल का वर्ण गौर। उसमें उतर पड़ा काला मेघ तो लगा कि गंगा से यमुना पहले ही आ मिली (मेघ०–५५)। रघुवंश में गङ्गा में यमुना जल के मिश्रण के विविध चित्र कवि इस प्रकार प्रस्तुत करता है–

१. जैसे इन्द्रनीलमणि मुक्तामणि की माला में आ मिली हो,
२. जैसे नीलकमल सफेद कमलों की माला में आ गुँथे हों,
३. जैसे नीलवर्ण के हंस श्वेतवर्ण के हंसों में आ मिले हों,
४. जैसे भूमि पर बनी चन्दन की छटा पर कालागुरुपत्र बना हो,
५. जैसे चाँदनी में अँधियारी आ समाई हो,
६. जैसे शरत्कालीन मेघ के बीच से आकाश की नीलछवि दीखती हो,

अथवा ७. जैसे भगवान् शिव के भस्मलिप्त शरीर पर कृष्ण सर्प की भूषा हो। (रघु० १३.५५–५७)

सितासित का यह वर्णन इतना आकर्षक ठहरा कि इसी प्रकार सितासित चित्र पाठान्तर में सुलभ मिले और अन्य अनेक काव्यों में भी। पाठान्तर के लिए देखिए हमारा रघुवंश[१]।

कामशास्त्र की जयमङ्गला टीका में चित्र के लिए जो निम्नलिखित कारिका उद्धृत है उसमें निर्दिष्ट सभी विशेषताओं से कालिदास अवगत हैं–

रूपभेदा: प्रमाणानि भावलावण्ययोजना।
सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रं षडङ्गकम्।।

अर्थात् चित्र के छ होते हैं अङ्ग १.रूप (आकार), २.प्रमाण, ३.भाव, ४.लावण्य ५.सादृश्य और ६.वर्णिकाभङ्ग। इन सबकी एक पृथक् परिभाषा भी है–'रेखा', जिसका प्रयोग भी कालिदास ने किया है।

चित्र–मूर्त्ति

कालिदाससाहित्य में चित्र शब्द से मूर्त्ति भी गृहीत हो सकती है। पार्वती तपोरत हैं। वे खड़ी हैं। प्रथम वृष्टि की बूँदें पहले उनकी आँखों की घनी और

---

१. a. A Critical Edition of Kalidasa's Raghuvansa, Sahitya Akademi, Delhi, 1993.
b. कालिदासग्रन्थावली, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, १९८६।

ऊर्ध्वमुखी बरौनियों पर रुक जाती हैं, वहाँ से टपकती हैं और चोट पहुँचाती हैं अधर ओष्ठ पर, वहाँ से ऊँचे पयोधरों पर गिरकर हो जाती हैं चूरचूर, फिर नीचे उतरती हैं तो त्रिवली में सरकती सरकती धीरे धीरे गभीर नाभिकूप में जा समाती हैं।–

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।

वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे क्रमेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः।।[१] (कुमार० ५.२४)

निश्चित ही यह माता पार्वती की तपोनिरत मूर्त्ति का निरूपण माना जा सकता है।

अयोध्या[२] उजाड़ दी गई तो उसके स्तम्भों पर जो प्रतिमाएँ बनी थीं उनके स्तनों पर उत्तरीय वस्त्र का काम साँप की केंचुली कर रही थी–

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।

स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः।। रघु० १६.१७।।

नृत्यकला

'नृत्यं गीतं च वाद्यं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते' के अनुसार नृत्य और वाद्य भी संगीतकला के अंग हैं। कालिदास को इन तीनों की परम्पराओं का सूक्ष्म ज्ञान था। इनकी परम्परा भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से तो प्राप्त थी ही, उनके आधार पर लोक में प्रचलित नृत्यकला से भी प्राप्त थी। नृत्य के साथ नृत्त भी जुड़ा रहता है। नृत्त में केवल गात्र–विक्षेप रहता है। उसका आधार कोई भाव नहीं होता। अतएव मयूर का नृत्त नृत्त ही होता है, किन्तु मालविका का नृत्य भावसंप्रेषण से जुड़ा है अतः वह नृत्य है। इन दोनों ही परिभाषाओं का कालिदास ने सावधानी से प्रयोग किया है।

नृत्त

जब माता सीता को छोड़कर लक्ष्मण लौटे और सीता ने मुक्तकण्ठ से घायल कुररी सा क्रन्दन किया तो (रघु० १४.६८) पूरा वन शोक में डूब गया–मयूरों ने नृत्त छोड़ दिया, वृक्षों ने पुष्प गिरा दिए, और हिरनियों ने मुँह में रखे कुश उगल दिए।' यहाँ कवि ने 'नृत्त' शब्द का ही प्रयोग किया–

नृत्तं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।

तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि।। रघु० १४.६९।।

शकुन्तला जब कण्वाश्रम से बिदा हुई तो वहाँ भी तपोवन की यही दशा हुई– मृगियों ने मुँह के दर्भ उगल दिए, मयूरों ने नाँचना छोड़ दिया। पुराने पत्ते झड़ाझड़ा कर लताएँ भी मानों अश्रुपात करने लगीं–

---

२. इस पद्य पर चित्रमामांसा में अप्पयदीक्षित की सूक्ष्म विवेचना द्रष्टव्य है।

१. स्मरणीय 'अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्, अरुणद् यवनः साकेतम्'–व्याकरणमहाभाष्य।

उग्गलिअ—दब्भ—कवला मआ परिच्चत्त—णच्चणा मोरा।

ओसरिअपंडुपत्ता मुअंति अस्सुं विअ लदाओ।। (शाकु० ४.१२)

यहाँ 'नर्त्तन' का अर्थ मयूर के प्रसंग में नृत्त ही होगा।

मेघदूत में जो कांचनी वासयष्टि है उस पर शाम को आ बैठे मयूर को ताली दे देकर यक्षी नचा चुकी है—

तालैः शिञ्जावलयसुभगैः कान्तया नर्त्तितो मे।

यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद् वः।। (मेघ० ७७)

यहाँ भी नर्त्तित का अर्थ करना होगा नृत्तयुक्त ही। इसी प्रकार अन्य सन्दर्भों से भी नृत्त प्राप्त किया जा सकता है कालिदास—साहित्य में। अब लें नृत्य।

नृत्य

नृती धातु का अर्थ है अङ्गविक्षेप 'नृती गात्रविक्षेपे'। गात्र यानी अङ्ग। इसके साथ लगा 'क्यप्' प्रत्यय तो बना नृत्य। इसका अर्थ हुआ नर्तन का विषय, जिसे नृत्य से प्रस्तुत किया जाए। वह होगा 'भाव'। नृत्त में ऐसी कोई वस्तु नहीं रहती। भावगर्भित नृत्य का उदाहरण है मालविकाग्निमित्रम् में मालविका का 'छलिक' या 'चलित' नृत्य जिसका आविष्कार शर्मिष्ठा ने किया था और जिसमें वस्तु होती है चतुष्पद। मालविका अग्निमित्र पर और अग्निमित्र मालविका पर अनुरक्त है। मालविका नृत्य में जो पद गाती है उसमें अनुराग—रूपी भाव की अभिव्यक्ति है। मालविका नृत्यपद है—

दुल्लहो पिओ मे तस्सिं भव हिअअ णिरासं

अम्हो अपंगओ मे परिप्फुरइ किं वि वामओ।

एसो सो चिरदिट्ठो कहं उवणइदव्वो

णाह मं पराहीणं तुइ परिगणअ सतिण्हं।। (माल० २.४)

१. मेरा प्रिय दुर्लभ है। हृदय! उसकी आशा छोड़।

२. अहो मेरी बाँई आँख किसी भी कारण फड़क रही है।

३. इसे देखे कितना समय बीत गया। कैसे पहुँचा जाए इसके पास।

४. नाथ! मैं हूँ पराधीन पर तुम्हारी चाह लिए हूँ।

ये हुई चार पदों की गूढभावयोजना। रस है शृङ्गार। उसके अनुसार करना है नृत्य। मालविका ने उसे सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया।

यह नृत्य छलिक कहा गया, क्योंकि इसमें छिपे छिपे प्रिय से कही गई अपनी बात। विदूषक ने इस बात को पकड़ लिया और अग्निमित्र से कहा चतुष्पदी के बहाने तो नर्त्तकी ने तुम्हें स्वयं को सौंप दिया। अग्निमित्र भी इसका समर्थन करता है (माल० २.५)।

मालविका के नृत्य की समीक्षा भी की जाती है। नृत्य के बाद मालविका जाने लगती है तो विदूषक उसे रोक लेता है यह कहते हुए कि मालविका से नृत्य में कोई भूल हो गई है। नाट्याचार्य गणदास विदूषक से पूछता है बतलाइए क्या हुई है भूल। विदूषक कहता है कौशिकी, जो मुख्य निर्णायिका है, उससे पूछा जाए। गणदास कौशिकी से कहता है, जैसा देखा आपने वैसा कहिए इसके प्रयोग में गुण–दोष। कौशिकी अपनी समीक्षा देती है। तब तक अग्निमित्र मालविका का सौन्दर्य निहार रहा है। कौशिकी की समीक्षा है–

हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमुप/मनु–गतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पानुवृत्तौ
भावे भावं नुदति विषयान् रागबन्धः स एव[१]।। माल० २.८।।

हाथों की मुद्राएँ ऐसी कि जिनमें वचन (वाक्य) अन्तर्निहित था, जो सूचित करना था उसे ठीक से सूचित कर दिया गया (सूचा), पादन्यास वैसा ही जैसी लय, रसों में तन्मयता (अङ्कुर), शाखाओं से किया गया मृदु अभिनय (शाखा), [२]*छहों विकल्पों (वाक्य, सूचा, अङ्कुर, शाखा, नाट्यायित तथा निवृत्त्यङ्कुर) की अनुवृत्ति में एक भाव से दूसरे भाव की हृदयस्पर्शिता और रागबन्ध वही।*

इस श्लोक का मुद्रित पाठ मालविकाग्निमित्र में निम्नलिखित है–

'अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः००० सो लयमनु०० नयस्तद्विक०० भावो भावं०० विषयाद्०० रागबन्धः स एव।'

यह पाठ पारिभाषिकता से हटकर सामान्यीकरण की ओर दौड़ है जिससे स्पष्ट है कि अध्येता नाट्यशास्त्र को छोड़ चुके थे। टीकाकारों और बहुसंख्य संपादकों को भी इस श्लोक के अवलोक में दिए पाठों का ज्ञान नहीं था। हमें भी भ्रम हुआ और हम भी अपनी कालिदासग्रन्थावली के दोनों संस्करणों में अवलोक में उद्धृत 'हस्तै०' इत्यादि पाठ नहीं दे सके। भ्रम का कारण था इस श्लोक के प्रथम शब्द में ही 'हस्तै' की जगह 'अङ्गैः' शब्द का आ जाना। दशरूपक के संपादक भी इस श्लोक का सन्दर्भ

---

१. इस श्लोक का यह पाठ दशरूपक की टीका अवलोक के निर्णयसागर–संस्करण में मुद्रित है। हमने इसे अपनी कालिदासग्रन्थावली में तो नहीं, परन्तु बाद में अलग से शोधपत्र लिखकर तीन वर्षों पहले उज्जैन के कालिदाससमारोह में प्रस्तुत किया है। इसके स्थान पर पाठ छपा है 'अङ्गैरन्तर्निहित०', जिसमें ९ पाठ भेद हैं।

२. नाट्यशास्त्र अध्याय २२, कारिका ४४–४९, बड़ौदासंस्करण, पृ० १६८–१७३ ई० सन् १९५४।

नहीं दे सके थे निर्णयसागरीय संस्करण में। डॉ० सुब्रह्मण्य अय्यर के साहित्य अकादमी से छपे मालविकाग्निमित्र में भी दशरूपकावलोक के पाठ की सूचना नहीं है। उसे उन्होंने जम्मू, तञ्जौर आदि की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर तैयार किया है। निश्चित ही उपर्युक्त पाठ उन प्रतियों में भी नहीं था और न सर्वोत्तम माने गए 'पण्डित'—संस्करण में।

इस अवान्तर कथा के बाद नृत्य से संबन्धित कुछ वक्तव्य अवशिष्ट है जो मालविकाग्निमित्र में मिलता है। यह वक्तव्य है 'षड्यन्त्र'। मालविका अपने भाई माधवसेन के सचिव सुमति और उसकी बहिन कौशिकी के साथ शायद अग्निमित्र के ही पास जा रही थी कि बीच में उन्हें दस्युओं से लड़ना पड़ा और उसमें सुमति मारा गया। तभी तक राजसैनिकों ने दस्युओं को मार भगाया। कौशिकी ने अपने भाई सुमति की अन्त्येष्टि की। राजसैनिक मालविका को विदिशा ले आए जहाँ मालविका उसकी कला—प्रतिभा के कारण रानियों के पास छोड़ दी गई। कौशिकी ने संन्यासी के वस्त्र पहन लिए। और वह भी भटकती भटकाती विदिशा ही जा पहुँची। उसका भी संबन्ध अपनी कलानिपुणता के कारण राजपरिवार से हो गया। कवि इस तथ्य को स्पष्ट नहीं करता कि रनिवास में मालविका से कौशिकी का संपर्क था या नहीं। ऐसा लगता है कि नहीं था। किन्तु कौशिकी के साथ विदूषक का परिचय था। शायद विदूषक ने नाट्याचार्यों को लड़ाने की जो योजना बनाई थी उसमें कौशिकी भी संमिलित थी, क्योंकि वह प्रमुख है और निर्देश देती है कि नृत्यप्रयोग करने आ रही मालविका को अधिक वस्त्र न पँहनाए जाएँ, जिससे सभी अंगों का नृत्यसौष्ठव दिखाई दे सके। यह अग्निमित्र के सामने मालविका को अधिकतम खुले अंगों में प्रस्तुत करने की गूढ़ योजना भी थी। रानी इस योजना को समझ रही थी। वह इसीलिए अग्निमित्र से कहती है—'यदि ऐसी उपायनिपुणता राजकार्यों में हो तो' (माल० १.२०.२०)। इसी के पहले कौशिकी ने कहा था— 'मुझे निर्णय का अधिकार दिया गया है तो मेरी आज्ञा है कि दोनों पात्र प्रस्तुत किए जाएँ किन्तु उनके शरीरों पर वस्त्र विरल हों, जिससे नृत्य में सभी अङ्गों का सौष्ठव समझ में आ सके' (माल० १.२०.१८)।

परिणाम अनुकूल हुआ। अग्निमित्र की मालविका को पाने की इच्छा अब चिनगारी से धधकती आग बन गई। शास्त्रीय भाषा में यह थी अत्यन्त सफल विभाव—योजना नाट्य में और व्यक्तियोजना लोक में।

इस घटना का एक संकेत इस ओर भी है कि वधू के विषय में वर को सीधी जानकारी होनी चाहिए। इसी प्रकार वधू को भी वर की प्रवृत्तियों से अवगत करा दिया जाना चाहिए। यह सब हुआ मालविकाग्निमित्र में मालविका के छलिकनृत्य से।

रघुवंश का अन्तिम नायक अभिनय की बारीकी का जानकार है और वह स्वयं प्रयोग की कमी पकड़ लेता है (रघु० १९.१४)। वह पुष्कर वाद्य खुद बजाता है।

स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्त्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्त्तिषु गुरुष्वलज्जयत्।। रघु० १९.१४।।

नृत्य में महत्त्व है अङ्गहारों का। इनका विस्तारपूर्वक निरूपण नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में सुलभ है। चिदम्बरम् देवमन्दिर के विशाल गोपुरों पर नारीशरीर में ये अङ्गहार उत्कीर्ण हैं। कुमारसंभव में नवविवाहित वर–वधू अर्थात् शिव और पार्वती अप्सराओं द्वारा प्रयुक्त नाट्यप्रयोग देखते हैं जिसमें अङ्गहार ललित थे–

तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्त्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम्।। कुमार० ७.९१।।

'उन दोनों दम्पती ने अप्सराओं द्वारा प्रयुक्त आद्यप्रयोग (शृङ्गार का) देखा जिसमें सन्धियों में वृत्ति बदलती जाती थी और अन्य रसों में भी राग बना हुआ था। अङ्गहार भी जिसमें ललित थे।

प्रयोग में भाषा भी दो थीं भगवान् के लिए संस्कृत और जगदम्बा के लिए प्राकृत। संस्कृत यानी प्रकृतिप्रत्यय की विविक्तता से युक्त भाषा और प्राकृत यानी जिसे सुख से समझा जा सके। इन दोनों भाषाओं द्वारा स्वयं माँ सरस्वती प्रणाम अर्पित कर रही थीं–

द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्य–निबन्धनेन।। कुमार० ७.९०।।

नृत्त और नृत्य के ऐसे अन्य संकेत भी कालिदास साहित्य से बटोरे जा सकते हैं।

गान

गीत और गान के अनेक सन्दर्भ आते हैं कालिदाससाहित्य में। गान में प्रमुख है स्वर। भगवती पार्वती का स्वर ऐसा मधुर था कि लगता था उससे अमृत चू रहा है। जब वे बोलती थीं तो कोकिल की कूक भी उल्टी लगती थी। (कुमार० १.४५)

१. वनान्तसंगीतसखियाँ भी पार्वती की विरहव्यथा से व्यथित हो उठती थीं।। (कुमार० ५.५६)
२. मयूर की बोली में षड्ज स्वर की झलक रहती है (रघु० १.३९)
३. हंसपदिका संगीत का अभ्यास करती है जिसे वर्ण–परिचय कहा जाता है। (शाकु० ५.१.२)
४. प्रत्येक नाटक के आरम्भ में संगीतविधान रहता है और कालिदास ने भी

उसका अनुपालन किया है।

५. यक्षी अपनी ही मूर्च्छना भूल जाती है। (मेघ० ८४)

६. मेघ जैसे हैं अलका के ऊँचे ऊँचे भवन। मेघ में गर्जना तो भवनों में मुरजध्वनि। (मेघ० ६३)।

७. मेघ जिस रास्ते जाता है उसकी फुहार से बचने के लिए वीणाधारी रास्ता बदल लेते हैं (मेघ० ४५)।

८. ओषधिप्रस्थ में स्निग्ध और गम्भीर ध्वनि में मृदंग बजते रहते हैं (कुमार० ६.४)।

९. पञ्चाप्सरस्तीर्थ से मृदङ्गध्वनि निकलती रहती है (रघु० १३.४०)।

१०. अतिथि के यहाँ तूर्यध्वनि होती और पुष्कर पीटे जाते (रघु० १७.११)।

वाद्य

वाद्यों में (१) वीणा (२) वेणु और (३) मृदङ्ग के अनेक सन्दर्भ कालिदाससाहित्य में सुलभ हैं।

(१) वीणा

नारदजी आकाशमार्ग से गोकर्णेश्वर भगवान् शंकर की स्तुति के लिए वीणा लिए जा रहे थे किन्तु उनकी वीणा से स्वर्ग का पुष्प गिरा और इन्दुमती उसे देखते ही समाप्त हो गई। कवि ने वीणा को यहाँ 'आतोद्य' कहा (रघु० ८.३४) और 'परिवादिनी' भी (रघु० ८.३५)। आगे 'वल्लकी' का भी स्मरण किया (रघु० ८.४१)।

भरत का युद्ध गन्धर्वों से हुआ। उन्होंने उनके हाथ के आयुधों को छुड़वा दिया और केवल 'आतोद्य' तक उन्हें सीमित कर दिया—

भरतस्तत्र गन्धर्वान् युधि निर्जित्य केवलम्।
आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम्।। रघु० १५.८८।।

किंपुरुषों की अङ्गनाओं की पत्रलेखाएँ गीत में आए पसीने से फैल जाती हैं (कुमार० ३.३८)।

अप्सराओं ने गाना शुरू किया उससे तपोवन हिल उठा किन्तु शिव ने समाधि लगा ली (कुमार० ३.४०)।

भगवान् विष्णु की स्तुति सातों साम किया करते हैं (रघु० १०.२१)।

भगवान् राम के पुत्र 'कुश—लव' प्राचेतस महर्षि द्वारा प्रणीत रामायण का गान घूम घूम कर करते हैं अयोध्या की यज्ञसभा में (रघु० १५.६३)।

'तुम्हें गाना किसने सिखाया और किसकी है यह कृति जो तुम गा रहे हो'—इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में कुश और लव ने एक ही उत्तर दिया 'वाल्मीकि' (रघु० १५.६९)।

कुशलव के गीत सुने तो सभी की आँखों में आँसू आ गए (रघु० १५.६६)।

वारिविहार में पहले होता है गान फिर बजता है वारिमृदङ्ग तो तीर के मयूर उसका अभिनन्दन करते दिखाई देते हैं (रघु० १६.६४)।

कुश के प्रपौत्र 'नभस्' की कीर्त्ति स्वर्ग में भी गाई जाती थी (१८.६ रघु०)।

अग्निवर्ण के महलों में मृदङ्गध्वनि भरी रहती थी (रघु १९.५)।

अग्निवर्ण के अंक में दो ही वस्तुएँ स्थान पाती थीं, एक वल्लकी और दूसरी वामलोचना। दोनों का स्वर मीठा (रघु० १९.१३)।

कुछ नर्त्तकियों के दष्ट अधरों पर वेणु ने पीड़ा पहुँचाई और कुछ को वीणा ने जिनके स्तन नखक्षतों से घायल थे (१९.३५)।

पुरूरवा उर्वशी के वियोग में उन्मत्त है। उस समय अनेक प्रकार की गीतियाँ प्रस्तुत होती हैं। किसी का नाम **चर्चरी** है, किसी का **खड्गधारा**, किसी का **मल्लघटी**, किसी को **द्विपदी** कहा गया है तो किसी को **चतुष्पदी**। इन सब पर प्रो० वेलणकर ने साहित्य अकादमी से छपे अपने विक्रमोर्वशीयम् के संस्करण की भूमिका में विस्तृत विचार किया है। कुछ विद्वान् इन सभी संज्ञाओं को नृत्यों के विभिन्न प्रकारों के लिए भी प्रयुक्त मानते हैं। डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ ने कालिदास में संगीत विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ ही प्रकाशित किया है।

वास्तुकला

भवननिर्माण भी मूर्त्तिनिर्माण सी ही कला है। 'समराङ्गणसूत्रधार' आदि ग्रन्थ इस कला के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। स्वयं नाट्यशास्त्र नाट्यशाला के विविध आकार और प्रमाण प्रस्तुत करता है। **चतुरस्र** (चौकोर), **विकृष्ट** (अधिक लम्बा, चौड़ा कम) और **त्र्यस्र** (त्रिकोण) आकार के मण्डपों के प्रमाण ज्येष्ठ, मध्यम और अवर। इनमें ज्येष्ठ की लम्बाई १०८ हाथ, मध्यम की ६४ हाथ और अवर की ३२ हाथ। हाथ यानी डेढ़ फुट। ज्येष्ठ प्रमाण मनुष्यों के लिए उपयुक्त नहीं, क्योंकि उसमें अंगों और प्रत्यङ्गों की नाट्य—चेष्टाएँ स्पष्ट नहीं दिखाई देतीं। मध्यम परिमाण का विकृष्ट मण्डप मनुष्यों के लिए उपयुक्त होगा। इसी प्रकार त्र्यस्र भी। तिकोना मण्डप पिछले भाग में चौड़ाई से रहित होगा। होगा इसका आकार।

मण्डप खड़ा करने के लिए स्तम्भसन्निवेश का सूक्ष्म विचार है। स्तम्भों की संख्या कुल मिलाकर २४ होगी। ऐसे भवनों का अवशेष गोकुल में नन्दबाबा के महल का अवशेष है और उज्जयिनी में भगवान् महाकालेश्वर के ऊपर बना भगवान् ओङ्कारेश्वर का मन्दिर। यहाँ (उज्जयिनी में) तो स्तम्भसन्निवेश स्पष्ट ही दिखाई देता है। स्तम्भों की मजबूती के लिए जो पत्थर चुना गया है, वह दुर्लभ है। उसमें चिकनाहट भी है और अलङ्करण भी। भोपाल के पास भोजपुर का शिवमन्दिर तो स्तम्भनिर्माण का आश्चर्यकारी नमूना है। स्तम्भों की ऊँचाई, गोलाई और चिकनाहट स्मरणीय है। पत्थर बादामी और ऐसी तराश कि उसमें खुरदुराहट का नाम नहीं। स्तम्भविधान पुरी के भगवान् जगन्नाथ जी के मन्दिर में भी है। गर्भगृह के सामने जो विशाल मण्डप बना है, वह दर्शनार्थियों की भीड़ की दृष्टि से ही उतना विशाल है। इसी प्रकार का स्तम्भसन्निवेश भगवान् रामेश्वर में भी दिखाई देता है, मदुरई में भी और काशी के केदारेश्वर मन्दिर में भी। यहाँ केदारेश्वर मन्दिर में पत्थर का काम बेजोड़ है।

कालिदास ने रघुवंश में अयोध्यानगरी का पुनर्निर्माण कराया। उसमें घुड़सार अलग और हस्तिशाला अलग। हस्तिशाला में मण्डप के भीतर स्तम्भ थे उनमें हाथी बँधे थे और उन पर हाथियों का उत्कीर्णन भी था।

श्रीभागवत में बिन्दुसर के भीतर कोई भवन था। वैसे ही कोई भवन महर्षि शात/माण्ड–कर्णि ने बनवाया था जिससे सङ्गीत के मृदङ्ग की ध्वनि निकला करती थी। वहीं इन्द्र ने पाँच पाँच अप्सराएँ भेजी थीं और यत्न किया था महर्षि का तप तुड़वाने का–

एतन्मुनेर्मानिनि? [१]माण्डकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यनवेन्दुबिम्बम्।।
पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन् मृगैः सार्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम्।।
तस्याऽयमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति।।

–(रघुवंश १३.३८–४०)

हे मानिनि सीते! देखो यह महामुनि माण्डकर्णि का बनाया सरोवर है। इसका नाम है 'पञ्चाप्सर'। इसके जल में वे विहार किया करते थे। इसके चारों ओर नीला वन है अतः यह ऊपर से ऐसा लग रहा है जैसे मेघों से

---

१. रघुवंश में माण्डकर्णि के लिए शातकर्णि भी पाठ है। परन्तु वाल्मीकि रामायण में माण्डकर्णि पाठ ही है।

घिरा चन्द्र बिम्ब लग सकता है।

ये महर्षि पहले केवल दर्भ (कुश) ही खाते और मृगों के साथ रहते थे। इन्द्र इनकी तपंस्या से काँपा तो भेज दी पाँच अप्सराएँ और उनके यौवन में इन्हें छल से बाँध लिया।

इसमें उन्हीं ने पानी के भीतर छिपा एक कई मंजिल का भवन बनाया था। उसका संगीतमृदङ्ग अभी भी सुनाई दे रहा है। आकाश में ऊपर आया उसका घोष, देखो हमारे विमान के भीतर प्रतिध्वनि पैदा कर रहा है।

कैसा होगा यह जल के भीतर का भवन? एक जलमहल जयपुर से आमेर जाते समय दाहिनी ओर अभी भी बना है जिसके चारों ओर पानी भरा रहता है। परन्तु यह जलमहल स्पष्ट दिखाई देता है, जबकि महर्षि माण्डकर्णि के महल के सौध (ऊपरी मञ्जिल) तक पानी भरा था और उससे वह अलक्षित रहता था।

उज्जैन में भगवान् महाकाल का धाम त्रिपुरधाम है। दो सीढ़ियाँ उतरने पर उस गुफा में प्रवेश किया जाता है जिसमें भगवान् का लिङ्ग प्रतिष्ठित हैं। जहाँ महाकालेश्वर की प्रतिष्ठा है उसी स्तर पर बाहर सरोवर है और उसमें जल भरा रहता है। यह आश्चर्य की बात है कि वह जल भीतर ही भीतर भगवान् के गर्भगृह में रिसता नहीं है, जबकि बीच का अन्तराल कम ही है। होगा कोई रुकाव।

अयोध्यानगरी के निर्माण में जो शिल्पी कार्यरत थे उन्हें वास्तुशास्त्र के विधान का ज्ञान था और वे उसके प्रयोग का कर्मकाण्ड भी जानते थे। कर्मकाण्ड में शिल्पियों को उपवास करना पड़ता है ऐसा भरतमुनि के ही नाट्यशास्त्र में विधान है। कालिदास भी अयोध्यानिर्माण में लगे शिल्पियों के उपवास करने का उल्लेख करते हैं—

तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात्।
पुनर्नवीचक्रुरपां विसर्गान् मेघा निदाघग्लपितामिवोर्व्वीम्।।

उस प्रकार की उजड़ी अयोध्या को कुश के द्वारा नियुक्त शिल्पिसंघों ने पुनर्नव बना दिया, क्योंकि कुश ने पर्याप्त साधन सुलभ करा दिए। वैसे ही वह पुरी पुनर्नव हो गई जैसे निदाघ से झुलसी भूमि उत्तम जलवर्षा से ।। रघु० १६.३८।।

इसके बाद उस अयोध्या की पूजा की गई—

---

१. आनुषङ्गिक कर्मकाण्ड 'शिवराज्योदय' महाकाव्य के अन्तिम सर्गों में शिवाजी के राज्याभिषेक के मन्त्र वेदों से उद्धृत कर दिया है। कालिदास ने रघु के राज्याभिषेक में या अतिथि के राज्याभिषेक में वेदमन्त्र उद्‌धृत नहीं किए।

ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्त्तयामास रघुप्रवीरः।। रघु० १६.३९।।

रघुप्रवीर कुश ने नगरी की सपर्या संपन्न की। नगरी में प्रतिमागृह बहुत अधिक उत्तम था। सपर्या मे पशूपहार भी दिया गया। यह सब कर्मकाण्ड संपन्न कराया गया वास्तुशास्त्र के विधान के अभिज्ञ जनों से जिन्होंने उपवास कर रखा था (रघु० १६.३९)।

रघुवंश अन्ततः काव्य है। ये सभी घटनाएँ उसमें आनुषङ्गिक[१] रूप से ही आ सकती हैं। कालिदाससाहित्य में आनुषङ्गिक कलाचेतना भी पर्याप्त मात्रा में उपनिबद्ध है। क्यों? इसलिए कि कला शिष्ट समाज का निश्वास है, परिधान है, परिवेष है। कला को छोड़कर कल्पना भी कैसे की जा सकती है शिष्ट समाज की।

महाकवि कालिदास की चेतना कला से भावित है। इसका प्रमाण है छिद्रयुक्त बाँसों से निकलते सुरों में वंशीरव की कल्पना। दिलीप और गिरिराज हिमाचल दोनों के प्रसंग में कवि की प्रतिभा एक ही दिशा में दौड़ी। दिलीप ने 'सुना अपने यश का गान जो किया जा रहा था वन देवताओं द्वारा और उसमें बाँसुरी का काम हो रहा था कीचक (सच्छिद्र) बाँसों से–

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः।। रघु० २.१२।।

गिरिराज स्वयं बजाते हैं बाँसुरी जोर जोर से गा रहे किन्नरों के स्वर को 'स्थान' या 'तान' देने हेतु। एतदर्थ वे कीचकरन्ध्रों को दरीमुखोत्थित वायु से भरते रहते हैं –

यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां स्था/ता–न प्रदायित्वमिवोपगन्तुम्।। कुमार० १.८

मेघ गङ्गा से आगे बढ़ता और भगवान् शिव के चरणद्वन्द्व के पास (हरद्वार) पहुँचता तो उसे सुनाई देता है भगवान् शिव का त्रिपुरविजयगान जो किन्नरियों द्वारा टोली बनाकर गाया जा रहा था। उस समय बाँसुरी का काम कर रहे थे बज रहे कीचक। मेघ से यक्ष का अनुरोध है गड़गड़ाने का, जिससे मुरजध्वनि भी सुलभ हो जाए और भगवान् की स्तुति में आयोजित संगीत पूर्णता पा सके–

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संरक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादी ते मुरज इव चेत् कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः।। मेघ० ५६।।

---

१. मन्थरीभूतकीचक० दूसरा पाठ है।

हवा चलती है तो कीचक बजने लगते ही हैं। रघु हिमाचल पर चढ़ा तो गङ्गा की फुहारें लिए आती हवा के झोंकों ने उसकी सेवा की कीचकध्वनि के द्वारा–

भूर्जेषु [१]मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः।
गङ्गासीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे।। रघु० ४.७३।।

यहाँ भी 'मर्मर'–ध्वनि झल्लरी वाद्य का स्मरण दिलाती है और कीचक–ध्वनि वंशीरव की। वायु के झोंके सेवा में निरत व्यक्ति हैं। वे बाँसुरी बजा–बजाकर और पंखा झल–झलकर रघु की सेवा कर रहे हैं।

ये सभी ऐसे स्थल हैं जहाँ कवि प्रतिभा में प्रतिबिम्बित प्रकृति कला से आ जुड़ी है। इसी प्रकार कला प्रकृति से। यह योग हुआ अनायास ही, सहज और स्वाभाविक रूप में।

मानवीय दुर्बलता

कालिदास का मानव एक ओर तो तम से परे अव्यय पुरुष है, उसमें सभी सद्‌गुण हैं, किन्तु दूसरी ओर वह दुर्बलताओं का भी केन्द्र है। दुर्बलता वैभव की सगी बहिन है। कालिदास के मानव के साथ वैभव है, अतः दुर्बलता भी है ही। दुर्बलता सूर्पणखा है और वैभव रावण। कालिदास के मानव में ये भी हैं। दुर्बलता के लिए राजशास्त्र का शब्द है व्यसन। इन्हें इस प्रकार गिना दिया गया है– मृगया, द्यूत, मद्यपान, और प्रमदा।

पानमक्षाः स्त्रियश्चेति मृगया च यथाक्रमम्।
एतत् कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे।। मनुस्मृति ७.५०।।
कामजं मृगया द्यूतं स्त्रियः पानं तथैव च।
व्यसनं व्यसनार्थज्ञैश्चतुर्विधमुदाहृतम्।।

(कामन्दकनीतिसार १४.७)

दशरथ के विषय में लिखा कि वे इन चारों व्यसनों से दूर थे–

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्।। (रघु० ९.७)

किन्तु कालिदास ने ही नवम सर्ग में आगे चलकर दशरथ की ही मृगया का विस्तृत वर्णन किया। उसमें वे संतुलित भी दिखलाए गए और असंतुलित भी। असंतुलन से उनका वंश और उस पर लिखा जा रहा काव्य रघुवंश आगे बढ़ा। दशरथ में स्त्रीव्यसन भी था, क्योंकि उनकी तीन रानियाँ तो थी हीं, वाल्मीकि रामायण में श्रीराम के चरित्र का एक गुण यह भी बतलाया गया है कि जिस किसी स्त्री पर दशरथ ने दृष्टि डाल दी हो उसे वे माता कौसल्या सा सम्मान देते थे।

उन्नीसवें सर्ग में रघुवंश का अन्तिम नायक अग्निवर्ण कामुक दिखलाया गया। उसने राज्य कार्य कुछ दिनों तक चलाया और उसके बाद उसका भार मन्त्रियों पर डाल खुद स्त्रियों को समर्पित हो गया—

सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्त्तयत् समाः।
तन्निवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत्।। रघु० १९.४

वह स्त्रियों के पैरों में अलता खुद लगाता था और उनको विवस्त्र रूप में देखता रहता था। उसकी दृष्टि लगी रहती थी नारियों की वस्त्रहीन कमर पर जिसके पीछे होते बड़े नितम्ब—

स स्वयं चरणरागमादधे योषितां, न तु तथा समाहितः।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः।। रघु० १९.२६

वह आसव पान भी करने लगा, वसन्त ऋतु के बीत जाने पर उसने ग्रीष्म में आसव का सेवन किया, आसव में पड़ी हुई थी सहकारमञ्जरी और रक्तपाटल से उसे हिलाया गया था। उससे उसकी कामवासना और प्रदीप्त हो उठी—

यत् स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात् कृशश्चित्तयोनिभवत् पुनर्नवः।। रघु० १९.४६

मेघदूत में यक्षलोग सफेद मणियों से बने हर्म्यों में आसव गोष्ठी का आनन्द लेते हैं। वहाँ नक्षत्रों के प्रतिबिम्ब विविध वर्ण के पुष्पों का काम कर देते हैं। उत्तम स्त्रीजन उनके साथ रहता। मधु सुलभ कराता कल्पवृक्ष। उसके आसेवन का फल होती रति। उस समय बजते रहते पुष्कर—

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु।। मेघ० ६६।।

मधु भले ही कितना ही उत्कृष्ट क्यों न हो, वह त्याज्य ही है, क्योंकि वह विवेक और बुद्धि पर प्रभाव डालता है, साथ ही इन्द्रियों में उत्तेजना लाता है। किन्तु उसमें एक आकर्षण भी है और उससे मानव उसकी ओर बढ़ता है। कालिदास साहित्य में रघु के सैनिक मधुसेवन कर युद्ध का श्रम मिटाते हैं—

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलय—भूमिषु।। (रघु० ४.६५)

शाकुन्तल में मछुवारे को दुष्यन्त के सिपाही कादम्बरी (उत्तम मदिरा) के चषक पर दोस्ती का आह्वान देते हैं—'**धीवर! महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे**

संवुत्तो। कादम्बरीसक्खिअं अम्हाणं पढमसोहिदं इच्छीअदि (शाकु० ६.२९.२ पृ० ६१४)। 'धीवर भाई, अब तुम मेरे बहुत बड़े मित्र हो गए हो। यह हमारी पहली दोस्ती कादम्बरी की साक्षी में होनी चाहिए।' जब निंदाघ के दिन आए तो कामियों को छूट मिल गई पुरानी शराब पीने की–

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणसीधुं नव–पाटलं च।
संबध्नता कामिजने स्वदोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः।। (रघु० १६.५२)

मालविकाग्निमित्र में इरावती नशे में मञ्च पर उपस्थित होती है और आसवपान को स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण आभूषण कहती है–

ततः प्रविशति युक्तमदा इरावती चेटी च–

इरावती–हञ्जे णिउणिए! सुणामि बहुसो मदो किल इत्थिआजणस्स विसेसमंडनं त्ति। अवि सच्चो एसो लोअवादो?

निपुणिका–पढमं लोअवाओ एव्व, अज्ज उण सच्चो संवुत्तो।

इसके बाद नशे में उपस्थित होती है इरावती और चेटी।

इरावती–सखि निपुणिके! अनेक बार सुनती हूँ कि मद (नशा) स्त्रियों का विशिष्ट मण्डन होता है। यह लोकप्रवाद सच है क्या?

निपुणिका–पहले यह लोकप्रवाद ही था। आज यह सत्य सिद्ध हो रहा है। इरावती आगे पुनः कहती है 'नशे के कारण मेरे पैर आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं–

इरावती–हला ण मे चलणा अण्णदो पवट्टंति। मदो मां विआरेदि।

(माल० ३.१३.३–५,२२)

सर्वाधिक ध्यान देने की घटना है 'पार्वती जी को मद्यपान कराना', वह भी स्वयं शिव के अनुरोध पर। गन्धमादन पर्वत पर विहार के समय एक वनदेवी लालरंग के सूर्यकान्त मणिपात्र में कल्पवृक्षप्रसूत मधु लाई और पार्वती जी को उसे अर्पित किया। भगवान् शंकर ने समर्थन में कहा 'यह सखी की भक्ति है, इसे मान लेना ही उचित है। इससे काम का दीपन होता है', बड़े ही मीठे स्वर में उदारतापूर्वक ऐसा कहा और स्वयं शंकर ने पार्वती अम्बा को वह आसव पिलाया (कुमार० ८.७५)। यह भी कहा कि इससे आएगा नशा, पर उससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। नशे में आँखें लाल हो जाती हैं और मुख से बकुलपुष्प सी गन्ध फिंकती है। ये दोनों बातें तुम्हारे भीतर पहले से हैं। तुम्हारे मुख में भींगे बकुलपुष्प की सुगन्ध अभी भी है और आँखें भी तुम्हारी लाल ही नहीं, नशीली भी हैं (कुमार० ८.७६)। उसके पान से पार्वती अधिक मनोहर हो गईं। मानों आम की शाखा सहकारशाखा बन गई (कुमार० ८.७८)। पार्वती दोनों के वश में हो गई, शूली और मद के। दोनों एक से, लज्जा से मुक्त और राग से प्रदीप्त। दोनों ले चले पार्वती को शय्या की ओर (कुमार० ८.७९)। पार्वती की

आँखें घूमने लगीं, कहते कहते भूलने लगीं, चेहरे पर पसीने की बूँदे झलकने लगी और वे अकारण ही मुसकुराने लगी। शिवजी ने पहले तो उनके इस प्रकार के चेहरे का देर तक पान किया आखों से (कुमार० ८.८०) बाद में वे उन्हें मणिशिलागृह में ले गए जिसमें सभी सामग्री ध्यानमात्र से सजी हुई थीं (कुमार० ८.८१)। वहाँ हंसधवल उत्तरच्छद (चादर) से ढँके अत: गङ्गा के पुलिन जैसे प्रतीत हो रहे पर्यंक पर शङ्कर जी ने पार्वती के साथ अधिशयन किया। वे ऐसे लगे जैसे रोहिणी और चन्द्रमा शरत्कालीन मेघ (धवल) पर लगते हैं (कुमार० ८.८२)। मद का फल है रति। सो शिव और पार्वती उसी में लग गए (कुमार० ८.८३—९१)। समुद्र में बाडवाग्नि सी शिव की कामाग्नि तृप्त नहीं ही हो सकी, यद्यपि सुरतसुख लेते लेते सौ ऋतुएँ बीत गईं, एक रात्रि के समान (कुमार० ८.९१ अन्तिम पद्य)। इस परिणति में सहायक कल्पवृक्षमधु भी बना।

अवश्य ही कालिदास तान्त्रिक शैव थे। तन्त्र में भक्त इतनी दूरी तक भावलोक में भ्रमण और रमण कर सकता है। वह सब उसकी शिव को अर्पित सपर्या ही होगी और शिव उससे प्रसन्न ही होंगे। परन्तु सुनते हैं इससे कालिदास को गलित कुष्ठ हो गया जिसका निवारण रघुवंश लिखने से हुआ। यह मर्यादावादी साहित्यसेवियों की कल्पना है।

कुमारसंभव के इस प्रसङ्ग की समीक्षा आनन्दवर्धन ने भी की है और मम्मट ने भी। आनन्दवर्धन ने लिखा—

महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषय—प्रतिषिद्धसंभोगशृङ्गार—निबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वाद् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते, यथा कुमारसंभवे देवीसम्भोगवर्णनम्। (ध्वन्यालोक ३.६, पृष्ठ ३१७ चौ०सं० १९४०)

तान्त्रिक आचार्य अभिनवगुप्त ने इस स्थल के अनौचित्य का समर्थन किया और कहा कि यह अनुचित इसलिए है कि यह ऐसा ही है जैसा अपने मातापिता के संभोग का वर्णन—

उत्तमदेवतासम्भोगपरामर्शे च पितृसंभोग इव लज्जातङ्कादिना कश्चमत्कारावकाश इत्यर्थः' (लोचन, चौ०सं०पृ० ३१७, १९४०)।

मम्मट ने अभिनवगुप्त ही बात उद्धृत कर दी—

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च वीर—रौद्र—शृङ्गार—शान्त—रसप्रधाना धीरोदात्त—धीरोद्धत—धीरललित—धीरप्रशान्ता उत्तमाधम मध्यमाश्च। तत्र रति—हास—शोकाद्भुतानि अदिव्योत्तम—प्रकृतिवद् दिव्येष्वपि, किन्तु रतिः संभोगशृङ्गाररूपा उत्तम—देवताविषया न वर्णनीया। तद्वर्णनं हि पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्। (काव्यप्रकाश, पृष्ठ ४४३, वामनी टीका)।

पण्डितराज जगन्नाथ ने गीतगोविन्द के ऐसे प्रसङ्ग पर और अधिक विरोध प्रकट किया—

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च। धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललित—

धीरशान्ता उत्साहक्रोधकामिनीरतिनिर्वेदप्रधाना उत्तममध्यमाधमाश्च। तत्र रत्यादीनां भयातिरिक्तस्थायिभावानां सर्वत्र समानत्वेऽपि रतेः संभोगरूपाया मनुष्येष्विव उत्तमदेवतासु स्फुटीकृतसकलानुभाव– वर्णनमनुचितम्०० अन्यथा स्वमातृविषयक–स्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तिः। जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकल–सहृदय–संमतोऽयं समयो मदोन्मत्तमतङ्गजैरिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानीन्तनेन तथा वर्णयितुं साम्प्रतम्।' (रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृष्ठ ६५, निर्णयसागरसंस्करण–६)

जयदेव के गीतगोविन्द में राधा के साथ कृष्ण का श्लथविश्लथ कर देने वाला संभोग उपस्थित किया, फिर राधा से श्रीकृष्ण को वापस वस्त्र पहनाने का अमन्त्रण दिलाया और श्रीकृष्ण ने राधा के अङ्गप्रत्यङ्गों को वस्त्रों से पुनः संवृत किया। यानी शृङ्गार की घोरतम स्थिति प्रस्तुत की। पुरी के जगन्नाथ भगवान् के सामने जयदेव के इन वर्णनों का रासलीलादि में प्रकटीकरण भी चलता है। इसलिए पण्डितराज ने कालिदास को छोड़ा और गीतगोविन्दकार जयदेव को याद किया इस प्रसङ्ग में। जयदेव आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट के बाद हुए हैं, किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के पहले। इसलिए आनन्दवर्धन आदि के निषेध को न मानने के कारण जयदेव अधिक आक्रोश के पात्र हैं।

विश्वनाथ कविराज तो जयदेव के पश्चात् हुए, किन्तु उन्हें जयदेव उतने नहीं अखरे, कदाचित् इसलिए कि वे भी उत्कलवासी थे। कुमारसंभव के प्रसङ्ग को ही उन्होंने भी उद्धृत किया–

(प्रकृत्या) यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः। यथा०० कुमारसंभवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः संभोगशृङ्गारवर्णनम्। 'इदं पित्रोःसंभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्' इत्याहुः। (साहित्यदर्पण: ७.१५ वृत्तिः)

किन्तु, इस उद्धरण में अन्तर देखिए मम्मट से विश्वनाथ का। मम्मट के यहाँ यह उद्धरण नहीं लगता? लगता है यहाँ माता पिता की जो उपमा है वह मम्मट की अपनी सूझ है, जबकि विश्वनाथ स्पष्ट कहते हैं कि 'ऐसा कहते हैं कुछ विचारक'। फिर 'पित्रोः' में जो एकशेष है उसे पण्डितराज के समान विश्वनाथ ने स्पष्ट नहीं किया उद्धरण की मूल भाषा को बनाए रखने के लिए। कालिदास के स्थान पर जयदेव को प्रस्तुत कर पण्डितराज जगन्नाथ ने यह भी संकेत दिया कि 'उत्तमदेवताविषयक संभोग' में यदि उत्तेजना ही देखनी है तो देखिए गीतगोविन्द में, जहाँ श्रीराधा अपने अंगों का संभोगान्त मण्डन करने हेतु श्रीकृष्ण से अनुरोध करती हैं। आनन्दवर्धन ने कालिदास की इस धृष्टता को सत्य की पृष्ठभूमि पर अपराध नहीं माना था। वह सत्य था 'शक्ति'। कालिदास का वर्णन सचमुच अश्लीलता से बच गया है। उसमें कारण है कवि की

अपनी सूक्ष्मेक्षिका। उसकी प्रतिभा और उसकी शक्ति। जयदेव उसे सम्हाल नहीं सके, वह थी उनकी अशक्ति। आनन्दवर्धन की ओर से प्रस्तावित शक्ति का उदाहरण कांलिदास में और उसके विपरीत अशक्ति का उदाहरण जंयदेव में–

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते।। (ध्वन्यालोक–३.६)

पुरुष की स्त्रीविषयक कामुकता कालिदास में कहाँ नहीं मिलती। मेघ पुरुष है और भूमि पर वहतीं सभी नदियाँ है उसकी भोग्य सुन्दरियाँ और ऐसी सुन्दरियाँ जो मेघ को आने का निमन्त्रण दे रही स्वयंदूती हैं–'गम्भीरा नदी है तो गम्भीर स्वभाव की कामिनी, परन्तु वह उछलती मछलियों के बहाने मेघ को प्रीतिपूर्वक देखती है। यक्ष कहता है 'मित्र मेघ! उसकी चाह मत तोड़ना; (मेघ० ४०), उसका नील वर्ण का जल किनारों से उतर कर वेंतों तक उतर चुका होगा, यानी वह अपना नीला वस्त्र कमर से नीचे खिसका चुकी होगी और सिर्फ हाथ से उसे पकड़े हुए होगी। मित्र मेघ! तुम वहाँ लम्बी आकृति में देर तक पड़े रहोगे और आगे बढ़ोगे कठिनाई से। भला कौन होगा ऐसा पुरुष जो स्त्री का स्वाद ले चुका हो और विवृतजघना को छोड़ सके' (मेघ ४१)। माघ ने भी इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए लिखा–'जो स्पर्श पा चुके, अब उन्हें आगे बढ़ने से कौन रोक सकेगा' –

'ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः' कालिदास – मेघ०४१
'लब्धस्पर्शानां भवति कुतोऽथवा व्यवस्था' माघ, शिशुपालवध ८.२२

काली सिन्ध नदी एकदम कृश हो गई है। उसकी कृशता का उपाय, मेघ! केवल तुम्हारे पास ही है। मित्र मेघ! वह तुम पर अनुरक्त है (मेघ २९)। एक नदी है निर्विन्ध्या। उसकी चेष्टाएँ भी ऐसी होंगी जिनमें उसका तुम्हारे प्रति आमन्त्रण छिपा होगा। वह करधनी खनका रही होगी बोलते पक्षियों के स्वर में, चलते चलते गिर रही होगी, दिखला रही होगी भँवर रूपी नाभि। मित्र! मेघ! तुम कूद पड़ना और उसका भी रस लेना। आखिर, स्त्रियों की प्रणय याचना विभ्रमों में ही न निहित रहती है–**'स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु'** (मेघ० २८)।

अभिसार रतिसुख का अनुपम साधन है। अयोध्या और उज्जयिनी दोनों ही पुरियाँ तीर्थस्थान हैं। अयोध्या राम की नगरी और उज्जयिनी भगवान् महाकालेश्वर की। दोनों ही मोक्षदायिनी। किन्तु, कालिदास इन दोनों नगरियों में जिस घटना को प्रेम से याद करते हैं वह है अभिसार की। अयोध्या में–

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम्।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः।। (रघु० १६.१२)

हाय हाय। आज अयोध्या के उस राजपथ पर रात्रिकाल में लोमड़ियाँ हुँवा हुँवा करती घूम रही हैं और खोज रही हैं आमिष, मुख से निकलती

उल्का के प्रकाश में, जिस पर कभी नूपुर चमकाती अभिसारिकाएँ आया जाया करती थीं।'

यहाँ स्त्रियाँ भी आमिष की खोजं में ही निकली हैं। और यहाँ उज्जयिनी में भी यही स्थिति है' 'मित्र मेघ! भगवान् महाकालेश्वर की सेवा करते करते हो जाएगी रात। तब राजपथ सूचीभेद्य अन्धकार में डूब जाएगा। बस इसी समय निकलेंगी कुछ वनिताएँ अपने रमण के निवास तक पहुँचने के लिए। तो तुम कसौटी की कनकरेखा सी बिजली चमका कर उन्हें मार्ग तो दिखला सकते हो, परन्तु बरसना गरजना नहीं, क्योंकि वे बड़ी ही घबराई रहती हैं—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्व्वी
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः।। (मेघ० ३७)

अभिसार के समय अधिक प्रकाश प्रतिकूल पड़ सकता है, अतः उसमें कमी ही रहे, परन्तु वह भी हो सुन्दर इसलिए 'कनकरेखा' का स्मरण। 'कसौटी के ऊपर' कहकर अन्धकार और उसी जैसी कसौटी की विशालता और उस पर बनी रेखा और बिजली का पतलापन इसी ओर संकेत करते हैं।

गिरिराज हिमालय के नगर 'ओषधिप्रस्थ' में भी अभिसारिकाएँ सक्रिय हैं। वे वर्षाकाल में भी प्रिय के पास सुख से जा पहुँचती हैं, क्योंकि ओषधियों के प्रकाश से रात के अँधेरे में भी उन्हें मार्ग दिखाई देता रहता है—

यत्रौषधिप्रकाशेन नक्तं दर्शितसञ्चराः।
अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः।। कुमार० ६.४३।।

इस प्रकार कालिदास ने चारों व्यसनों को अपने साहित्य में पर्याप्त स्थान दिया। पान, मृगया और द्यूत यत्र तत्र उपस्थित हुए, किन्तु 'स्त्री' व्यापक रूप में और अनियन्त्रित रूप में भी।

शिव और शिवा के रमण का वर्णन कवि के स्वयं के जीवन का वर्णन माना जा सकता है, क्योंकि वे स्वयं शिव थे। कालिदास अर्थात् काली के दास शिव ही तो हैं? भक्त जब भजनीय से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है तब आ ही सकती है ऐसी निरावरणता की स्थिति। किन्तु समाजवादी दृष्टिकोण से इस प्रकार की साहित्य—प्रवृत्ति है त्याज्य ही।

महाकवि कालिदास प्रथम साहित्यकार हैं, जिन्होने संस्कृतवाङ्मय में उदात्त और समग्रग्राही साहित्य दिया।



कालिदास भारती

वैदर्भी रीति तथा प्रसाद गुण के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध महाकवि कालिदास उनके व्याख्याकार सर्वशास्त्रज्ञ सूरि मल्लिनाथ को चतुर्दश शताब्दी में अत्यन्त दुर्बोध प्रतीत होने लगे थे। रघुवंशसंजीवनी के आरम्भिक मंगलाचरण में वे लिखते हैं–

कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखाऽथवा साक्षाद् विदुर्नान्ये तु मादृशाः ।।

''कालिदास की वाणी का तात्पर्य या तो स्वयं कालिदास ही जानते हैं या सरस्वती या साक्षात् ब्रह्मदेव जिनके चार मुख हैं और जिनमें से एक एक में एक एक वेद की प्रतिष्ठा है अत: जो सर्वज्ञ या कृत्स्नवित् हैं। जहाँ तक मुझ जैसों का संबन्ध है ये उसमें सर्वथा असमर्थ हैं।''

मल्लिनाथ ने यह भी कहा है कि 'कालिदास की भारती गलत व्याख्या के विष से मूर्च्छित हो चुकी है अत: उसको जिलाने हेतु किसी संजीवनी की आवश्यकता है। टीका करने का मेरा प्रयत्न उसमें अन्यतम प्रयत्न है–

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता ।
एषा संजीविनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ।। रघु० मंगल।।

हमारा अनुभव है कि ५७–दशकों पूर्व का यह अनुभव महाकवि कालिदास की भारती के विषय में आज भी यथावत् विद्यमान है। आज का युग अनुक्रमकोषों और उसके आधार पर तुलनात्मक अध्ययन का युग है। हमने महाकवि कालिदास के सम्पूर्ण साहित्य का एक शब्दानुक्रमकोष १९५८ में तैयार कर उसके आधार पर कालिदास के अनेकार्थक शब्दों के अध्ययन और तुलनात्मक समीक्षा द्वारा अर्थनिर्धारण का उपक्रम किया है और कुछ शब्दों के अर्थ निर्धारित किए हैं। यहाँ हम केवल उन शब्दों को प्रस्तुत कर रहे हैं जिन पर केवल संस्कृत में ही हमारे निबन्ध छपे हैं।[1]

उपहार

उपहार शब्द हिन्दी के ही समान संस्कृत में भी इस समय केवल एक अर्थ में प्रसिद्ध है। वह है उपायन, भेंट या प्राभृत। लगभग ५०० ई० के अमरकोष, जो संस्कृत के अभिजात वाङ्मय का प्रथम कोष है, में भी इस शब्द को प्रमुख रूप से इसी अर्थ

१. इस विषय पर हिन्दी में केवल दो ही निबन्ध छपे हैं क– नागरीप्रचारिणीपत्रिका संवत् २०१७.२ अंक में 'शेषा' तथा 'प्रसिद्ध' शब्द पर तथा ख– जबलपुर विश्वविद्यालय की पत्रिका मध्यभारती में 'सुभग','सौभाग्य' और 'सौभग' शब्द पर ।

न प्रयुक्त माना है। उसका वचन है–

प्राभृतं तु प्रदेशनम्,
उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा।।

विश्वप्रकाश, अनेकार्थसंग्रह और मेदिनी संस्कृत के अनेकार्थशब्दकोष हैं। इनमें उपहार शब्द अनेकार्थक नहीं है। अमरकोष के अनेकार्थवर्ग में भी इस शब्द का संग्रह नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ये कोष इस शब्द को अनेकार्थक स्वीकार नहीं करते। कालिदाससाहित्य में जो इन सभी कोषों से पहले की कृति है यह शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त है। यह तथ्य कालिदाससाहित्य में उपलब्ध इस शब्द के सभी प्रयोगों के सन्दर्भानुरूप विवेचन से स्पष्ट होता है। ये प्रयोग इस प्रकार हैं–

१. रघुवंश में दिग्विजय के लिए उपस्थित रघु के पैरों की छाया को कामरूप देश का राजा रत्नपुष्पों के उपहार से पूजता है–

कामरूपेश्वरस्तस्य पादपीठाधिदेवताम्।
रत्नपुष्पोपहारेण च्छायामानर्च पादयोः।। रघु० ४.८४।।

विदाई के अवसर पर ।

२. पट्टाभिषेक के पश्चात् भगवती सीता विभीषण आदि राक्षस और सुग्रीव आदि वानरों को उत्कृष्ट पूजाओं के उपहार देती हैं–

'सीता–स्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान् रक्षःकपीन्द्रान् विससर्ज रामः । रघु० १४.१९।।

३. कुश पुनर्वासित अयोध्या की पूजा में पशुओं को उपहार देते हैं–

ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः ।
उपोषितैर् वास्तुविधानविद्भिर् निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ।। रघु० १६.३९।।

४. शंखणनाम के रघुवंशीय राजा की पूजा में पृथिवी रत्नों के उपहार अर्पित करती है–

तस्मिन् गते द्यां सुकृतोपलब्धां तत्संभवं शंखणमर्णवान्ता ।
उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरूदितैः खनिभ्यः ।। रघु० १८.२२।।

५. अग्निवर्ण विलासिनी वनिताओं के मुखासवों का उपहार बकुलवृक्ष के ही समान पीता है– **ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोपिबद् बकुलतुल्यदोहदः।।** रघु० १९.१२।।

६. मेघदूत की विशालानगरी के गृहमयूर नागर मेघ को नृत्त के उपहार अर्पित करते हैं–

जालोद्गीर्णैरूपचितवपुः केशसंस्कारधूपैर्
बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्तोपहारः ।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यंल्ललितवनितापाद–रागाङ्कितेषु।। मेघ० ३२।।

७. कण्वशिष्य ऋत्विगों को दर्भ उपहृत करता है—

यावदिमान् वेदीसंस्तरणार्थं दर्भान् ऋत्विग्भ्य उपहरामि।। शाकु० ३.२।।

८. मालविकाग्निमित्र की नायिका मालविका बकुलावलिका को अपने पैर का उपहार नूपुर और आलक्तक की सज्जा के लिए देती है—

बकुलावलिका — एकं मे चरणमुपनय— हर।

मालविका — हला मर्षय तावदेनम्। इति पादमुपहरति।

अंक ३ पद्य ११ प्राकृतांश।

९. मालविकाग्निमित्र के ही पाँचवे अंक में राजा यह सुनकर कि मालविका राजपुत्री है कहता है—

अहो परिभवोपहारिणो विनिपाताः।। ५.१२—गद्य।

'ओहो बुरे दिन अपमान और तिरस्कार का उपहार पहले देते हैं।'

इन स्थलों में 'उपहार'—शब्द भेंट या उपायन के अर्थ में प्रयुक्त है। संस्कृत में बलि—शब्द पूजा रूपी अर्थ में प्रयुक्त होता है। और क्योंकि—

करोपहारयोः पुंसि बलिः — अमरकोष

बलिर्दैत्यप्रभेदे व करचामरदण्डयोः उपहारे पुमान् — मेदिनी

बलिर्दैत्योपहारयोः — अनेकार्थसंग्रह

इन कोष वाक्यों से उपहार शब्द बलि का पर्याय शब्द सिद्ध होता है अतः उसे भी पूजार्थक माना जा सकता है किन्तु कालिदास के उक्त प्रयोगों में से प्रथम चार प्रयोगों में उपहार शब्द का यह अर्थ नहीं लिया जा सकता क्योंकि वहाँ पूजावाचक पद 'आनर्च', 'पूजा', 'सपर्या' तथा 'उपतस्थे' प्रयुक्त हैं। इसलिए उक्त स्थलों में उपहार शब्द केवल उपायन के अर्थ में ही प्रयुक्त माना जा सकता है। इस प्रकार प्रथम और तृतीय स्थल में रघुवंश के विश्रुत टीकाकार भट्टहेमाद्रि ने—

००**उपहारेण**०० **बलिना** यह तथा

सपशूपहारां पशुबलिसहिताम् यह जो अर्थ किया है

इसमें पौनरुक्त्य दोष है। उक्त स्थलों में से रघुवंश ४.८४, १४.१९ तथा १८.२२ पद्यों की व्याख्या में मल्लिनाथ ने क्रमशः—

उपहारेण समर्पणेन	४.८४ रघु०
उपहृता दत्ता	१४.१९ रघु०
उपहारैः समर्पणैः	१८.२२ रघु०

इस प्रकार उपहार शब्द के जो **दान** और **समर्पण** अर्थ किए हैं वे ठीक हैं। रघुवंश के शेष स्थलों पर हेमाद्रि और मल्लिनाथ दोनों ही चुप हैं।

मेघदूत के उपर्युद्धृत **'जालोद्गीर्णैः'** पद्य में आए उपहारशब्द की व्याख्या में मल्लिनाथ ने— **गृहमयूरैर्दत्तो नृत्तमेव उपहार उपायनं यस्मै स तथोक्तः।**
उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा —

इस प्रकार उसे उपायन का ही पर्याय बतलाया है। इसी प्रकार मेघदूत के अन्य टीकाकार भरतमल्लिक भी—**'दत्तो नृत्तमेव नर्त्तनमेव उपहारो उपढौकनं यस्मै तादृशः'** इस प्रकार वही अर्थ करते हैं। यह ठीक भी है। मयूर मेघ के मित्र होते हैं अतः उनके उपहार भेंट ही हो सकते हैं, पूजा नहीं। मालविकाग्निमित्र और शाकुन्तल के उक्त तीनों प्रयोगों में उपहारशब्द मुख्यतः 'पास पहुँचाने' के अर्थ में प्रयुक्त है, 'भेंट' अर्थ उससे व्यंजनया निकलता है। इस प्रकार उक्त सभी स्थलों में 'उपहार'—शब्द का अर्थ उपायन या भेंट ही है। यह अलग बात है कि कहीं वह उपायन द्रव्य—रूप है और कहीं उपायनक्रियारूप।

उपहारशब्द का इसी अर्थ में प्रयोग संस्कृत के अन्य काव्यों में भी हुआ है। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त विदूषक से कहता है *'जाओ मातृकाओं की यह प्रजा उन्हें भेंट कर आओ —* **'गच्छ मातृभ्यो बलिमुपहर'।**

नैषधीयचरित की नायिका दमयन्ती को अपनी छाती पर जो दो कुम्भ प्राप्त हुए थे वे नल का लज्जारूपी नदीदुर्ग पार कर जाने के लिए यौवनरूपी मित्र से प्राप्त उपहार थे— **उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।**
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य यन्नलस्य तन्वी हृदयं विवेश सा।। १.४८।।

इन और ऐसे ही अनेक अन्य प्रयोगों में उपहारशब्द का अर्थ कालिदास के उक्त प्रयोगों के ही समान स्पष्टरूप से 'उपहार' ही है।

पूजार्थक प्रयोग :—

उपहारशब्द का प्रयोग कालिदास के निम्नलिखित वाक्यसंदर्भ में एक दूसरा भी अर्थ है— **पूजारूपी**। विक्रमोर्वशीय में अपने कुलदेव चन्द्रमा की पूजा के लिए रानी पूजासामग्री के साथ मंच पर आती और पूजा करने के पश्चात् भोग के लड्डू विदूषक को देने को कहती है। कवि इस पूरे संदर्भ में पूजा शब्द के स्थान पर एकमात्र **'उपहार'** शब्द का ही प्रयोग करता है। यथा—

ततः प्रविशति औपहारिकहस्तपरिजना देवी।
देवी — दारिका उपनयथ औपहारिकम्।
परिजन — एष गन्धकुसुमाद्युपहारः
देवी — (नाट्येन गन्धकुसुमादिभिश्चन्द्रपादानभ्यर्च्य) **हंजे एतान् औपहारिक—मोदकान् आर्यमाणवकं लम्भय।**

—विक्रम० ३. १४—प्राकृतांश।

स्पष्ट ही यहाँ कवि स्वयं **'अभ्यर्च्य'** इस पूजार्थक क्रियापद का प्रयोग करता है। यदि वह इसके स्थान पर **'उपहृत्य'** इस पद का भी प्रयोग करता तो उससे भी उपहार का अर्थ पूजा ही इस संदर्भ में निकलता, क्योंकि चन्दन और पुष्प पूजाद्रव्य ही हैं। चन्द्रमा भी रानी का श्वशुर ओर देव दोनों रूपों में पूज्य है। प्रकरण भी व्रतपरिग्रह का है। उपहारशब्द संस्कृत में केवल उपायनार्थक रहा हो और प्राकृत में वह पूजा के अर्थ में रूढ हो गया हो ऐसा सोचा जा सकता है, किन्तु इसके लिए अन्य प्रयोगों की खोज आवश्यक है और उतने पर भी कालिदाससाहित्य से उसे पुष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि कालिदास ने प्राकृत में ही उपहार शब्द का प्रयोग मालविकाग्निमित्र के अभी उद्धृत स्थल में किया है जिसमें उसका अर्थ पूजा नहीं है। इन दो स्थलों के अतिरिक्त प्रयोग उनके साहित्य के अभी तक के प्रसिद्ध संस्करणों में नहीं मिलते।

इस प्रकार कालिदास उपहार शब्द का प्रयोग उपायन और पूजा इन दो अर्थों में करते पाए जाते हैं। यद्यपि प्रजारूपी अर्थ में भी उपहारशब्द का उपायनरूपी अर्थ निहित है अतः उनकी दृष्टि में भी उपहारशब्द का मुख्य अर्थ उपायन ही है तथापि उपहारशब्द को उनमें एकमात्र अर्थ तक सीमित नहीं माना जा सकता, क्योंकि रूढ अर्थ यौगिक अर्थ से बलवान् माना जाता है, अन्यथा पंक—कीच से पैदा होने के कारण कुमुद को भी पंकज कहा जा सकेगा।

महाकवि कालिदास ने उपहारशब्द का प्रयोग अन्य दो स्थलों में भी किया है। वहाँ उसे उक्त दोनों अर्थों में प्रयुक्त नहीं माना जा सकता। ये स्थल हैं—

१. **यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु।**
ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम्।। कुमार० ६.४२।।

२. **भवति विरल—भक्तिर् म्लानपुष्पोपहारः**
स्वकिरण—परिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता—
मनुवदति शुकस्ते मंजुवाक् पंजरस्थः'।। रघु० ५.७४।।

अर्थात्

१. जिस ओषधिप्रस्थ नगर में रात के समय आयोजित पानगोष्ठी के फर्श पर उपहारों का काम आकाश के तारों के प्रतिबिम्ब से चल जाता था।

२. प्रातःकाल राजकुमार को जगाते हुए वैतालिक कह रहे हैं युवराज। कुम्हलाए फूलों का यह उपहार विरलभक्ति हो रहा है। दीप की किरणों के परिवेष अदृश्य हो चुके हैं। यह मंजुवाक् पंजरस्थ शुक भी जाग उठा है और आपके प्रबोधमंगल की हमारी उक्तियों को दोहरा रहा है।

प्रथम उपहार शब्द का अर्थ मल्लिनाथ कुमारसंभवसंजीविनी में इस प्रकार करते हैं—

उपहारतां पुष्पोपहारत्वं मौक्तिकोपहारत्वं वा प्राप्नुवन्ति।

अर्थात् उपहार यानी पुष्पोपहार या मौक्तिकोपहार।

निश्चित ही मल्लिनाथ उपहारशब्द के 'उप' पर ध्यान नहीं देते और केवल 'हार' से निकलते अर्थ तक इसे सीमित समझते हैं। हारों में भी मुक्ताहार की कल्पना वे कदाचित् इसलिए करते हैं कि प्राय: नक्षत्रों के रंग मोती के ही समान सफेद ही होते हैं। शब्दकल्पद्रुम के संकलयिता राधाकान्तदेव भी उपहारशब्द के प्रसंग में कुमारसंभव का यह पद्य उद्धृत करते और इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

उपगतो हारो उपहार:, हारनिकटस्थद्रव्यम्।

अर्थात् उपहारशब्द एक समासयुक्त शब्द है जिसका अर्थ है हार के पास के द्रव्य।

कण्ठश्रियं कुवलयस्तबकाभिराम—दामानुकारि—विकटच्छवि—कालकूटाम् ।
बिभ्रत् सुखानि दिशतादुपहार—पीत—धूपोत्थ—धूम—मलिनामिव धूर्जटिर्व: ।।

इस मंगल पद्य की व्याख्या में अलक ने भी उपहारशब्द की ऐसी ही तोड़मरोड़ की है और 'उपहारेषु' 'प्रजासमयेषु' तथा 'उपहारं हारसमीपे' ये दो अर्थ किए हैं। क्या उपयोग, उपभोग, उपकूल, उपमन्त्री आदि शब्दों में भी ऐसा अर्थ किया जा सकता है।

जहाँ तक रघुवंश के 'भवति विरल' पद्य का संबन्ध है इसमें आए 'उपहार' का अर्थ मल्लिनाथ और हेमाद्रि दोनों ने पूजा किया है। मल्लिनाथ लिखते हैं—

म्लान: पुष्पोपहार: पुष्पपूजा, म्लानत्वादेव विरलभक्तिर्विरलविरचनो भवति।

अर्थात्

'म्लान हो चुका पुष्पोपहार अर्थात् पुष्पपूजा, म्लान होने से ही उसकी भक्ति उसकी रचना भी विरल हो गई है, घनी नहीं रही।'

हेमाद्रि की व्याख्या है—

शयने म्लानपुष्पाणाम् उपहार: पूजा ।

अर्थ वही है। पं०सीताराम चतुर्वेदी तथा डॉ०वासुदेवशरण अग्रवाल ने इन दोनों संदर्भों में उपहारशब्द के अर्थ दूसरे ही किए हैं। उनके अनुसार यहाँ उपहारशब्द पुष्पों के बिखेरने या बिखरे पुष्पों के लिए प्रयुक्त है। कालिदासग्रन्थावली के अनुवाद में पं०चतुर्वेदी लिखते हैं—

१. *'स्फटिक के भवनों में सजे हुए मदिरालयों पर रात को जब तारों की परछाईं पड़ती थी तो ऐसा जान पड़ता था मानों किसी ने फूल बिखेर दिए हों'।*

कुमारसंभव ४.२ कालिदासग्रन्थावली।

२. *'रात की सजावट के फूल मुरझाकर टूक—टूक हो गए हैं।*

रघुवंश ५.७४ कालिदासग्रन्थावली।

डॉ० अग्रवाल की मान्यता है—

१. 'उपहाशब्द का अर्थ है पुष्पप्रकर या पुष्पों का ढेर जो रघुवंश ५.७४ और कुमारसंभव ६.४२ में भी आया है।'[1]

२. उपहारपुष्प यों ही न बिखेर कर छोटी छोटी ढेरियों के रूप में सजाए जाते थे।[2]

स्पष्ट है कि ये दोनों विद्वान् उक्त दोनों स्थलों में उपहारशब्द को पूजार्थक नहीं मानते। किन्तु ये भी जो अर्थ स्वीकार करते हैं वे प्रकृत प्रसंग में उपयुक्त सिद्ध नहीं होते। इनके अनुसार यदि पुष्पों का बिखेरना अर्थ अपनाया जाए तो कुमारसंभव के पद्य में उसका उपमान के साथ सामंजस्य नहीं होगा, क्योंकि उपमान है नक्षत्र और बिखेरना है क्रिया। यदि बिखरे पुष्प अर्थ किया जाए तो हारशब्द का प्रयोग व्यर्थ होगा, क्योंकि उसका प्रयोग पुष्पों की सूत्रबद्धतामात्र के लिए होता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों अर्थों में उपहारशब्द की व्याकरणव्युत्पत्ति क्या होगी? उसके अनुसार 'उप' तथा 'हार' इन दोनों अंगों में से किसी एक को अनावश्यक और व्यर्थ स्वीकार करना होगा। क्या यह उस महाकवि कालिदास के साहित्य में ठीक होगा जिसे अभिनवगुप्त **भगवदनुग्रहपवित्रवाक्** कहते हैं। इन अर्थों के अनुसार केवल 'पुष्पहार' या 'हार' कहना पर्याप्त होता यद्यपि वह भी सौन्दर्यधन काव्यशिल्प में किरकिरी ही सिद्ध होता क्योंकि संस्कृत में भी पुष्पहारशब्द का हिन्दी के ही समान पुष्पमाला अर्थ ही रूढ है, पुष्पप्रक्षेपणक्रिया नहीं। केवल हारशब्द संस्कृत में मोती के हार के लिए चलता है। कालिदास के ही **'पाण्ड्यो—यमंसार्पितलम्बहार:'** (रघु० ६.६०) पद्य में आए हारशब्द से यह तथ्य स्पष्ट है। दण्डी और बाण में इसके प्रयोग पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। यदि हार शब्द को क्रियापरक भी माना जाए तो उसका अर्थ हरण करना होगा, बिखेरना नहीं।

वस्तुत: उपहार शब्द के अर्थनिर्णय की दिशा ललितविस्तर से मिलती है। उसमें हारों के अनेक प्रकारों का उल्लेख है। उन्हीं में एक हार को 'अर्धहार' भी कहा गया है। बोधिसत्व जब बाहर निकले तो उनके स्वागत के लिए मार्गों में अर्धहार लटकाए जाते हैं। ललितविस्तर के स्वप्नपरिवर्तप्रकरण के इस वाक्य से यह तथ्य स्पष्ट है—

येन मार्गेण बोधसत्त्वोभिनिर्गच्छति स्म स मार्ग: सिक्त:, संमृष्ट: गन्धोदकपरिषिक्तो मुक्तकुसुमावकीर्णो नानागन्धघटिकानिर्धूपित: पूर्णकुम्भोपशोभित: कदलीवृक्षोच्छ्रितो नानाविचित्रपटवितानविततो रत्नकिंकिणीजालहारार्धहाराभिप्रलम्बितोऽभूत्।[3]

निश्चित ही अर्धहार लड़ीरूप हार है जिसके लिए संस्कृत में हारलताशब्द

---

१. कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ३७०, पादटिप्पणी।

२. शृंगारहाट, चतुर्भाणी, पृष्ठ २३२, पादटिप्पणी।

३. ललितविस्तर पृष्ठ १३६।

चलता है। अभिसार के समय **'मलयज—रस—विलिप्त—तनवो नव—हारलता—विभूषिता:'** इस प्रकार नायिका को जिस हारलता से विभूषित कहा जा रहा है अर्धहार भी हो सकता है। कालिदास ने कुमारसंभव और रघुवंश के उक्त दोनों स्थलों में उपहारशब्द का प्रयोग इसी अर्धहार के अर्थ में किया है । लगता है कि कालिदास के समय में ऐसे हार स्वस्तिक आदि के आकार में फर्शों पर बिछाए जाते थे विशेषत: उस समय जब पानगोष्ठी का आयोजन होता था। इन फर्शों पर रंगवल्ली और चौक भी पूरे जाते रहे और उन पर खुले फूल भी बिखेरे जाते रहे। पार्वती से बटु ने कहा ही था 'तुम्हारे पैर विवाह के समय तो चौक मांड कर उन पर बिखेरे गए पुष्पों पर पड़ेंगे और उसके तुरन्त बाद पतिगृह जाने पर कटे हुए केशों से लांछित चितावेदिकाओं पर—

चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयो: परोपि को नाम तवानुमन्यते।
अलक्तकांकानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु।। कुमार० ५.६८।।

विवाहमांगल्य के वर्णन में कालिदास ने इसी चौक का चित्रण पुन: किया और लिखा—

'सौभाग्यवती महिलाएँ पार्वती को उस चौक पर ले गईं जिसमें वैदूर्यमणि की शिला लगी थी और मोतियों के अनेकविध चित्र बने थे। वहाँ सुवर्णकलशों से स्नान कराया गया'—

तां लोध्रकल्केन हृतांगतैलामाश्यानकालेयकृतांगरागाम्।
वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चुतुष्काभिमुखं व्यनैषु:।।
विन्यस्तवैदूर्यशिलातलेस्मिन्नाबद्ध—मुक्ताफल—भक्तिचित्रे।
आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयै: सतूर्यमेनां स्नपयांबभूवु:।। कुमार० ५.९—१०।।

विवाह के पश्चात् शिव और पार्वती जिस कौतुकागार में पहुँचे वह भी कालिदास के शब्दों में **'भक्ति—शोभा—सनाथ'** था। स्पष्ट ही भूमि पर वर्णवैचित्र्य की रचना में पुष्पों की लड़ियाँ और मुक्तपुष्प भी कालिदास के समय काम में लाए जाते रहे। उपहारशब्द से वे इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। कुमारसंभव के उक्त संदर्भ में यही तथ्य कवि को अभिप्रेत था यह वहाँ दी गई नक्षत्रों की उपमा से भी सिद्ध होता है। वहीं नहीं पानभूमि का वर्णन संस्कृतसाहित्य में जहाँ भी आता है इस प्रकार की पुष्परचना भुलाई नहीं जाती। स्वयं कालिदास ही मेघदूत में जहाँ अलका की समृद्धि का वर्णन करते और यक्षों की पानभूमियों का स्मरण दिलाते हैं वहाँ वे ऐसा ही चित्र प्रस्तुत करते हैं— **यस्यां यक्षा: सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि**

ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहाया: ।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकै: पुष्करेष्वाहतेषु ।। उत्तरमेघ ३।।

अर्थात् — *जिस अलका में यक्षजन कल्पवृक्षप्रसूत मधु का आसेवन करते*

हैं और उसके लिए वे उत्तमांगनाओं के साथ हर्म्यस्थल पर पहुँचते हैं जहाँ फर्श स्फटिकमणि के होते उन पर प्रतिबिम्बित तारे कुसुम रचना का कार्य करते हैं।

मेघदूत का यह पद्य तो मानों कुमारसंभव के अनुष्टुभ् की मन्दाक्रान्ता में हुई विशद व्याख्या है। कवि ने यहाँ कुमारसंभव के ऊपर उद्धृत **'चतुष्कपुष्पप्रकरा'**–श्लोक के समान पुष्पप्रकर शब्द का प्रयोग न कर कुसुमरचना शब्द का प्रयोग किया है। रचना में शिल्प रहता है प्रकर में नहीं। वहाँ वह आवश्यक भी नहीं क्योंकि उसका कार्य वहाँ पूरे गए चौक से ही हो जाता है। यहाँ की भूमि स्फटिकमणि की है जिसमें कोई रंग नहीं अतः यहाँ कुसुमरचना चौक के आकार की आवश्यकता पूरी करने के लिए आवश्यक है। उपमानरूप से प्रस्तुत नक्षत्र भी केवल बिखरे पुष्पों जैसे नहीं होते। उनमें भी पुष्पगुच्छ, हार और अर्धहार की आकृति रहती है। सप्तर्षिमण्डल, कृत्तिका, मृगशिरा जैसे तारकसमूह इस तथ्य को हृदयंगम करने के लिए पर्याप्त हैं। तारों के आकार ही नहीं उनके रंग भी पुष्पों की रचना का स्मरण दिलाते हैं। मंगल का रंग लाल होता है। इतना लाल कि उसे अंगारक ही कहा जाता है। चन्द्रमा और शुक्र अपनी श्वेतता के लिए प्रसिद्ध ही हैं। बृहस्पति पीतवर्ण के होते और बुध पीत, श्वेत और हरित में से किसी भी एक रंग का माना जाता है। शनि भी अपनी श्यामता के लिए प्रसिद्ध है। उपहारपुष्प भी प्रायः पाँच रंगों के होते हैं। पादताडितक जो गुप्तयुग की रचना है, में भट्टजीमूल के भवन में दशार्धवर्णपुष्पों के उत्कीर्णन का उल्लेख है। दशार्ध का अर्थ दश का आधा अर्थात् पाँच ही होगा। वहाँ का वाक्य है–

साम्प्रतं दशार्धवर्णपुष्पम् उत्कीर्यते। शृंगारहाट पृष्ठ २४१–४२।

भगवान् बुद्ध के जन्मपरिग्रह के समय भूमि पंचवर्ण कमलों के उपहारों से युक्त हो उठी थी– **तत्रान्तरे तामरसैरूदारेरूदंचितैरंचितपंचवर्णैः।**
संछादिता तस्य विहारहेतोः कृतोपहारेव बभूव भूमिः।।

–बुद्धघोष की पद्यचूडामणि, सर्ग ३

मृच्छकटिक के सूत्रधार का घर अभिरूपपति नामक व्रत के आयोजन के समय उसकी गेहिनी द्वारा पंचविध पुष्पों के उपहार से युक्त किया जाता है–

इयं च पंच–वर्ण–कुसुमोपहारा भूः। प्रथमांकारम्भ।।

इस प्रकार ज्योतिःप्रतिबिम्ब की उपमा प्रस्तुत कर कालिदास ने अपने उपहारशब्द का अर्थ स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है। पानगोष्ठी के समय इस उपहार की अलंक्रिया नागर जीवन का सुरुचिपूर्ण मंडन था जिसे कालिदासकालीन नागर ने परम्परा से पाया था। वाल्मीकीय रामायण में जहाँ रावण की पानशाला का वर्णन आता है वहाँ भी इन पुष्पोपहारों का स्मरण मिलता है। महर्षि ने लिखा है–

हार—नूपुर—केयूरै—रपविद्धैर् महाधनैः।
पानभाजन—विक्षिप्तैः फलैश्च विविधैरपि।
कृतपुष्पोपहारा भूरधिकां पुष्यति श्रियम्।। सुन्दरकाण्ड ११.१८–१९

यद्यपि महान् माने जाने वाले कवि माघ ने अपने शिशुपालवध के दशम सर्ग में तथा रत्नाकर ने हरविजय के छब्बीसवें सर्ग में पानगोष्ठी का स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया है किन्तु ये दोनों कवि हमारी सांस्कृतिक परम्परा से इतना अनभिज्ञ थे कि इन्होंने पानगोष्ठीकुट्टिमप्रसाधनीभूत उपहार जैसी रम्य वस्तु को भुला दिया। गद्यकवि दण्डी इसे नहीं भुलाते। वे पानगोष्ठी का और भी अधिक हृदयहारी चित्र प्रस्तुत करते और लिखते हैं—

विशदायां शरदि शारद—शशिकर—सित—चन्दन—धवल—हिमजलबिन्दु—सीकरशीतलासु श्लथमान—शिशिर—शेफालिकोपहार—हासिनीषु हर्म्यमालासु मधुभाषिणीमधूनि ०००युवतयः पातुमुत्तस्थुः। अवन्तिसुन्दरी पृष्ठ ३२

अर्थात्— *युवतियाँ उन हर्म्यमालाओं पर मधुपान के लिए उठ खड़ी हुईं जो श्वेतवर्ण की शरद् में चन्द्र की श्वेत किरणें, श्वेत चन्दन और वैसे धवल नीहारबिन्दुओं से शीतल थीं और जिन पर शेफाली के स्वयं झड़ रहे शिशिर पुष्पों से निर्मित उपहार की हँसी छिटकी हुई थी।*

इस हरसिंगार कही जाने वाली शेफाली के पुष्प श्वेतपीत होते और पौधे के आसपास मण्डल में बिखरते हैं। प्रतीत होता है कि स्वतन्त्र रूप से बनी पानशालाओं में फर्शों पर पुष्पभक्ति उत्कीर्ण कर बहुरंगी शिलापट्ट ही आकारविशेष में जड़ दिए जाते रहे होंगे और उत्सव के समय पुष्पोपहार भी बना दिया जाता होगा। हमारी दृष्टि में ऐसे कुट्टिमों पर पुष्पोपहार का अर्थ पुष्पप्रकर या विकीर्णपुष्प किया जाना चाहिए। यह भी माना जा सकता है कि पान के पश्चात् की छीनाझपटी में या रतिक्रीडा में कामियों के शरीरगत हार टूट जाते होंगे और उपहाररचना हो जाती होगी।

पानगोष्ठियों में ही नहीं अन्यत्र भी ये पुष्पोपहार संस्कृत कवियों में प्रसिद्ध हैं। दण्डी की अवन्तिसुन्दरी का नायक 'स्मेरहर्म्योपहार' हर्म्यों पर विहार करता है—

विजृम्भमाणमल्लिकामुकुलदामप्रलम्बोत्तरीयरमणीयेन सुन्दरीजनेन चन्दनरस—प्रक्षालनशिशिरेषु स्मेरमल्लिकोपहारेषु सौधहर्म्येषु समगंस्त । पृष्ठ ९०

मृच्छकटिक के सूत्रधार के घर के समान वसन्तसेना का भवन भी कुसुमोपहार से सश्रीक है—

अहो विविध—सुगन्धि—कुसुमोपहार—चित्रलिखित—भूमिभागस्य वसन्तसेनाया गृहद्वारस्य सश्रीकता । मृच्छकटिक ४.४८ प्राकृत।

भवन गणिका का है अतः यहाँ उपहारकुसुम सुगन्धी हैं। चतुर्भाणी का हरिण

साध्यपुष्पोपहार को नहीं छूता—

सान्ध्यं पुष्पोपहारं परिहरति मृग: स्थण्डिले स्वप्तुकाम:। (पृष्ठ १०२)

कादम्बरी में पुष्पों से आस्तृत लतामण्डप को कुसुमोपहाररम्य कहा जाता है—

भ्रमरभरभुग्नगर्भकेसरजर्जरकुसुमोपहाररम्योयं लतामण्डप:। वैद्यसंस्करण पृष्ठ १३९।

कादम्बरी में ही उसका नायक चन्द्रापीड जिस शिलापट्ट पर बैठता है वह सिन्दुवार के अवदात हारों के उपहार से अलंकृत है —

अवदात—सिन्दुवार—दामोपहारं मुक्ताशिलापट्टमधिशिश्ये। —वैद्यसंस्करण पृष्ठ २०६

ध्यान देने योग्य है कि यहाँ का शिलापट्ट केवल शिलापट्ट नहीं अपितु मुक्ताशिलापट्ट है। कादम्बरी में ही एक प्रमदा को दूसरी प्रमदा उलाहना देती हुई कहती है—

'तुझ पर मदन की अन्धता छा गई है तभी न तुझे उपहार के पुष्प भी नहीं दिखाई दे रहे और उन पर पैर पड़ने पर फिसल फिसल जा रही है'

उपहारकुसुमस्खलितचरणा पतसि मदनान्धे —वैद्यसंस्करण पृष्ठ ८४।

इन स्थलों में जो अर्थयोजना है उस पर ध्यान देने से लगता है कि उपहारशब्द का अर्थ उत्तरोत्तर धुंधला पड़ता गया और उसकी सूक्ष्म श्री की ओर से कवियों का प्रातिभ नेत्र उदासीन होता गया। कालिदास में उसकी जो सूक्ष्मता नक्षत्रों के प्रतिबिम्ब की योजना से सामने आई थी वह शूद्रक और श्यामलिक के उल्लेखों तक तो रक्षित थी किन्तु दण्डी और बाण तक आते आते एकमात्र औपचारिक रह गई थी। वे मुक्ताजटित या मुक्तावदात शिलापट्ट पर सिन्दुवार के उन पुष्पों से उपहारयोजना करवाते हैं जिन्हें राजशेखर की कर्पूरमंजरी के विदूषक ने चावल के भात के समान सफेद कहा था—

फुल्लुक्करं कलमकूरणिहं वहन्दो
जे सिन्दुआरविडआ मम वल्लहा दे।।

मल्लिका के पुष्प भी सफेदी के लिए ही प्रसिद्ध हैं। स्पष्ट ही इन कवियों को उपहार में पुष्पों की विचित्रवर्णता का अधिक ध्यान नहीं है। ये इस शब्द को विविधवर्णी रचना से हटाकर कोमल पुष्पप्रक्षेप की ओर ले जाते दिखाई देते हैं। कालिदास को वैसा मान्य नहीं है। वे केवल पुष्पप्रक्षेप या पुष्पप्रकर का वर्णन भी करते हैं, किन्तु वहाँ वे उपहारशब्द का प्रयोग नहीं करते। रघुवंश में भगवान् राम के अयोध्या से बाहर जाते समय मार्गों की सजावट का आदेश दिया जाता है और उन पर पुष्प बिखेरे जाते हैं—

यावदादिशति पार्थिवस्तयोनिर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम्।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर् घनैः।। ११.३।।

विवाह के उपलक्ष्य में ओषधिप्रस्थ के पथ संतानकनामक देववृक्ष के पुष्पों से आकीर्ण थे—

संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्कांचनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे।। कुमार० ७.३।।

इन्दुमती के साथ अज जब पुरमार्ग में प्रवेश करता है तब वे नवीन उपचारों से प्रकीर्ण बतलाए जाते हैं—

तावत् प्रकीर्णाभिनवोपचार—मिन्द्रायुधद्योतिततोरणांकम्।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम्।। रघु०७.४।

यहाँ उपचार शब्द सामग्री के लिए प्रयुक्त है क्योंकि कालिदास ने—

स तत्र मंचेषु मनोशवेषान् सिंहासनस्थानुपचारवत्सु।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान् नरलोकपालान्।। रघु०६.१ ।।

यहाँ इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। 'सामग्री' अनेक वस्तुओं के समुदाय का नाम है अतः निश्चित ही कालिदास के मन में मार्ग को अलंकृत करने के लिए अपने समय में काम में लाई जाने वाली सारी वस्तुओं का ज्ञान है और निश्चित ही पुष्पप्रकर उनमें से एक है। अभिनन्दनीय व्यक्ति के आगमन के पूर्व सजावट के लिए पुष्प बिखेरने के समान उसके आने पर उसके स्वागत में भी पुष्प बिखेरने का उल्लेख कालिदाससाहित्य में मिलता है। रघुवंश में महाराज दिलीप जब नन्दिनी को लेकर वन की ओर चलते हैं तो लताएँ उन पर पुष्पवृष्टि करती हैं ठीक वैसे ही जैसे नगर में पौरकन्याएँ लाजवृष्टि—

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम्।
अवाकिरन् बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः।। रघु०२.१०।।

रघुवंश के ही चतुर्थ सर्ग में जहाँ दिग्विजय के लिए निकल रहे सम्राट् रघु पर पुरवनिताएं लाजवृष्टि करती हुई चित्रित हैं वहाँ—

अवाकिरन् वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम्।। रघु०४.२७।।

इस पद्य में पुष्पों के बिखेरने का भी अभिप्राय निहित माना जा सकता है, क्योंकि लाजवृष्टि एक मांगलिक आचार था जिसमें लाज की प्रधानता रहती थी। उसमें पुष्प आदि का निषेध नहीं रहता था। पार्वती और बटु की उक्तिप्रत्युक्ति में चतुष्क पर पुष्प बिखेरने का उल्लेख किया ही जा चुका है। चतुर्भाणी का वेशमहापथ भी पुछा, सिंचा, पुष्पावकीर्ण बतलाया गया है—

अहो नु खल्विदानीमस्य संमृष्ट—सिक्तावकीर्णकुसुमप्रकाराजिरस्य वेशमहापथस्य परा श्रीः। पृष्ठ २३२ शृंगारहाट।

कादम्बरी की वेशवनिताएँ अमल मणिभूमि पर संक्रान्त मुखप्रतिबिम्बों से खिले कमलों का पुष्पप्रकर उत्पन्न कर देती हैं—

अमलमणिभूमिसंक्रान्तमुखनिवहप्रतिबिम्बतया विकचकमलपुष्पप्रकरमिव संपादयता वारविलासिनीजनेनाकुलितम्।। वैद्यसंस्करण पृष्ठ ८९।।

ललितविस्तर के बोधिसत्त्व जिस रास्ते निकलते हैं उसे भी नानाकुसुमावकीर्ण बतलाया जाता है –

अहं नानापुष्पावकीर्णं मार्गव्यूहं करिष्यामि येन मार्गेण बोधिसत्त्वो–भिनिष्क्रमिष्यति।। अभिनिष्क्रमणपरिवर्त पृष्ठ १४७ दरभंगा संस्करण।।

इस प्रकार उपहार शब्द मूलत: वहीं अपनाया जाता था जहाँ पुष्पों की रचना का अभिप्राय व्यक्त करना होता था। जहाँ केवल पुष्पों के बिखेरने मात्र का उल्लेख होता था वहाँ पुष्पप्रकर आदि शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता था। बाद में यत्र तत्र पुष्पप्रकर के लिए भी उपहारशब्द का लाक्षणिक प्रयोग किया गया, किन्तु कालिदास में नहीं। फलत: कालिदास के अनुसार उपहारशब्द का एक अर्थ विविधवर्ण के अर्धहारों की आकार–विशेष में मंडनयोजना है।

इस प्रकार कालिदाससाहित्य में उपहार शब्द अपने विविध रूपों में १५ बार प्रयुक्त है और उनमें उसके

१. उपायन
२. पूजा
३. पास पहुँचना तथा
४. विविध रंग के पुष्पों के अर्धहारों की आकृतिविशेष में रचना अथवा आकृतिविशेष में रचित विविध वर्ण के पुष्पों के अर्धहार

ये चार अर्थ प्राप्त होते हैं। आश्चर्य है कि संस्कृत के कोषों में उपहार शब्द का उक्त चतुर्थ अर्थ नहीं मिलता।

बालातप

मल्लिनाथ ने कालिदास के शब्दों की जिस दुर्व्याख्या के प्रति घृणा व्यक्त की है उसका एक उदाहरण कालिदास का ही बालातप शब्द है। रघुवंश के दशम सर्ग में रावण घबराए देव भगवान् विष्णु के पास पहुँचते हैं। विष्णु भगवान् अभी अभी अपनी चार मास की नींद पूरी कर जागे थे। उनकी छवि का वर्णन करते हुए कवि लिखता है– **प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम्।**
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम्।। रघु० १०.९।।

अर्थात्, *उनकी प्रबुद्ध आँखें प्रबुद्ध पुण्डरीक सी लग रहीं थीं, वे बालातप–तुल्य अंशुक पहने थे और इसलिए शारदीय दिवस के समान शुरू में ही आँखों को सुहावने लग रहे थे।।*

यहाँ आए 'बालातप'–शब्द का अर्थ सुमतिविजय और चारित्र्यवर्धन इस प्रकार करते हैं – **बाला कल्याराशि: तत्र आ समन्तात् तपतीति बालातप:। कन्याराशिस्थस्य आदित्यस्य नितरां भासो दीप्तय: ता एव अंशुकं वस्त्रं यस्य तं वा।**

प्रा० नन्दगीकरसंस्करणीय रघुवंशपरिशिष्ट।

अर्थात्, बाला का अर्थ है कन्याराशि, उसके आतप का अर्थ होगा उसमें खूब तपने वाला अर्थात् सूर्य यानी कन्याराशि का सूर्य, उसकी निभा अर्थात् पर्याप्त तीक्ष्ण दीप्तियाँ, उनके समान अंशुक अर्थात् वस्त्र है जिनका उन्हें।

नन्दर्गीकरजी का कहना है कि भट्ट हेमाद्रि ने भी अपने रघुवंशदर्पण में यह अर्थ स्वीकार किया है। किन्तु दर्पण के दशम सर्ग की जो दस पाण्डुप्रतियाँ हमनें देखीं उनमें से केवल भण्डारकर प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान की १६१। १८८२–८३–क्रमांकीय केवल एक ही प्रति में यह पाठ मिलता है। यह प्रति प्रक्षेपों से बहुत ही अधिक भरी है अत: यह कहना संभव नहीं है कि 'बालातपनिभांशुक' शब्द का उपर्युक्त अर्थ हेमाद्रि को भी मान्य है। नन्दर्गीकरजी ने केवल पूना की ही कुछ प्रतियाँ देखीं थीं और उनमें भी वे अन्य टीकाओं के प्रक्षेप पकड़ नहीं पाए थे। नन्दर्गीकरजी ने अपने उक्त रघुवंशसंस्करण में वल्लभ आदि अन्य टीकाकारों की टीकाओं के अंश भी उद्धृत किए हैं किन्तु वे इस शब्द की व्याख्या में केवल सुमतिविजय और चारित्र्यवर्धन के ही नाम लेते हैं इससे प्रतीत होता है कि वल्लभ आदि में उन्हें यह अर्थ नहीं मिला। मल्लिनाथ की जो संजीविनी बहुश: और बहुधा मुद्रित हुई है उसमें भी उक्त शब्द की उक्त व्याख्या नहीं मिलती। प्रश्न यह है कि यह व्याख्या मानी जाए अथवा नहीं। इस पर हमारे विचार ये हैं–

टीकाकारों का बहुमत उक्त व्याख्या के विरोध में है अत: इसकी मान्यता भी संदेह में पड़ जाती है, परन्तु विचार कने पर यह संदेह प्रमात्मक भी ठहर जाता है। कारण यह है कि उक्त व्याख्यान में अभिव्यक्तिगत अनेक दोष हैं जिनमें च्युतसंस्कृतित्व, अप्रसिद्धिहतत्व, अप्रतीतत्व प्रमुख हैं। निभांशुक–शब्द में उक्त व्याख्या के अनुसार 'नि+भास्+अंशुक' ऐसा विग्रह है। इसके अनुसार सकार का लोप होगा और पुन: सन्धि न होगी फलत: 'निभाअंशुक' ऐसा ही रूप बन सकेगा। भास्+अंशुक से भांशुक रूप बनाना व्याकरण विरूद्ध होगा अत: इसमें च्युतसंस्कृतित्व होगा। इसी प्रकार बालाशब्द का कन्याराशि रूपी अर्थ केवल ज्योतिषशास्त्र में प्रसिद्ध है फलत: उस शास्त्र को न जानने वाले पाठक को इस अर्थ की प्रतीति न होगी अत: यहाँ अप्रतीतत्व दोष होगा। बालाशब्द का कन्याराशि अर्थ कर लेने पर उसके आगे आए आतपशब्द का अर्थ धूप ही करना पर्याप्त है फिर या 'समन्तात् तपति' ऐसी शल्यचिकित्सा कर उससे सूर्यरूपी अप्रसिद्ध अर्थ का निकाला जाना अनावश्यक है। अभिप्राय यह कि आतपशब्द यहाँ उपमानशब्द के रूप में दिया जा रहा है और उसके अर्थ से अंशुक की तुलना की जा रही है। भगवान् विष्णु पीतवस्त्र धारण करने के लिए प्रसिद्ध हैं अत: उपमानभूत आतप में भी पीतत्व की प्रतीति होना आवश्यक है। आतप का अर्थ सूर्य करने पर अर्थ निकलेगा कन्याराशि के सूर्य जैसा वस्त्र और उपमानभूत आतपपदार्थ में

पीतत्व भासित न होकर तीक्ष्णत्व भासित होगा, क्योंकि कन्याराशि का सूर्य तपन के ही लिए प्रसिद्ध होता है। इस प्रकार वह पीताम्बर का उपमान नहीं बन पाएगा क्योंकि वस्त्र की प्रसिद्धि तपन के लिए नहीं है और न कवि को ही वह प्रतिपादित करना अभीष्ट है। ऐसा भी कुछ नहीं कि विष्णु भगवान् का वस्त्र तपन के लिए प्रसिद्ध हो। इस प्रकार साधर्म्य की सिद्धि न होने पर इस पद्य में दी गई उपमा कला नहीं विकार सिद्ध होगी और उससे इस पद्य का काव्यत्व ही उच्छिन्न हो जाएगा। चमत्कारशून्य काव्य और चेतनाशून्य शरीर में अन्तर ही क्या होता है। आतप का अर्थ धूप करने पर उसका अंशुक के साथ औपम्य पर्यवसित हो जाता है। किन्तु इस अर्थ में बालातप शब्द के प्रथम घटक को 'बाला' न मानकर 'बाल' मानना होगा और अर्थ करना होगा 'बाल आतप' अर्थात् प्रभातकालीन कोमल धूप जिसमें पीतिमा रहती है और ललोंई भी। ऐसा अर्थ करने पर भगवान् विष्णु के पीताम्बर के साथ विवक्षित साम्य वर्णसाधर्म्य मिल जाने से उपपादित हो जाता है। आतप का अर्थ धूप करके यदि उसके साथ समस्त पूर्ववर्ती पद को बाला मान लिया जाए और उसका ज्योतिषशास्त्र में प्रसिद्ध वही अर्थ किया जाए जो पूर्वोक्त दो टीकाकारों ने किया है, अर्थात् कन्याराशि तो आतप में वर्णगत पीतता का बोध न होगा क्योंकि कन्याराशि के आतप में तपन की ही प्रसिद्धि, पीतत्व की नहीं जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है। इस प्रकार साधर्म्य न मिलने से अंशुक के साथ उपनिबद्ध आतप का औपम्य पहेली सा बन जाएगा और उक्त में जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है काव्यत्व की सृष्टि नहीं कर पाएगा। इस प्रकार न तो आतप का अर्थ सूर्य ही किया जा सकता और न उसके पूर्वपद को बाला ही माना जा सकता।

सत्य यह है कि कवि को भगवान् के पीताम्बर में निर्मलता भी बतलानी है। इसीलिए कवि ने उपमानरूप से शरत्कालीन धूप को चुना है। शरत्काल की धूप में अन्य ऋतुओं की धूप से केवल निर्मलता की ही विशेषता रहती है। वर्षा ऋतु में धूप मेघ से ढँकी रहती है। कालिदाससाहित्य में यह तथ्य बहुत सुलभ है। मेघदूत में यक्ष मेघ से कहता ही है कि वह सबेरे के समय सूर्य और पद्मिनी के बीच न आए क्योंकि वह समय खण्डिताओं के आँसू पोंछने का रहता है। सूर्य को भी पद्मिनी के तुषाराश्रु पोंछने होंगे—

तस्मिन् काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु ।
प्रालेयास्रं कमलवदनात् सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ।। उत्तरमेघ।।

यक्षपत्नी ने विशाल नेत्र वियोगकाल में भी मिलनकाल के समान चन्द्रकिरणों

का स्वागत करने प्रवृत्त होंगे किन्तु वेदना से वैसा कर नहीं पाएँगे। उस समय अर्धमुकुलित उन नेत्रकमलों से युक्त वह सुन्दरी मेघाच्छादित दिन की कमलिनी सी दिखाई देगी न खिली ही न मुँदी ही–

पादानिन्दोरमृतशिशिरान् जालमार्गप्रविष्टान्
पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव ।
चक्षुः खेदात् सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्।। उत्तरमेघ।।

स्पष्ट ही यहाँ सूर्यातप के ढँकने का अभिप्राय निहित है। शरत् को कालिदास ने वर्षात्यय माना है। उनके शब्दों में शरद् सूर्य और चन्द्र से अम्बुधरों का उपरोध प्रमृष्ट कर देती है– रघु० ६.४४ । निम्नलिखित पद्य से तो कवि ने यह तथ्य और भी स्पष्ट कर दिया है– **निर्मृष्ट—लघुभिर्मेघैर् मुक्तवर्त्मा सुदुस्सहः।**
प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद् व्यानशे दिशः।। रघु० ४.१५।।

अर्थात् 'रघु और सूर्य दोनों प्रताप एक साथ दिशाओं में फैले। दोनों के रास्ते खूब बरस कर क्षीण हुए मेघों ने छोड़ दिए थे और दोनों ही दुःसह हो उठे थे।'

दूसरी और शरत् की विशेषता का उल्लेख करते हुए कवि ने यह भी कहा है कि वह रास्तों की कीचड़ को न तो कीचड़ ही रहने देती और धूल ही बना देती। इस प्रकार कालिदास के स्वयं के उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि शरद् ऋतु से आकाश निर्मेघ और भूमि नीरजस्क कर दी जाती है और इसीलिए आकाश भी नीरजस्क रहता है। इसीलिए उस समय दिशाओं के अन्तराल अधिक विमल रहते हैं। प्रभात के सूर्य की पिशंगबभ्रूता का उस समय खिलना स्वाभाविक ही है। हेमन्त और शिशिर में ओस पड़ती रहती है अतः सूर्य निश्वासान्ध आदर्श के समान निष्प्रभ रहता है। वसन्त में दक्षिणानिल, पुष्प, पत्र, कोकिलालाप, भृंगांगनागीति, अशोक, केसर, किंशुक और कामभाव की प्रधानता रहती है। उस समय सूर्य की प्रभा और उसकी कोमलता असामयिक लगते हैं। उस समय सूर्य का ध्यान नहीं रहता ऐसी बात नहीं है परन्तु उन विशेषताओं के लिए नहीं रहता जिनके लिए अन्य ऋतुओं में रहता है। उस समय सूर्य का ध्यान केवल उदग्गति के लिए होता है। कालिदाससाहित्य में ही इसके–

जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्त्तितवाहनः।
दिनमुखानि रविर् हिमनिग्रहैर् विमलयन्मलयन्नगमत्यजत्।। रघु०९.२५।।
कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलंघ्य।
दिग् दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिश्श्वासमिवोत्ससर्ज।। कुमार०३.२५।।

इस प्रकार वसन्तावतार के अवसर पर और–

अगस्त्यचिह्नादयनात् समीयं दिगुत्तरा भास्वति संनिवृत्ते।
आनन्दशीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज॥ रघु० १६.४४॥

इस प्रकार ग्रीष्मारम्भ के अवसर पर सूर्य यह उदग्गति स्पष्ट रूप से चर्चित है। इस प्रकार अन्य ऋतुओं में सूर्य के बालातप की स्थिति सौन्दर्य की दृष्टि से हाथी के शरीर में पूँछ जैसी होती है। उसका वर्णन नहीं किया जाता। वसन्तादि में वह इसलिए भी छोड़ दिया जाता है कि उस समय की नभस्थली धूल से भरी रहती है अत: उस समय के आतप में उतनी अधिक वर्णस्फीति नहीं रहती। यह केवल शरद् में संभव होती है। इस प्रकार शरत्काल में सूर्यातप का बालत्व प्रात:कालीन पीततामात्र के लिए प्रिय होता है इसलिए अंशुक के साथ उसकी उपमा में उससे साधर्म्य की निष्पत्ति हो जाती है और यह पद्य एक उत्तम काव्य सिद्ध होता है। इसलिए कन्याराशि वाला पक्ष यहाँ सर्वथा त्याज्य ही है।

यह पक्ष अन्य अनेक हेतुओं से भी त्याज्य है। इस पक्ष में प्रारम्भसुखदर्शन और प्रबुद्धपुण्डरीकाक्ष ये विशेषणपद असंगत से लगते हैं। इस पक्ष के मानने पर बालातपशब्द से प्रभातरश्मित्व हट जाता है अत: प्रारम्भ से भी प्रभातकालिकत्व को हटाना पड़ता है। फलत: उसको दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त मानना पड़ता है। मल्लिनाथ और हेमाद्रि की टीकाओं से इस शब्द की यह दुर्गति स्पष्ट है। मल्लिनाथ इसका अर्थ करते हैं–

प्रकृष्ट आरम्भो योगो येषां ते प्रारम्भा: प्रकृष्टोद्योगा योगिन: तेषां सुखदर्शनम्।

अर्थात्, *प्रकृष्ट है आरम्भ यानी योग जिनका वे हुए प्रारम्भ अर्थात् प्रकृष्ट उद्योगवाले योगी उन्हें जो सुखपूर्वक दिखाई देते हैं वे विष्णु भगवान्॥*

हेमाद्रि भी ऐसा ही अर्थ करते और लिखते हैं–

प्रकृष्ट आरम्भ उद्यमो विष्णुसाक्षात्कारविषय एषां सनकसनन्दनादीनां तेभ्य: सुखेन दर्शनं यस्य तम्, आरम्भस्तु त्वरायां स्यादुद्यमे वधदर्पयोरिति विश्व:।

अर्थात्, *प्रकृष्ट है आरम्भ माने विष्णुसाक्षात्कारविषयक उद्यम जिनका अर्थात् सनक–सनन्दन आदि ऋषियों का उन्हें सुख से मिल जाता है दर्शन जिनका उनको। ऐसा इसलिए कि विश्वप्रकाश कोश के अनुसार आरम्भशब्द त्वरा, उद्यम वध और दर्प अर्थ में चलता है॥*

स्पष्ट ही ये दोनों महापण्डित प्रारम्भशब्द को विष्णुपक्ष में लगाने के लिए उसमें बहुव्रीहि मानते हैं। प्रारम्भ का अर्थ आरम्भ ये दोनों कदाचित् इसलिए नहीं करते कि इससे अनौचित्य की प्रतीति होती है। यह प्रतीत होता है कि भगवान् आरम्भमात्र में ही अच्छे लगते हैं अर्थात् अन्त में नहीं। वल्लभ प्रारम्भ का अर्थ आरम्भ ही करते हैं। उक्त अनौचित्य से वे क्यों नहीं डरते यह एक विचारणीय प्रश्न है। उनकी दृष्टि में कदाचित्

भगवान् विष्णु के माहात्म्य से यह विपरीतभाव ठीक वैसे ही स्फुरित नहीं होता जैसे शिवलिंगशब्द में शिव के माहात्म्य के कारण लिंग शब्द का अश्लील अर्थ। फिर यदि यह विपरीत अर्थ विष्णुपक्ष में अपनाया जाए तो दिवसपक्ष में भी अपनाया ही जाएगा। उस पक्ष में इसका निवारक कोई नहीं होगा। इस प्रकार उस पक्ष में यह दोष दोष ही रहा आएगा। निदान इस विशेषण को उपमानपक्ष में अनन्वित मानना होगा जो उपमा के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि के लिए कलंक होगा।

वस्तुत: यहाँ प्रारम्भशब्द आरम्भमात्र का वाचक माना जा सकता है। उसका कारण है प्रकृत संदर्भ। उससे स्पष्ट ही है कि विष्णु का दर्शन वे देव कर रहे हैं जो याचक के रूप में उपस्थित हैं। याचक दाता की मुखमुद्रा पहले देखता है। दाता यदि प्रसन्न दिखाई देता है तो याचक प्रसन्न होता है। यहाँ भी देवताओं में याचना करने के पूर्व प्रसन्नता का प्रतिपादन और उससे आश्वस्तता की अभिव्यक्ति आवश्यक है। उसके विना कोई भी समझदार याचक याचना कर ही नहीं सकता। इसके लिए कवि ने विष्णु भगवान् को प्रारम्भ अर्थात् दर्शन–प्राप्ति के प्रथम क्षण से ही सुखदर्शन अर्थात् दर्शक के चित्त में आनन्दनिष्पन्दी प्रतिपादित किया। कालिदास दर्शक के ऊपर पड़ रहे प्रभाव को दृश्य वस्तु की मनस्थिति का परिचायक मानते हैं। शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त का मन साभिलाष हुआ तो उसने समझ लिया कि शकुन्तला के मन में भी उसके आनुकूल्य का कोई बीज विद्यमान है। दिलीप के हाथ में अधिज्य धनुष था किन्तु हिरनियों ने उसे भर आँख देखा, वे भागी नहीं क्योंकि उनके हृदयों ने उन्हें यह बतला दिया था कि दिलीप के साथ धनुष का भय ऊपर से ही दिखाई देता है वस्तुत: उसका हृदय दया से आर्द्र है। हिरनियों के हृदय को राजा की इस दयालुता का भान कैसे हुआ। कालिदास के शब्दों में इसका कारण उनमें दिलीप को धनुषधारी देखकर भी शंका या भय का उत्पन्न न होना था–

धनुभृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्त:करणैर्विशंकः।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः।। रघु० २।।

वल्मीकि के अनुसार भी सीताजी के मन में अचानक उपस्थित हनुमान् के प्रति विश्वास का कारण उनके मन में हनुमान् के प्रति भय का उत्पन्न न होना था–

अहो धिक् धिक्कृतमिदं कथितं हि यदस्य मे ।
रूपान्तरमुपागम्य स एवायं हि रावण: ।। सुन्दरकाण्ड ४.१०।।
अथवा नैतदेवं हि यन्मया परिशंकितम् ।
मनसो हि मम प्रीतिरुत्पन्ना तव दर्शनात् ।। वही ३४.१७।।

'कलुषं विमलीभवच्च चेत: कथयत्येव हितैषिणं रिपुं वा' सुभाषित उक्त निगूढ शिष्टानुभव की लोकोक्ति है। भगवान् विष्णु के दर्शन से याचकरूप से उपस्थित देवगण

के मन पर कवि वही प्रभाव पड़ता बतलाना चाहता था जो उनके याचनारूपी उद्देश्य के अनुकूल था। इसलिए उसने विष्णु के लिए सुखदर्शन विशेषण दिया और सुखदर्शन के लिए प्रारम्भ। यहाँ प्रारम्भ का अर्थ दर्शनप्रथमतमक्षण होगा, प्रकृष्टोद्योगी योगी नहीं। वैसा अर्थ करने पर हेतु और साध्य में विसंगति भी आएगी। भला यह कैसे संभव है कि कवि दर्शक के रूप में उपस्थित करे देवताओं को और सुखदर्शनत्व प्रतिपादित करे योगियों के लिए। यह तो एक प्रकार से राम को न्यौतना और कृष्ण को जिमाना हो गया। देवतालोग भी योगी हो सकते हैं किन्तु उनका ऐसा होना यहाँ कोई महत्त्व नहीं रखता। भगवान् ने उन्हें इसलिए दर्शन नहीं दिए थे कि वे सब योगी थे अपितु इसलिए दर्शन दिए थे कि वे भक्त और उस समय आर्त्त थे। योग के लिए सनक, सनन्दन आदि ऋषि प्रसिद्ध होते हैं देव नहीं। इस प्रकार प्रारम्भशब्द में श्लेष मानने की आवश्यकता नहीं है। उसका एक ही अर्थ है और वह है आरम्भ। उसका दोनों पक्षों में ठीक से अन्वय हो जाता है और वस्तुत: उसी से प्रकृतवाक्यार्थ का समर्थन भी सधता है। इस प्रकार अवश्य ही सुमतिविजय और चारित्र्यवर्धन की बालातपशब्द की व्याख्या के ही समान यहाँ स्वयं मल्लिनाथ और हेमाद्रि की व्याख्या भी दुर्व्याख्या ही है।

दूसरा विशेषण 'प्रबुद्ध–पुण्डरीकाक्ष' शब्द से प्रतिपादित प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षत्व भी कन्याराशि अर्थ के प्रतिकूल है, क्योंकि इसका प्रथम घटक जो प्रबुद्ध–शब्द है उसका प्रबुद्धत्व निद्रात्याग रूपी प्रबोध ही है। यह कन्याराशि से संबद्ध न होकर प्रभात से ही संबद्ध हो सकता है। पुण्डरीकपक्ष में उसका अर्थ विकास किया जाएगा। यहाँ एक कठिनाई और आती है। वह है समास की। प्रबुद्धपुण्डरीकाक्ष शब्द का समास विष्णुपक्ष में होगा 'प्रबुद्ध पुण्डरीक के समान हैं नेत्र जिसके इस विग्रह पर आश्रित उपमितसमास और दिवसपक्ष में होगा 'प्रबुद्धपुण्डरीक ही है अक्षि जिसके' इस विग्रह पर आश्रित विशेषणसमास, जैसा कि मल्लिनाथ और हेमाद्रि ने माना है। इस प्रकार यहाँ दो भिन्न पक्षों में समास भी दो भिन्न ही होंगे। यह विशेषण श्लोक के प्रथम शब्द से प्राप्त है अत: यह स्पष्ट है कि कवि ने श्लोक का आरम्भ दो भिन्न समासों से बने विशेषणपद से किया। अब यह देखना है कि क्या कवि ने अगले विशेषणपदों में भी समासयोजना का यह क्रम रक्षित रखा है क्योंकि अभिव्यक्ति जिस क्रम से आरम्भ की जाती है उसे उसी क्रम से आगे बढ़ाया जाता है, नहीं तो उसमें बुद्धिभेद और खण्डितता चली आती है। विचार करने पर विदित होता है कि कवि ने यह क्रम अगले विशेषणपद में तोड़ दिया। अगला पद है **'बालातपनिभांशुक'**। इसमें कवि ने बीच में निभ शब्द दे दिया। निभ—का अर्थ होता है समान। अत: यहाँ अर्थ निकला 'बालातप के समान अंशुक'। इस प्रकार यहाँ विशेषणसमास की गुंजाइश नहीं रही। परिणाम यह हुआ कि इसका दिवसपक्ष में अन्वय न हो सका। यदि बालातपांशुक—शब्द होता तो

उसमें बालातप अंशुक के समान ऐसा विग्रह कर दिवस को उससे युक्त माना जा सकता था। यद्यपि मल्लिनाथ ने यहाँ निभ का अर्थ व्याज भी किया है और **'निभो व्याजसदृक्षयोः'** यह विश्वप्रकाश का वचन उद्धृत किया है तथापि उससे निर्वाह नहीं होता। व्याज अर्थ करने पर पूरे शब्द का अर्थ निकलता है 'बालातप के बहाने अंशुक से युक्त'। यहाँ व्याजशब्द के पर्याय निभशब्द से यहाँ बालातप का निषेध प्रतीत होगा और अलंकार होगा अपह्नुति। यह अलंकार सादृश्यमूलक है अतः यहाँ सादृश्यसाधक साधर्म्य की आवश्यकता होगी। वह कन्याराशिपक्ष में प्राप्त न हो सकेगा क्योंकि कन्याराशि और अंशुक दोनों की कोई ऐसी विशेषता प्रसिद्ध नहीं है जो दोनों में समान रूप से रहती हो। इसके अतिरिक्त, अपह्नव का आधार सादृश्य और उद्देश्य अभेदबोध होता है। उसके अनुसार प्रकृत में अर्थ निकलेगा 'बालातप तो बहाना है वस्तुतः यह अंशुक'। ऐसा अर्थ करने पर भी आपत्ति दूर न होगी क्योंकि दिवस के साथ अंशुक का संबन्ध संभव नहीं है। दिवस कोई वेतनपदार्थ नहीं है जिसमें वस्त्रधारण की योग्यता मानी जा सके। फिर 'निभ' कहने की आवश्यकता ही क्या थी यदि बालातप और अंशुक में अभेद भी बतलाना था। उसके लिए 'बालातपसुवाससम्' आदि कुछ कहा जा सकता था। यदि कन्याराशि अर्थ न मानकर प्रभाव अर्थ माना जाए तो साधर्म्यलाभ तो हो जाएगा परन्तु अंशुक का अन्वय दिवस के साथ पूर्ववत् ही अनुपपन्न रहेगा। फलतः यहाँ निभशब्द का अर्थ समान ही करना उचित है। ऐसा करने पर प्रथम विशेषण 'प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षम्' में भी केवल एक ही समास मानना उचित होगा उपमितसमास। ऐसा करना कवि की विवक्षा के अनुरूप भी होगा। वह भगवान् विष्णु का चित्रण कर रहा है। उसके लिए वह उनके प्रबोध के समय अर्थात् कार्तिकशुक्ल के उत्तरार्ध में उपस्थित दिन की ही उपमा देता है। उसकी सिद्धि के लिए साधारण धर्म की योजना पुण्डरीक और अक्षि या बालातप और अंशुक को परस्पर सादृश्य के आधार पर निष्पन्न बिम्बप्रतिबिम्बभाव से जनित ऐक्य के द्वारा अभिन्न बतलाकर करता है और प्रारम्भसुखदर्शनत्व में अनुगामित्व अर्थात् उभयान्वयित्व बतलाकर। इस प्रकार यहाँ कवि केवल इतना ही कहना चाहता है कि 'विष्णु भगवान् अपने प्रबोधपर्व के समय के दिन के ही समान लग रहे थे। दिन में खिले हुए कमल थे, भगवान् विष्णु में खिले हुए नेत्र, दिन में बालातप था, भगवान् विष्णु में पीतांशुक। इस प्रकार जैसे दिन दर्शनमात्र से चित्त प्रसन्न करने में क्षम या वैसे ही भगवान् भी। यहाँ कवि को केवल उपमा ही विवक्षित है। श्लेष नहीं। श्लेष की आवश्यकता यहाँ केवल साधारण धर्म की निष्पत्ति के लिए थी। वह ऊपर दर्शित क्रम से बिम्बप्रतिबिम्बभाव से ही संभव हो गई। इस प्रकार जहाँ श्लेष ही हट गया वहाँ दोनों ओर सभी विशेषणों को व्याकरण की व्युत्पत्ति के आधार पर भी अन्वित करने का प्रयास वृथा है। इसीलिए

बालातप और प्रारम्भ शब्दों की शल्यचिकित्सा भी व्यर्थ है। ऐसा करने से कविसम्प्रदाय की भी रक्षा हो जाती है। उसमें बालातप बालारुण, बालार्क, कोमलातप आदि शब्द प्रभातकालीन प्रकाश या सूर्य के लिए ही प्रयुक्त मिलते हैं—

१. दिग्विजय के लिए प्रस्थित रघु यवनस्त्रियों के मुखपद्मों पर छिटका गुलाबी रंग का मधुमद ठीक वैसे ही नहीं सहता जैसे अकालजलदोदय कमलों पर छिटके बालातप को— **यवनी—मुखपद्मानां सेहे मधुमदं न स:।**
बालातपमिवाब्जानामकाल — जलदोदय:।। रघु० ४.६१ ।।

यहाँ अकाल का अर्थ शरत्काल भी किया जा सकता है क्योंकि जलदोदय का स्वाभाविक काल होता है प्रावृट्। शरत् की पृष्ठभूमि पर बालाशब्द की कल्पना कर उसका कन्याराशि अर्थ करना संभव है किन्तु जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका कन्याराशि अर्थ से आतप की तीक्ष्णतामात्र का ज्ञान हो सकेगा उसकी आरक्तता का नहीं। ऐसा होने पर मधुमद के साथ प्रतिपादित सादृश्य निष्पन्न न होगा क्योंकि उसके लिए अपेक्षित साधर्म्य यहाँ न मिलेगा। मल्लिनाथ और हेमाद्रि ने भी यहाँ बालातप से कन्याराशि अर्थ नहीं निकाला है। हेमाद्रि ने स्पष्ट लिखा है कि यहाँ आतप को बात कहकर उसकी अरुणिमा की ओर संकेत किया गया है—

अकाले शरदि जलदोदय: पद्मानां बालातपमिव
०००बालातपत्वेन अरुणिमा आक्षिप्त:।।

मल्लिनाथ भी मद का अर्थ मदराग करते और अरुणिमा की ओर संकेत करते हुए बालातप को बात आतप अर्थात् अरूण वर्ण का प्रभातकालीन प्रकाश ही मानते हैं। उनका वाक्य है— **मदो मदराग:।**

बालातपशब्द से बाला अर्थ की कल्पना केवल तब होती है जब शरदृऋतुरूपी अर्थ निकाला जाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि यहाँ एकमात्र शरद् ही अर्थ लिया जाए। पद्मविकास वसन्त में भी माना जाता है। उस समय का जलदोदय भी अकालजलदोदय हो सकता है। वस्तुत: उसी समय का जलदोदय वैसा माना जाना चाहिए क्योंकि शरद् तो वर्षा से लगी लगाई ऋतु है। उसमें हुआ जलदोदय एक प्रकार, स्वाभाविक जलदोदय ही होगा। दूसरे मधुमद में जो एक खुमारी या ऊष्मा होती है वह शरद् की अपेक्षा वसन्तावतारकाल से अधिक अच्छी तरह व्यक्त हो सकती है। उस समय की अनुष्णाशीतता किससे छिपी है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यहाँ यह जो कल्पना की जा रही है यह इसलिए कि बालातप शब्द के साथ रागवाचक किसी शब्द का उपयोग नहीं किया गया है। हरविजय के महान् कवि ने बालातप के साथ उसका भी उपयोग कर दिया है। निम्नलिखित पद्य उसका उदाहरण है—

संवादि–षट्चरणतारकपक्ष्मपंक्ति–लक्ष्मीधरां धवलिमानमिवोद्गिरन्तीम्।
तन्व्या दृशं मधुमदो मुकुलीचकार बालातपः कुमुदिनीमिव गाढरागः।। २६.४३।।

यहाँ गाढराग बालातप क्या कन्याराशि का बालातप होगा। यहाँ मधुमद शब्द भी है ही। यदि बाला का अर्थ कन्या ही किया जाए तो क्यों न आतप का अर्थ भी उसको चढ़ा ज्वर माना जाए और उसके गाढराग को भी क्यों न रजोधर्म आदि की कुत्सित कल्पना कर जुगुप्साव्यंजक अर्थ कहा जाए। कन्या की गर्मी और हो ही क्या सकती है। रजोधर्म को छोड़कर उसका व्यंजक भी क्या माना जा सकता है। सर्वथा यहाँ बालातपशब्द प्रभात की कोमल धूप के लिए ही प्रयुक्त है।

२. इन्दुमती के स्वयंवर में उपस्थित पाण्ड्यराज अपने विशाल शरीर पर हरिचन्दन का लाल लाल अंगराग लगाए हैं अतः वह ऐसा लग रहा है जैसा कोई गिरिराज अपनी चोटी के बालातप से रक्त होने पर लगता है–

पाण्ड्यो–यमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्तांगरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः।। रघु०६.६०।।

यहाँ स्वयं कालिदास ने ही बालातप के समय रक्त शब्द दे दिया है। क्या पर्वत को कन्या के ज्वर से रक्त माना जाए। यह पद्य संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों में बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक उपमा के लिए प्रसिद्ध है। सबने यहाँ बालातपशब्द को बाल और आतप इस प्रकार विगृहीत मान बालशब्द को आरुण्य का व्यंजक माना है। यह आवश्यक भी था, क्योंकि ऐसा न करने पर सानु में रक्तशब्द से जो ललोंई अभिधावृत्ति द्वारा बतलाई जा रही है उसका उपपादन न हो पाएगा। क्योंकि आतप बाल है अतः वह लाल है और इसीलिए उससे सानु रक्त है। उधर हरचिन्दन भी लाल चन्दन का नाम है। यदि रक्तशब्द छोड़ भी दिया जाता तो उपमान पक्ष में रक्तता का आक्षेप उपमेयगत रक्तत्व के सामर्थ्य से भी हो ही जाता। कादम्बरी के शिल्पी ने भी इस प्रकार का एक चित्र खींचा है। वह कहता है–

तारापीड के राजकुल अर्थात् राजकीय दुर्ग में जो सामन्त थे धवलवर्ण की पगड़ी से विकट किरीट बांधे हुए थे जिनमें मोतियों की मालाएं लटकी रही होंगी अतः जो निर्झरयुक्त शिखर पर बिखरे बालातप से मण्डित कुलाचल से लग रहे थे– **अनेकसहस्रसंख्येन धवलोष्णीषपट्टाश्लिष्ट–विकटकिरीट–संकटशिरसा सनिर्झर–शिखरा–वलग्न–बालातप–मण्डलेनेव कुलाचलचक्रवालेन सामन्तलोकेन अधिष्ठितम् राजकुलम् विवेश।** वैद्यसंस्करण पृ० ८८।।

यद्यपि यहाँ बालातप में धवलता की कल्पना की गई है तथापि बाण को उसमें रक्तता भी विदित है।

शूद्रक के वर्णन में भी कादम्बरीकार ने ऐसा ही चित्र प्रस्तुत किया है–

अतिसुरभि–चन्दनानुलेप–धवलितोर:स्थलम् उपरि–विन्यस्त–कुंकुम–स्थासकम् । अन्तरान्तरानिपतित–बालातप–च्छेदमिव कैलाशशिखरिणं रांजानमद्राक्षीत्।। –वैद्यसंस्करण पृ० ९

स्पष्ट ही यहाँ कवि बालातप में रक्तवर्णता स्वीकार कर कहा है। सफेद चन्दन का लेप किए हुए राजा कैलाश के समान और माथे पर कुंकुम का लेप बालातपखण्ड के समान। इस प्रकार दोनों के अपने विजातीय वर्णों का पृथक् और स्पष्ट उल्लेख यहाँ है ही।

३. बालातप के साथ ऊपर पाण्ड्यवर्णन में कवि ने जो रक्त शब्द जोड़ा था वही उसने उर्वशी वर्णन में भी जोड़ा और कहा–'रक्तवर्ण' की संगमनीय मणि से रंजित उर्वशी का ललाट बालातप से रक्त कमल की छवि धारण कर रहा था–

स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मणेर् ललाटनिहितस्य।
श्रियमुद्वहति मुखं ते बालातप–रक्त–कमलस्य।। विक्रम० ४.७४।।

बालातप से कमलों में क्या अतिशय आता है यह इस पद्य से अच्छी तरह स्पष्ट है। यह मानों कवि के द्वारा अपने ही मुख अपने प्रिय अभिप्राय का विशदीकरण है। भला यहाँ भी कोई कन्या की ओर बढ़ सकता है।

बालातप शब्द के ही समान कालिदास **बालारुण** शब्द का भी प्रयोग करते हैं। रघुवंश के सातवें सर्ग में युद्ध का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं–

१. लोचनमार्ग को ढँकते और चहुँओर फैलते रजोन्धकार के लिए कटे हुए अश्व, द्विप और वीरों का रुधिरप्रवाह बालारुण सिद्ध हुआ–

आवृण्वतो लोचनमार्गमाशु रजोन्धकारस्य विजृम्भितस्य।
शस्त्र–क्षताश्व–द्विप–वीर–जन्मा बालारुणोऽभूद् रुधिरप्रवाह:।। ७.४२।।

यहाँ वाक्यार्थ है– *'अन्धकारतुल्य धूल को बालातपतुल्य रुधिरप्रवाह ने शान्त कर दिया'।* इसमें बालातप को अन्धकार का जो शामक बतलाया गया है यह तभी संभव है जब उसको प्रभातकालीन आतप माना जाए। अत: यहाँ उसका अन्य कोई अर्थ करना संभव ही नहीं है।

२. कुमारसंभव की मधुश्री बालारुण कोमल राग से चूतप्रवालोष्ठ को अलंकृत करती है– **लग्नद्विरेफांजनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य ।**
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार ।। कुमार० ३.३०।।

यहाँ अधर के प्रसाधन के रूप में उल्लिखित राग के परिप्रेक्ष्य में बालारुण शब्द का प्रथम पद बाल ही होगा और उसका अर्थ प्रभातकालिक ही किया जाएगा कन्याराशि नहीं।

३. कुमारसंभव की ही पार्वती जी तप:समाधिकाल में हार छोड़कर बालारुणबभ्रु वल्कल धारण करती हैं–

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्त–चन्दनम्।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति।। कुमार०५.८।।

यहाँ भी पिशंगवर्णता का ज्ञान कराने के लिए अरुणशब्द के पहले कवि ने बालशब्द का प्रयोग किया। बभ्रु–शब्द देकर उसने सादृश्य के लिए अपेक्षित साधर्म्य भी प्रस्तुत कर दिया। इन स्थलों में अरुणपद स्वयं भी रक्तवर्णता का प्रत्यायन करता है तथापि कवि उसमें और भी अधिक रक्तवर्णत्व देखना चाहता है। बालशब्द का प्रयोग उसकी इसी इच्छा का सूचक है। वस्तुत: 'प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षम्' पद्य में आतप शब्द से टीकाकारों ने जो सूर्यरूपी अर्थ निकालना चाहा था उसका ठीक स्थान ये स्थल थे जिनमें कवि ने अरुणशब्द का प्रयोग किया है।

बालारुणशब्द के ही समान कवि 'नेबालार्क' और 'तरुणार्क' शब्द का भी प्रयोग किया है।

बालार्क। रावण के कटे सिर जो लहूलुहान थे गिरकर भूमिसात् हो जाने पर ऐसे लग रहे थे जैसे पानी में झलक रहे बालार्क प्रतिबिम्ब हों–

बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यत: ।
रराज रक्ष:कायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा ।। रघु० १२.१००।।

तरुणार्क–समाधिस्थ शिव की सपर्या के लिए प्रस्थित वसन्तपुष्पाभरणा पार्वती ने जो शाटिका पहन रखी थी वह तरुणार्क के समान गौरवर्ण की थीं–

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव।। कुमार०३.५।।

इन दोनों ही स्थलों में अर्क के साथ आए बाल और तरुण विशेषण रक्तत्व के ही द्योतक हैं। हो सकता है कवि को 'वसाना तरुणार्क' इस योजना में तरुणशब्द के पहले अकार का प्रश्लेष विवक्षित हो और उसने यहाँ भी तरुणार्कशब्द न देकर अतरुणार्क शब्द दिया हो जिससे उसने बालत्व का भाव ही व्यक्त करना चाहा हो जिसके लिए वह अनेक बार बालशब्द का प्रयोग कर चुका है। यद्यपि आगे आने वाले पद्य में वह तरुणारुणशब्द का ही प्रयोग कर रहा है। मल्लिनाथ ने पद तो माना है तरुणार्क, किन्तु पर्यायशब्द दिया है बालार्कारुण–

तरुणार्कस्य राग इव रागो यस्य तत् बालार्कारुणमित्यर्थ:।

रावणवर्णन में तो इस अर्थ के विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ उसके सिर रक्तरंजित है ही। उन्हें लाल सूर्य की ही उपमा दी जा सकती है।

तरुणार्क शब्द के ही समान कवि ने तरुणारुणशब्द का भी प्रयोग किया है।

रघुवंश के प्रबोधमंगल में वह हाथियों के तरुणारुणराग से रंजित दन्तकोशों को वप्रक्रीडा में तोड़े गैरिकाद्रितटों से रक्त हुए से बतलाता है–

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरशृंखलकर्षिणस्ते।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगाद् भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः।। रघु० ५.७२।।

यहाँ गेरू का लाल रंग तरुण अरुण में अन्य कोई रंग कैसे जतला सकता है। कल्पना की आवश्यकता ही नहीं कवि ने स्वयं तरुणारुण के आगे राग शब्द का प्रयोग कर दिया है।

पूर्वोद्धृत स्थलों में सूर्य में नवीनता का प्रतिपादन करने के लिए कवि ने बाल शब्द का प्रयोग कर दिया है। उसका लाभ लेकर बालाशब्द और उससे कन्याराशि अर्थ निकालने का रास्ता निकाला जा सकता है। परन्तु जहाँ कवि ने सूर्य की नवीनता का उल्लेख किसी अन्य शब्द से किया है वहाँ कन्याराशि का पक्ष कहाँ जाएगा?

उदाहरणार्थ– **स तेजो वैष्णवं पत्न्योर् बिभेजे चरुसंज्ञितम्।**
द्यावापृथिव्योःप्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ।। रघु० १०.५४।।

अर्थात्, *दशरथ ने यज्ञ से निष्पन्न उस चरुनामक विष्णुतेज को दोनों पत्नियों में विभक्त कर दिया, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य अपने नवीन आतप को द्यावापृथिवी में विभक्त कर देता है।।*

यहाँ **प्रत्यग्र** शब्द का प्रयोग कवि ने प्रभातकालीनता के लिए ही किया है।

तं कृतप्रणतयो नुजीविनः कोमलाग्रनखराग–रूषितम् ।
भेजिरे नव–दिवाकरातप–स्पृष्ट–पङ्कज–तुलाधिरोहणम् ।। रघु० १९.८।।

अर्थात्, *यावक रंजित उँगलियों वाला अग्निवर्ण का गवाक्षलम्बित पैर ऐसा लग रहा था जैसा नवीन सूर्य की नवीन धूप से स्पृष्ट कमल लग सकता है।*

यहाँ भी कवि ने बालशब्द के स्थान पर 'नव' शब्द का प्रयोग किया है। यह भी प्रभातकालीन सूर्य के लिए ही है। लाल रंग के यावक की तुलना लाल आतप से ही की जा सकती है और वह आतप नवीन सूर्य का हो ही सकता है। यद्यपि सायंकालीन सूर्य के आतप में भी यह रंग रहता है, किन्तु उससे अस्त का अमंगल भासित होता है, अतः उसे कवि अपना नहीं सकता। प्रभातसन्ध्या के वर्णन में बाणभट्ट आदि ने इस प्रकार के आतप का पर्याप्त वर्णन किया है। स्वयं कालिदास भी–

वृन्तश्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य।। रघु०५.६९

अर्थात्, *प्रभात पवन वृन्तश्लथ पुष्पों को उड़ा रहा है और अरुणांशु से किंचिद् विकसित कमलों से मिल रहा है। वह आपके मुख की स्वाभाविक सुगन्ध को अन्य सुगन्धित द्रव्यों के संपर्क से अर्जित करना चाहता है ।।*

यावत् प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते किं वा रिपूँस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति ।।

रघु०५.७१

अर्थात्, *प्रतापनिधि सूर्य के उदित होने के पूर्व ही अरुण ने तम को निरस्त कर दिया। युद्धों में आप भी तो तब क्या आगे आगे चलते हैं आपके पिता शत्रुओं का वध करते हैं?*

अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवांकुरैः ।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ।। रघु० ९.४३।।

अर्थात्, *अरुणराग को भुला देने वाले अंशुकों, कान में लगे यवांकुरों और कोयल की कूकों ने विलासियों को स्त्रीमात्रपरायण बना दिया, वे सब काम की सेना जो ठहरे।।*

इन ओर ऐसे ही अनेक स्थलों में कालिदास केवल अरुणिमा की अभिव्यक्ति के लिए बाल, नव, प्रत्यग्र और तरुण आदि शब्दों के समान अरुणशब्द का भी प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार कालिदास **बालातप** शब्द से भी अपना वही प्रिय अभिप्राय व्यक्त करना चाहते हैं जिसे उन्होंने ऊपर दिए अन्य अनेक शब्दों से किया है। कवि के संपूर्ण साहित्य और उसकी समग्र अभिव्यक्तियों का साथ साथ अध्ययन करने पर किसी एक स्थल को यदि विजातीय क्रम से तोड़ा मरोड़ा जाए तो वह उस कवि की भारती की दुर्व्याख्या ही होगी। बालातपशब्द के संदर्भ में सुमतिविजय और चारित्र्यवर्धन ने ऐसा ही किया है। हमें आश्चर्य है कि इसके अनुकरण पर कुछ विद्वान् **'यवनीमुखपद्मानां'** पद्य के बालातप शब्द में भी बालाशब्द की कल्पना कर उससे कन्याराशि अर्थ निकालने लगते हैं। वहाँ तो यह अर्थ किसी भी स्थिति और किसी भी मात्रा में संगत नहीं हो सकता। **'प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षम्'** पद्य के साथ तो प्रबोधनी एकादशी का पूर्वसंदर्भ है। यहाँ शरद् में युद्धयात्रा के लिए निकलने के पश्चात् हूणदेश तक पहुँचते पहुँचते दो मास से अधिक समय लगना आवश्यक है, अतः उस समय तक सूर्य का कन्याराशि में रहना संभव नहीं है। विना इस प्रकार के प्रसंग के कन्याराशि का स्मरण आना संभव नहीं है। अतः यहाँ तो कन्याराशि अर्थ सर्वथा असंगत है।

प्रणय

महाकवि कालिदास की संस्कृत के कुछ अन्य शब्द भी ऐसे हैं जिनकी नानार्थकता से युगीन पाठक परिचित नहीं है। ऐसा एक शब्द है 'प्रणय' और एक अन्य शब्द है 'प्रथम'। प्रणय शब्द का प्रयोग स्वतन्त्ररूप से और प्रणयी आदि शब्दों के विशेषण के रूप में लगभग ५७ वार[१] किया है। अमरकोष से स्पष्ट है कि 'प्रणय' का

एक अर्थ विश्वास भी, एक प्रेम भी, किन्तु एक अर्थ 'याचना' भी है– 'प्रश्रयप्रणयौ समौ' (३.२३२५) की व्याख्या में भानुजिदीक्षित ने 'प्रणय' का अर्थ किया है 'प्रीत्या याचनम्' अर्थात् प्रेम से याचना करना।' कालिदाससाहित्य में प्रीति के अर्थ में 'प्रणय'—शब्द का प्रयोग ६ बार हुआ है, रति के अर्थ में २१ बार, किन्तु याचना अर्थ में ३० बार। सन्दर्भ निम्नलिखित हैं–

१. प्रीत्यर्थक ५ प्रयोग	१—२	कुमारसंभव ५.११, ३५
	३—४	शाकुन्तल ५.२२ तथा ६.१६
	५	मालविकाग्निमित्र ३.२३ तथा
	६	रघुवंश १०.५७
२. रत्यर्थक २१ प्रयोग	१—५	रघुवंश ९.३१, १६.७०, १९.७, १८, २१
	६	कुमारसंभव ८.११
	७—१०	मेघदूत १.४३, ६३, २.२३४, ४२
	११—१२	शाकुन्तल ५.२४, ३
	१३—१८	विक्रमोर्वशीय १.२, १३, २.१० प्रा, ३.१४, ४.३, ६२
	१९	मालविकाग्निमित्र ३

३. शेष ३१ प्रयोग याचना अर्थ में मिलते हैं, यद्यपि उनमें उपर्युक्त अर्थ भी जुटे दिखाई देते हैं। ये प्रयोग निम्नलिखित हैं–

१. रघुवंश २.४५, ५५, ५८, ६.१२, ९.५५, ११.२
२. कुमारसंभव ३.६६, ८.१४, ९०
३. मेघदूत ३, ५, १८
४. शाकुन्तल ३.१७, ७.१६ इत्यादि
५. विक्रमोर्वशीय १.२, ४ आदि अनेक
६. मालविकाग्निमित्र ३.३ आदि

मेघदूत के 'धूमज्योतिः' पद्य के चतुर्थ चरण में 'प्रणयकृपणाः' को अनेक मुद्रित संस्करणों में 'प्रकृतिकृपणाः' छाप दिया गया है। प्रकृति के स्थान पर 'प्रणय'—का पढ़ा जाना इसलिए अपरिहार्य है कि इसी का समर्थन 'अर्थान्तर'—वाक्य में आए 'याचना'—पद से होगा। प्राचीनतम टीकाकार वल्लभदेव ने 'प्रणयकृपणाः' पाठ ही माना है और स्थिरदेव ने भी। दक्षिणावर्त्तनाथ भी इसी पाठ को महत्त्व देते हैं।

---

१. द्रष्टव्यः हमारा लेख 'कालिदाससाहित्ये प्रणयशब्दार्थः' विक्रम नवमः ग्रन्थ विक्रमाब्द २०२३, सागरिका।

प्रथम[१]

इसी प्रकार का दूसरा शब्द है 'प्रथम', जिसका 'प्रमुख' अर्थ में भी प्रयोग स्वयं कालिदाससाहित्य में अनेक बार हुआ है, अतः मेघदूत के प्रथम पद्य में 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' पाठ ही माना जा सकता है। तदनुसार आषाढ की मुख्य तिथि अर्थ होगा और वह वही होगी जिससे 'प्रबोधनी' तक चार मास की अवधि बनती हो। यदि प्रबोधनी 'एकादशी' हो तो एकादशी, द्वादशी हो तो द्वादशी और पूर्णिमा हो तो पूर्णिमा।। प्रथम को प्रशम के रूप में बदलने का पक्ष इसलिए भी अमान्य है कि कालिदास के समय की लिपि में 'थ' ⊙ इस प्रकार लिखा जाता था और श Λ इस प्रकार। दोनों का भ्रम वर्त्तमान नागरी में संभव है, जिसमें 'श' और 'थ' में अत्यधिक साम्य है। कालिदाससाहित्य में ही प्रथम शब्द के निम्नलिखित प्रयोगों में उसका एकमात्र अर्थ है 'प्रधान/प्रमुख'—

१. प्रथमोपकृतं मरुत्वतः प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान्।
गणयत्यवदानतोषितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान्।। शाकु० ७.१।।

२. दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका—
दन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम्।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजङ्गं
प्रोवाच कोशलपतिः प्रथमापराद्धः।। रघु० ९.७९।।

३. राम इत्यभिरामेण वपुषा चाभिचोदितः।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम्।। १०.६७।।



१. द्र० सागरिका १५.३
'सौभाग्य' शब्द पर भी इसी प्रकार का विशद विचार इसी लेखमाला के अन्तर्गत मुद्रित हैं।

कला का उपेय

महामाहेश्वर आचार्यों ने अपने बहुआयामी साहित्य में जिन तत्त्वों पर विचार किया है उन सबका साध्य या उपेय एक ही है–रस।

रस–शब्द संस्कृतभाषा का अति प्रचलित और अति प्राचीन शब्द है। रस इक्षुरस को भी कहा जाता है और उसके आस्वाद को भी। आस्वाद है फल। उसका भोक्ता है सामाजिक का आत्मचैतन्य या प्रमाता। कलाओं से दोनों ही वस्तुएँ प्रकाश में आती हैं (१) आस्वाद्य भी और (२) आस्वाद भी। कलाओं से निष्पन्न रस, इसी कारण, उपेय भी होता है और उपाय भी।

कला एक समन्वित जीवन प्रस्तुत करती है। दुष्यन्त शकुन्तला पर आसक्त है। महर्षि दुर्वासा के शाप से उसे शकुन्तला का विस्मरण हो गया, किन्तु उसकी (दुष्यन्त की) चेतना में शकुन्तला स्थायी भाव है। विस्मरण के बाद भी दुष्यन्त शकुन्तला से परिचालित है और उसकी अन्तश्चिति, कहीं किसी कोने से आ रही इस धुन को सुन रही है कि 'शकुन्तला दुष्यन्त की अपनी है'। धर्म (कानून) और नैतिक दायित्व के मृदङ्गनिध्वान में यह ध्वनि सुनाई नहीं दे रही है, पर वह चुप नहीं हुई है। इसीलिए प्रमाता (दुष्यन्त) की चिति व्याकुल है। कविता ने दुष्यन्त की इस व्याकुलता को पकड़ा और उसे बाँध लिया। यह कविता मन्त्र बन गई और अमर हो गई। कालिदास के शब्दों में वह कविता या धुन यह थी–

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत् तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ।। शाकु० ४.३१ ।।

छोड़ दिया, भुला दिया, किन्तु हृदय अत्यधिक व्यथित है।

ऐसा क्यों?

इसलिए कि यहाँ कोई छिपा रिश्ता है जो सक्रिय है। उसका केन्द्र है हृदय। उसे बुद्धि पकड़ नहीं पा रही है। किन्तु उसका प्रभाव अव्याहत है। दुष्यन्त की व्याकुलता में वह पूरी गहराई के साथ प्रस्तुत है। भविष्यवाणी या सत्य स्वप्न इसी का सहोदर है। 'दीर्घापाङ्ग' मृगपोतक ने शकुन्तला का आँचल पकड़ा और उसे रोका हस्तिनापुर के पथ पर डग भरने से। यह भी शकुन्तला जैसे ही जीवन में पला था। उसकी माता ने भी उसे, सदा के लिए, जन्म देते ही छोड़ दिया था, वह शकुन्तला का सगा भाई था। किन्तु उस (दीर्घापाङ्ग) के संकेत पर ध्यान नहीं दिया गया। तथाकथित सामाजिक मर्यादाएँ बाध्य कर रहीं थीं वैसा करने हेतु।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ।। शाकु० ५.१७।।

'जो विवाहिता नैहर में ही रही आती है समाज उस पर शङ्का करने लगता है'— यह एक शाश्वत सत्य था, जिसने शकुन्तला की कण्वाश्रम से विदाई करवाई थी।' यह सत्य कम था, विकृत शंका अधिक। अन्तःकरण में छिपा चोर था यह समाज का। इसकी दवाई सोची गई और अन्तःकरण में निर्णय लिया गया— 'लड़की सयानी हो जाए तो उसे उसके पति के ही साथ रहना चाहिए'। ऐसा ही चाहते हैं 'उसके स्वबन्धु अर्थात् नैहर के लोग भी और उसके पतिगृह के लोग भी।' यहाँ यह नहीं सोचा जाना चाहिए कि 'पतिगृह में उसको प्रीति मिली है या नहीं।' कितना कड़वा है यह निर्णय, यह उपचार, यह दवाई। पर है यह अनिवार्य। इसका विरोध स्वयं शकुन्तला ने भी दुष्यन्त के ही दरबार में करना चाहा था। तब उसे शर्ङ्गरव ने डाँट दिया था 'पुरोभागा' कहकर। उसकी फटकार थी—'पुरोभागे! स्वातन्त्र्यमवलम्बसे?' विवाहिता के लिए 'स्वातन्त्र्य' कितना बड़ा अभिशाप माना गया है यहाँ। स्मृति (धर्म) का निर्णय भी यही था—'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति'। इसकी व्याख्या वहीं दे दी गई थी—'पिता रक्षति कौमारे।' स्त्री जब तक क्वाँरी हो, उसकी रक्षा उसका पिता करेगा। विवाह के बाद उसका पति करेगा उसकी रक्षा—'भर्त्ता रक्षति यौवने'। अन्त में स्त्री की रक्षा का भार होगा उसकी सन्तति पर—'वार्धके पुत्रपौत्रादिः (?)। सर्वथा 'स्त्री को संवासिनी ही होकर रहना है। एकाकिनी होकर रहना उसके लिए अच्छा नहीं।' यह स्त्री की नियति है। इसे लोक ने किया है निर्धारित। शकुन्तला की माँ भी स्त्री थी, किन्तु वह इन सब प्रतिबन्धों से मुक्त थी, क्यों? इसलिए कि वह—'मनुष्य, मानवी नहीं थी'। यानी उक्त नियति मानव लोक की थी, दिव्य लोक की नहीं। परन्तु यदि कोई 'मानवी' दिव्य हो तो, यथा 'सीता!' सीता 'अयोनिजा' थी और विदेहराज जनक के घर पली थी। निश्चित ही वह मानवी नहीं, कुछ और थी जिसे त्रैलोक्यविजेता रावण नहीं जीत पाया किन्तु जिसने रावण के विजेता राम को जीत लिया था। उसका कहना था—**'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा'** (वाल्मीकीय रामायण—मुझे राम से अलग नहीं किया जा सकता। सीता का दृढ़ निश्चय था—'प्राण जाएँ तो जाएँ, पर मैं रावण को राम का स्थान नहीं दे सकती—**'छिन्ना भिन्ना प्रभिन्ना वा दीप्ता वाग्नौ प्रदीपिता, रावणं नोपतिष्ठेयम्'** (वा.रा.)

लङ्का का नारीजगत् विस्मित है सीता के इस आग्रह पर।

ये हैं कौन जो विस्मित हो रही हैं?

ये हैं शेष सभी वर्गों की प्रतिनिधि सुन्दरियाँ। इन्हें रावण ने पैशाच विवाह से पकड़ रखा है। किन्तु तीनों लोक एक ओर और सीता एक ओर। वह सीता, जिसे

लंका के सुवर्ण–पञ्जर से छुड़ाया था महान्, सिद्ध योगी, वीतराग, आप्तकाम, मृत्युंजित्, अमर, अमितबल, और भक्त हनुमान् ने। हनुमान् सिद्ध योगी थे, क्योंकि उनमें सभी प्रकार की सिद्धियाँ थीं। उन्हीं ने प्रत्यक्ष किया था माता सीता की धर्मनिष्ठा का और उन्हीं ने पहुँचाया था भगवान् राम को सीता के पास। राम और सीता का जो दाम्पत्ययज्ञ खण्डित रह गया था उसे पूर्णता तक पहुँचाने में पुरोहित भी बने थे हनुमान् ही।

'त्रैलोक्य को ये हनुमान् सदैव उपलब्ध रहेंगे। क्यों? इसलिए कि ये अमर हैं।' यह अन्धविश्वास नहीं, अपितु, अनुभूत सत्य है। पुराकथाओं से यह स्पष्ट है। इस सत्य का स्वरूप है – **'यतो धर्मस्ततो जयः**

जीत कहाँ?

जहाँ धर्म।

धर्म क्या है?

धर्म है यम यानी संयम यानी 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह'[1]।

किसने कहा यह?

योगदर्शन के आचार्य महर्षि पतञ्जलि ने[2]।

हनुमान् में यह योग प्रतिष्ठित है। अतः ये अमर हैं और निरत हैं धर्मरक्षा में। ये ही आगे आए, सीता के सामने उपस्थित धर्मसंकट में। बच गईं सीता।

संकट उपस्थित हुआ व्यवस्था से, और दूर भी हुआ व्यवस्था से ही। एक व्यवस्था धर्म की जिसे तोड़ा वैयक्तिक (रावण की) हठवादिता ने। दूसरी व्यवस्था थी संयम की अर्थात् धर्म की ही जिसे हृदय से अपनाया हनुमान् ने।

हनुमान् यानी न मनुष्य और न पशु। ऐसे व्यक्तित्व में जो भाषा या वाक् होगी वह केवल सांकेतिक ही होगी। व्यक्त और विविक्त अक्षरों तथा पदों वाली वाणी या भाषा नहीं। सीता का हरण हुआ तो राम के आश्रम की लताएँ भी उन्हें बतलाने लगीं कि सीता को दक्षिण दिशा में ले जाया गया है। इसी प्रकार हरिणियाँ भी। एतदर्थ वे लताएँ दक्षिण दिशा की ओर अपनी शाखाएँ झुका रही थीं। इसी प्रकार हरिणियाँ भी दक्षिण की ओर ही अपनी बड़ी बड़ी आँखें घुमा रही थीं। इनका संकेत राम की समझ में कब आया? लंका से लौटते समय। राम ने समझा तो, परन्तु यथासमय नहीं। कवि ने इन संकेतों में निगूढ अस्पष्ट और अव्यक्त वाक् को आदर दिया और एक सनातन कविता प्रदान की–(रघुवंश १३.२४ तथा २५)–

त्वं रक्षसा भीरु! यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ।।

१–२. अहिंसा–सत्याऽस्तेय–ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः' पा.यो.सू. २.३०

'सीता भीरु और रावण भयावह राक्षस। जड़/अचेतन लताओं में करुणा उमड़ पड़ी।' इतना ही नहीं—

हरिणियों ने दर्भाङ्कुर से मुँह मोड़ लिया और घुमाने लगीं वे अपनी आँखें, पक्ष्मपंक्ति से भरी आँखें, 'दक्षिण' कहलाने वाली दिशा में।' निश्चित ही वे मुझसे ही कुछ कह रही थीं, किन्तु उनका वह सम्बोधन मुझे समझ में नहीं आ रहा था और मैं अबोध ही बना हुआ था तुम्हारे इस अपहरण के मार्ग से—

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवाऽगतिज्ञं समबोधयन् माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ।।

उक्त दोनों उद्‌गार भारतीय प्रज्ञा के कण्ठहार बन गए। ईसवी सन् की दशवीं शती के आसपास हुए महान् सहृदय कुन्तक ने इन्हें पँहचाना था और उनके ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित में इन्हें आदरपूर्वक उद्‌धृत किया था।

आपन्नसत्त्वा शकुन्तला पुरुवंश का अङ्कुर लिए हुए दुष्यन्त के समक्ष उपस्थित हुई, किन्तु उसमें छिपी सच्चाई को वहाँ भी पँहचाना नहीं गया। निर्णय धर्मशास्त्र (कानून) से पूछा गया। विधाता वाम था। गर्भवती शकुन्तला को असहाय बना दिया गया। एक ओर तो दुष्यन्त ने, अपराध स्वीकार करके भी 'परस्त्रीस्पर्श' के पाप से विमुख होना उचित समझा और दूसरी ओर कण्वाश्रम के तपस्वियों ने भी, क्योंकि यदि शकुन्तला स्वैरिणी थी तो उसका तपोवन में कोई भी स्थान शेष नहीं रह सकता था। फतवा दे दिया गया—

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया ।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः पतिगृहे तव दास्यमपि क्षमम् ।।

शकुन्तला को 'उत्कुला = कुल का उल्लङ्घन करने वाली' कहना सामाजिक न्याय की कटुतम परिणति थी। कितनी बड़ी विषमता? जिस शकुन्तला को 'आभरण का आभरण' और उपमानों का उपमान कहा गया था आज उसे 'उत्कुला' यानी 'स्वैरिणी' करारा जा रहा है। महान् नाटककार ने यहीं पँहचानी नाट्योचितता और कठिनाई का समाधान खोजने की अपेक्षा इस कठिनाई को ही कविता सौंप दी। 'प्रेम, नैतिकता, आत्मीयता, विश्वास, राजसत्ता और तप' सभी कुछ तो लग गया यहाँ दाँव पर। नियति कुछ और चाहती थी, अतः सभी तटबन्ध टूट गए और कोई काम नहीं आया। न दुष्यन्त की प्रभुसत्ता और न कण्व की तपश्चर्या। क्यों? इसलिए कि कण्वाश्रम में जो तपस्या होती थी उसकी गोद थी तपस्वी की मुसकुराहट, कुण्ठा नहीं। यहाँ तप तप था, यातना नहीं। शकुन्तला स्वयं भी लता थी, किन्तु वह वृक्ष सींचने का कठोर कार्य पूरा करती थी, इसलिए नहीं कि वैसी ही थी पिता की आज्ञा, अपितु इसलिए कि लता—पादपों से शकुन्तला का सोदर—स्नेह था, वह उन्हें सींचना सगे भाई

बहिनों की सेवा मानती थी। यहाँ कवि ने किसी भी प्रकार की विवशता या बाध्यता को नहीं अपनाया। वह पँहचानता था भारतमाता के स्वत्व या स्वभाव को। कविता की धारा टूटी नहीं। वह चलती चली आंई यहाँ तक। उसका आधार सुदृढ था, सुदृढ ही नहीं, सलोना भी था। शकुन्तला का प्रेम पेड़–पौधों और लतावल्लरियों पर इतना अधिक था कि वह अपनी साजसज्जा के लिए भी उनके पत्ते तक नहीं तोड़ती थी–'**नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्**' (शाकु० ४.९)। कविता अपने यौवन पर तब पहुँची जब उसने देखा कि तिर्यक् प्रकृति भी शकुन्तला की विदाई में जुट गई है। शकुन्तला को विदाई कौन देता है? आश्रम की प्रकृति ही दे रही थी उसे वह। किसी वृक्ष ने ओढ़नी दी, किसी ने अलता दिया और वनदेवियों ने दिए नाना प्रकार के आभूषण–

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवता–करतलैरापर्वभागोत्थितै–
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ।। शाकु० ४.५।।

इस विश्वात्मभाव की कविता की किससे की जाय तुलना? शैवसाधकों ने कहा था– 'यह जो जड दिखलाई देने वाला जगत् है यह है मुझ चेतन का स्थूल शरीर'–

विमतिपदमङ्ग! सर्वं मम चैतन्यात्मनः शरीरमिदम् ।
शून्यपदान्नीलावधि[१] दृश्यत्वात् पिण्डवत् सिद्धम् ।।

विरूपाक्षदेव का यह उद्घोष आश्चर्यजनक है, किन्तु अशक्य और असत्य या कल्पित नहीं। इन्द्र को मदमत्त हाथियों का द्वन्द्व–युद्ध देखने का शौक था। विरूपाक्षदेव के यहाँ उसने देखा–'लड़ रहे हैं दो पर्वत।' इच्छा करते ही जड़ हाथ उठने लगते हैं। क्यों? 'अस्मिता के संचार से'। यदि उस अस्मिता को जड़ पर्वतों में डाल दिया जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि जड पर्वत भी जङ्गम बन जाएँ। विरूपाक्षदेव ने इन्द्र के प्रबोधनार्थ यही लीला रची। महान् सन्त चांगदेव आदि भी ऐसे चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध हैं। साँईखेडे के साँई बाबा सिद्ध पुरुष थे। बतलाया जाता है कि पैर दबाने हेतु यदि अधिक भक्त इकट्ठे हो जाते थे तो वे अपना पैर लम्बा कर दिया करते थे। एक नाई उनके सिर पर छुरा चलाता ही रहता था। जब तक वह एक ओर के बाल बनाता तब तक दूसरी ओर फिर से बाल निकल आते थे। इस प्रकार मुंडन कार्य निरन्तर चलता रहता था दादा के सिर पर। इसका उत्तर एक ही है–'दादा की वैसी इच्छा।' नाई को सेवा का सुअवसर मिलता रहे इसके लिए वे इच्छा करते थे– 'उनके सिर पर बाल ऊगते ही जाँए।' यह हुआ चेतन का अचेतन के साथ ऐकात्म्य जिसका

१. '०पदादीलावधि' पाठ में शून्यपद आकाश और ईला = इला पृथिवी।

मूल है सर्वात्मभाव में। रामकृष्ण परमहंस को घूँसा लगा। वे जोर से चिल्लाए। भक्तगण पहुँचे तो देखा उनके शरीर पर घूँसे का निशान बना है। यह घूँसा उन्हीं के आश्रम के परिसर में किसी दुष्ट ने किसी भक्त को मारा था, परन्तु उसकी चोट आई इनको। क्यों? इस कारण कि वे उस समय अपनी चिति का विस्तार कर विश्वात्मभाव में अवस्थित थे। अन्य किसी को मारे गए घूँसे से इनका आहत होना इस बात का प्रमाण है कि वे उस समय 'विश्वात्मभाव' में थे और यह उनकी वास्तविकता थी। इस प्रकार की घटनाएँ यदि भूतविज्ञान से समर्थन प्राप्त नहीं कर पातीं तो इसमें कमी विज्ञान की मानी जाएगी। 'विश्वात्मभाव' एक यथार्थ अनुभव है, क्योंकि वह जिनके अनुभव में आया वे सभी महान् थे, विश्वसनीय और प्रामाणिक थे। गीता में विराट् रूप धारण करने जा रहे परमेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विराट् रूप के दर्शन की क्षमता वाली दिव्यदृष्टि प्रदान की थी। इन अनुभवों में मानवीय प्रज्ञा को अभी भी विश्वास है। एक भक्त ने महर्षि अरविन्द से जाने की आज्ञा माँगी। महर्षि ने दी दूसरे मुहूर्त्त में जाने की अनुमति। बाद में विदित हुआ कि निरस्त मुहूर्त्त में चला हवाई जहाज यात्रियों के साथ नष्ट हो गया। भारतीय भक्त मानेगा कि महर्षि ने भविष्य देख लिया था। विज्ञान इस घटना पर मौन रहेगा और तर्कशास्त्र भी। कोई हानि नहीं, क्योंकि कुछ सत्य और तथ्य ऐसे भी हैं जो इन दोनों (तर्क और विज्ञान) की पहुँच से परे रहते हैं। बहिन को यह आभासित हो जाता है कि 'उसका भाई आ रहा है।' बिना सूचना के ऐसा आभास? सत्य की सच्ची झलक? सच्ची यानी संवादिनी। विसंवाद भी था द्वार पर उपस्थित, परन्तु उसे प्रवेश मिल नहीं सका। किसने रोका उसे? वस्तुतः यहाँ विसंवाद ही वास्तविक है। संवाद का है अभाव ही। किन्तु घटित हो रहा है संवाद ही। यह कैसी लीला है? बात यह है कि संवाद प्रतिभा है, जिसका अधिष्ठान है चिति। यानी यहाँ द्रष्टा ही दृश्य है और दर्शन–क्रिया केवल दृक् है, दृङ्मात्र है वह, कर्त्ता भी, कर्म भी और करण भी, 'केन दृश्येत', 'किं दृश्येत' और 'कथं दृश्येत'। स्वप्न है क्या यह? नहीं, क्योंकि यहाँ नींद नहीं है। स्वप्न तो नींद में दिखाई देने वाली घटना है। तो क्या यह माया है? माया रहती तो सामने ही है, परन्तु पकड़ में नहीं आती। तो क्या यह कोई मतिभ्रम है? यह भ्रम अबाह्य हुआ करता है, केवल मति में ही पकड़ा जाता है यह। किन्तु यह है पूर्ण सत्य। असत्यता इससे बहुत दूर है। कैसे? मैं [१] अस्पताल में भर्त्ती था। सिर का आपरेशन हुआ था। लग रहा था कि स्वर्ग में हूँ, बनारस में नहीं, जबलपुर में हूँ। फिर लगा–'हिन्दूविश्वविद्यालय के अस्पताल में नहीं, राजघाट में बने किसी आश्रम में हूँ, यहीं बनारस में। सोच रहा था 'जबलपुर में हूँ परन्तु वहाँ के एक स्वजन मेरे पास नहीं हैं। क्यों?' सच यह था कि मैं जबलपुर में था ही नहीं। चेतना

१. मैं रेवा प्रसाद द्विवेदी

का ऐसा और इतना बड़ा वितान? और वह भी अपनी स्वयं की प्रतीति के रूप में उपस्थित। भ्रम, किन्तु भ्रमात्मक प्रमा जिसका प्रमाता 'स्व' ही। यह विवरण अन्य कोई देता तो मैं उसे झूठा ही कहता; किन्तु यह विवरण मेरा अपना है, अतः झूठ से बहुत दूर है। यह केवल सत्य है यानी सत्यकेवली है। यह हुआ मतिभ्रम। यह तब हुआ करता है जब पुण्य कार्य नहीं करता। और है यह कुल मिलाकर, आरम्भ से अन्त तक, नख से शिखा तक और शिखा से नख तक, झूठ ही, क्योंकि इससे कुछ भी मिलने वाला नहीं, चित्रलिखित गौ से दूध की नाँई। शकुन्तला—रहित दुष्यन्त को हुआ था इस स्थिति का अहसास। उसने कहा था—

स्वप्नो नु, माया नु, मतिभ्रमो नु, क्लिष्टं नु तावत् फलमेव पुण्यम् ।
असंनिवृत्त्यै तदतीतम्, एते मनोरथा नाम तटप्रपाताः[१]।।

शाकु० ६.१०।।

'यह नदी का टूटा किनारा है, टूटा सो टूटा ही। फिर उठा नहीं।' परन्तु नदी की धार रुकती नहीं, वह तटनिरपेक्ष रहती और अपनी दिशा में अग्रसर ही होती जाती है। और इसीलिए, उसे नए नए तट मिलते जाते हैं। या यूँ कहा जाए कि तट विवश हैं धारा से जुटने के लिए। वस्तुतः तट भी तो प्रातिभासिक ही हैं। वास्तविक तो है तटों के बीच की भूमि, जो बह चुकी है और आज जहाँ पानी बहता दिखाई दे रहा है, जिसे नदी कहना पड़ता है सही में तो वह एक गर्त्त है, गर्त्त = गड़हा, गड्ढा, श्वभ्र, खात, निखात कुछ भी कह लें उसे, किन्तु उसका अस्तित्व है, भले ही किसी अन्य परिवेष में हो वह। वह पुराण है, पुराकालिक तत्त्व है। कभी कभी वह भुला भी दिया जाता है। परन्तु विस्मृति भी उसे पाकर धन्य हो जाती है। जिस स्मृति के गर्भ में वह रह जाता है वह स्मृति—नामक प्रमाणवाक्य बन जाती है निश्छल, सरल, कर्त्तव्यनिष्ठ और सर्वथा अनुल्लेखनीय। यही हुआ करती है परम्परा, संप्रदाय, कुल, गोत्र, अन्ववाय और सन्तति। भारतीय संस्कृति इसकी आदि बन चुकी है।

हम यदि वाम तट पर खड़े हैं तो आइए उतरें, धारा पार करें, उस दक्षिण तट पर पहुँचे और सब कुछ देखें किसी एक अप्रतिहत धारा में निलीन। यह एक माला है। इससे प्रथम कड़ी जुदा होती है तो कमी नहीं आती, क्योंकि उसी क्षण अन्तिम कड़ी एक से दो होती जाती है।

यह देखिए कि हम किस पर आकृष्ट है उपेय पर या उपाय पर। शकुन्तला का सुन्दर शरीर है उपाय। उससे हमारी विक्षप्त चिति सिमटती और हमें 'स्व' के भीतर ले आती है। हमारा सारा विक्षेप दूर हो जाता है। इसीलिए हमें शकुन्तला सुन्दर लगती है।

---

१. 'क्लिष्टं' के स्थान पर 'क्लृप्तं' भी पाठ है द्रष्टव्य हमारी 'कालिदासग्रन्थावली' १९८६, प्रकाशक — काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, पृष्ठ संख्या—६२३

शायद वीतराग तथागत को वह कुछ और लगती, किन्तु हमें उपेय तक तो शकुन्तला की रूपमोहिनी ही पहुँचा रही है। और सुन्दर तो हम 'स्वयं' हैं। सुन्दरता का अवच्छेदक तत्त्व तो स्वत्व ही है, परत्व से जैसे ब्रह्म डरता है वैसे ही सुन्दरता भी। उपनिषद् का घोष है—'द्वितीयाद् वै भयं भवति' = डर लगता है दूसरे से'। फिर, उपाय—शब्द किस पर लागू होता है? एकमात्र उस पर जिससे उपेय सुलभ हो। उपेय है आनन्द यानी 'स्व'। आनन्द का भी केन्द्र स्व ही है और हम आनन्द को ही अपना बनाते हैं। उसमें एकत्व है। उपेय सबके लिए एक और 'केवल' ही है। तो, बखेड़ा उपाय में ही है।

हमें 'स्व' तक पहुँचाया जिन जिन साधनों या उपायों ने उनमें कला भी एक थी और है। अभिनवगुप्त कला को स्पष्ट रूप से इन्दुकला कहते और जिसके सिर पर वह विराजमान हो उसे इन्दुकलावतंस कहते और प्रणाम करते हैं—**'वन्देतमां तमहमिन्दुकलावतंसम्'**[१]। इन्दु यानी चन्द्र। चन्द्र यानी 'आह्लादकत्व' का अर्थ केवल आह्लाद कर लिया गया। यही अंश रस है। यही है रसनीय। किन्तु 'रस'—नामक अनुभूति में आनन्दमात्र हुआ करता है उपेय या साध्य। अभिनवगुप्त इसी उपेयांश को कला या कविता का 'स्व' और सौन्दर्य मानते हैं।

कला जिस 'कल'—धातु से निष्पन्न है। उसी से निष्पन्न हैं 'काल' और 'कलना'। काल, कला और कलना ही हैं भाव और अनुभाव से युक्त विभाव या विभाव+अनुभाव+व्यभिचारी=विभावानुभावव्यभिचारि—संयोग। यह होता है सामाजिक की चिति में। इसी से यह, वस्तु नहीं, भाव है। इसी से विभाव भी अजड या चेतन ही है और अनुभाव भी। इससे चिति के साथ जुटी आनन्दकला जाग उठती है। चिति ही है[२] स्थायी भाव।

कला प्रस्तुति है द्वैत की, किन्तु उस द्वैत की जो पहुँचाता या पर्यवसित होता है एकत्व, स्वत्व और अद्वय में। इसी सूत्र में बँधकर मृत्युञ्जय बने हैं कोणार्क, जगन्नाथ धाम और खर्जूरवाह (खजुराहो) जिनका बीज है वृन्दावन और उसकी मधुरा भक्ति। जयदेव उसी के उद्गाता थे 'जय देव, जय देव, जय जय देव! हरे!' यहाँ भक्त भी भगवान् था। इसीलिए दोनों ही थे **'पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्त्ती'**। यही था इनका जीवन और यही थी इनकी रसलीला यही था रास और महारास। इसमें राधा पार्वती और श्रीकृष्ण शिव। दोनों अविभक्त। महारस में लीन।।

---

१. अभिनवभारती का आरम्भिक मंगलपद्य।

२. चिति या अन्तरात्मा को स्थायी भाव मानने का पक्ष अभिनवभारती में भी मिलता है। हमारे 'नाट्यानुशासन' के अध्याय ५ 'रसभोग' में भी कहा गया है— 'चिदेवैका भगवती स्थायित्वं प्रतिपद्यते।।' कारिका—३५ प्रकाशक 'कालिदाससंस्थान, वाराणसी—५'

कालिदास का आधारभूत साहित्य

उनका आधारभूत साहित्य था तब तक अस्तित्व में आया वैदिक और सौगत साहित्य। वैदिक साहित्य उनकी मुख्य पीठिका थी, यद्यपि वे सौगत साहित्य से भी परिचित थे। अनेक भाषाओं का अस्तित्व भारतीय जनता में अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में मिलता है। उनमें से किसे चुना जाए इस प्रश्न का उत्तर कालिदास ने दिया—'उसे चुना और पूजा जाए जिसमें श्रुति (वेद) हों।' ये केवल संस्कृत में थे। उन्हें सुलभ थीं रामायण की व्यापक परिवेष में निष्पन्न संस्कृत की छन्दोबद्ध कविता भी और दार्शनिक घातप्रतिघातों की वैविध्यपूर्ण विशाल कृति महाभारत भी। इनके आधार पर ग्रथित 'भासनाटक' भी कालिदास के समक्ष था। जातककथाओं से भी कालिदास अभिज्ञ थे।

पाणिनि की अष्टाध्यायी और उस पर महर्षि पतञ्जलि द्वारा लिखित महाभाष्य भी कालिदास की प्रतिभा के अंग थे। भारतीय भूगोल और उस पर विकीर्ण विविध रीति–रिवाज भी उन्हें विदित थे। ये सभी तथ्य कालिदास की प्रतिभा के उपादान थे, किन्तु कालिदास का नाट्यसंरचना में सबसे अधिक जिस कलाशास्त्र की पीठिका दिखाई दी वह है भरतमुनि का नाट्यशास्त्र। इस शास्त्र में सिद्धान्त भी हैं और उनका व्यावहारिक प्रयोग भी। नाटक में नृत्य भी अपेक्षित है और संगीत भी। भरत ने इन अंगभूत उपकरणों पर १–२१ अध्यायों का निर्माण किया और २२वें अध्याय से अन्त तक उनकी समष्टि का प्रयोगपक्ष भी प्रस्तुत किया। प्रयोग की सिद्धि की कसौटी बनाई 'भावसिद्धि'। रस भाव की ही अनुभूति थी, अतः सिद्धान्त बनाया गया कि प्रयोग वह माना जा सकेगा उत्तम जिसमें 'आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक इन चारों का आनुपातिक, किन्तु हृदयस्पर्शी समन्वय हो। भाषाएँ केवल दो हों। एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत। प्राकृत यानी संस्कृत का ही भिन्न रूप। प्रयोगयोग्य, वस्तु न केवल अलौकिक या कल्पित हो और न केवल स्थूल लौकिकता में डूबी। इसे कहा गया 'कौशिकी' वृत्ति। वह वृत्ति जिसका संबन्ध शरीर से हो। इसी को बाद में कैशिकी भी कहा जाने लगा।

शिष्टता और सभ्यता को भी यथोचित स्थान दिया गया। एतदर्थ बोलचाल के शब्द तय किए गए। पूज्य का संबोधन क्या है, प्रिय का क्या, अधिकारी का क्या और पशु पक्षी भी उसमें जोड़ लिए गए। कालिदास के सामने नाटक का पूरा साँचा उपस्थित था। यह भी स्पष्ट था कि नाटक का आरम्भ कैसे होगा और अन्त कैसे। अन्त में 'भरतवाक्य' और उसके पहले 'प्रशस्ति' इन दो अंगों की गणना स्वयं भरत ने सन्धि के अंग के रूप में नहीं की, क्योंकि ये दोनों अंग नाटक के सफल प्रयोग और मंगल के लिए थे।महाकवि कालिदास ने अपना नाट्य शिल्प ऐसा लगता है कि जैसे महामुनि भरत के सिद्धान्तों के उदाहरण के रूप में उपनिबद्ध किया। नाट्यशास्त्र में

बाईसवें अध्याय से २५वें अध्याय तक भरत की जो जो देशनाएँ थी वे सब कालिदास नाटकों में यथावत् पाली गई हैं। अन्त:पुर में उतने ही पात्र जितने मुनि ने बतलाए और उनका व्यवहार भी वही जो नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित है।

बड़ी ही प्रसन्नता की बात यह है भरत ने भाषाओं में संस्कृत का भी निरूपण किया और फिर उन्हीं शब्दों को प्राकृत में किस प्रकार बोला जाए इसका भी निरूपण सोदाहरण किया। 'कालिदास की प्राकृत में एकरूपता नहीं है, इसलिए उसका संपादन संभव नहीं—' यह भी रिचर्ड पिशेल और उसके परवर्त्ती प्रो० अर्त्ते की जैसा कि उन्होंने विक्रमोर्वशीय में प्रतिपादित किया, कठिनाई भरतमुनि के प्राकृत—अध्याय से हट गई, और अब प्राकृत का भी चित्र कालिदास साहित्य में स्पष्ट हो गया।

राजा के अन्त:पुर में जिन परिगणित पुरुषों का प्रवेश स्वीकृत है उनमें कञ्चुकी, विदूषक, पुरोहित आदि का भी वैसा ही उपस्थापन कालिदास ने किया है जैसा महामुनि का निर्देश था।

नाट्यशास्त्र में नशे की विविधताएँ प्रतिपादित हैं। मालविकाग्निमित्र में इरावती नशे की ही स्थिति में रङ्गपीठ पर उपस्थित है। वह मद्यपान को युवतियों का अलंकार भी कहती है। मालविकाग्निमित्र में ही दो नाट्याचार्यों में विज्ञान संघर्ष प्रस्तुत किया जाता है। यह विज्ञान और संघर्ष स्वयं भरत का वचन है। 'प्राश्निक' परिभाषा भी कालिदास ने स्वयं भरतमुनि से ली है और नृत्य की समीक्षा जिस पदावली में की है वह भी स्वयं भरतमुनि की है।

नाट्य के आलेख को भरत ने दसों बार 'काव्य' कहा है। इस प्रकार कालिदाससाहित्य के नाट्य ही नहीं काव्यपक्ष को भी भरतानुमोदित कहा जा सकता है। नाट्य का रस क्या हो? भरत ने शृङ्गार को अधिक महत्त्व दिया, और स्वयं अपनी ओर से शृङ्गार रस के उत्तम श्लोक प्रस्तुत किए थे।' कालिदास में शृङ्गार की बहुलता का एक कारण भरतमुनि का नाट्यशास्त्र भी है।

कालिदास कृतिकार भी हैं और समीक्षक भी। यदि उनका शिल्प परम्परा से अनुमोदित है उसकी समीक्षा भी।

श्रव्य काव्य रघुवंश आदि से दृश्यकाव्य अभिज्ञान शाकुन्तल आदि का अन्तर उनके जिस रचनाविधान के आधार पर किया जाता है उसका ग्रन्थात्मक अनुशासन कालिदास को भरत के नाट्यशास्त्र के उन्नीसवें अध्याय से ही प्राप्त था। उसकी देशनाओं का कालिदास ने यथावत् परिपालन किया है।

भरतमुनि ने दस प्रकार के नाटकों में कथावस्तु को इतिवृत्त कहा और उसके दो प्रकार बतलाए **(१) आधिकारिक और (२) प्रासङ्गिक**। कालिदास के नाटकों में प्रासङ्गिक इतिवृत्त नहीं है। तीनों नाटक में केवल आधिकारिक इतिवृत्त ही है।

दोनों प्रकार के इतिवृत्त को जिस लिखित रूप में प्रस्तुत किया जाता है उसमें

कवि की उक्ति केवल रङ्गनिर्देश के रूप आती है। शेष सभी उक्तिप्रत्युक्ति कविनिबद्ध पात्र की उक्ति के रूप में ही रहती है। एतदर्थ वक्ता को रंगपीठ पर उपस्थित होना पड़ता है, जबकि श्रव्य काव्य में उसका मानसिंक बिम्ब ही श्रोता के चित्त पर अंकित होता है। इस प्रकार की व्यवस्था के अन्तर्गत लिखित नाट्यालेख भरत के शब्दों में 'काव्य' कहलाता है।

पात्र अनेक प्रकार के होते हैं। उनका वर्गीकरण उनके कार्य के आधार पर किया गया और उनमें से कुछ की भाषा संस्कृत रखी गई, किन्तु कुछ की प्राकृत। स्त्रियों में सभी को प्राकृत में बोलना था, केवल परिव्राजिका आदि कुछ विशिष्ट स्तर की स्त्रियों को छोड़कर। कालिदास ने अपने तीनों नाटकों में भाषा के इस प्रतिबन्ध को स्वीकार किया है। विकृमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में कुछ पाठकों ने प्राकृतगाथाओं का निवेश कर दिया है जिन्हें व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार प्राकृत के परवर्त्ती विकास 'अपभ्रंश' वर्ग में गिना गया है। भरत के अनुसार वह भी है प्राकृत ही। कालिदास की प्राकृत को भरत द्वारा प्रस्तुत प्राकृतनियमों पर ढालकर उनकी अनिश्चितता समाप्त की जा सकती थी।

नर्त्तकियों का एक वर्ग शिल्पकरिका या शिल्पकारिका का है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में दो शिल्पकरी प्रस्तुत की हैं। एक का नाम है मदनिका और दूसरी का ज्योत्स्निका (मा० ५.९.२–१७ संवाद) भरत ने २४.४५ में इनका निरूपण किया था। 'महादेवी, देवी, स्थापिता' आदि नाम से रानियों को गिनाया था भरत मुनि ने चौबीसवें अध्याय में इन सबका अन्तर प्रस्तुत किया है। कालिदास इन सब परिभाषाओं में से केवल तीन परिभाषाओं का प्रयोग करते हैं महादेवी, देवी तथा स्वामिनी। एक नायिका 'नाटकीया' भी मानी गई है (२४.४३)। उसमें आती है 'मालविका' जब तक उसे शाप मुक्ति नहीं मिलती।

सबसे अधिक महत्त्व की बात है **'प्राश्निक'** की। इस पद पर किसे नियुक्त किया जाए इस विषय पर भरतमुनि ने सत्ताईसवें अध्याय में (४७–५१) विस्तृत विवेचन किया। यह पूरा मालविकाग्निमित्रम् की पण्डित कौशिकी पर लागू है। नाट्याचार्य के भी गुण भरत ने गिनाए हैं और उनमें शिष्योपदेशदक्षता भी है। मालविकाग्निमित्रम् दोनों नाट्याचार्य शिष्योपदेश में दक्ष हैं ही। भरत ने शिष्य के गुणों का भी उल्लेख किया है, जिनमें मेधा (धारणावती धी) तो है ही प्रतिभा भी है। मालविका को गणदास स्वयं को पढ़ाने वाली शिष्या कहता है – **'यद् यत् प्रयोग' 'प्रत्युपदिशतीव मे बाला'** (माल० १.५)। नृत्य के अनुरूप जिन नारी अंगों का स्वस्थ रूप भरत प्रस्तुत करते हैं मालविकाग्निमित्र की मालविका उसीपर उकेरी मूर्त्ति लगती है। भरत ने नारी के यौवन की अनेक उतरती चढ़ती सीढ़ियों का रेखाङ्कन किया है। कालिदास के नाटकों की सभी नायिकाएँ लगभग २० से २५ वर्ष के बीच की हैं। उनमें

मुग्धा की सीढ़ी सभी पार कर चुकी हैं। इरावती मध्या भी है और प्रगल्भा भी। उर्वशी मध्या ही है, प्रगल्भा नहीं। काशीराज दुहिता महादेवी है। इरावती आदि 'स्थापिता' कोटि की है। सुन्दर सभी हैं।

नायकों में सबसे उत्कृष्ट है धीरोदात्त। कालिदास के सभी नायक धीरोदात्त ही हैं। पुरूरवा भी अग्निमित्र के ही समान वीर भी है, अतः ललितता अधिक होते हुए भी वह उदात्त हैं।

भरतमुनि ने सन्धियों के जिन ६४ अंगों की गणना की है, वे आगे पीछे भी आ सकते हैं और एक ही सन्धि में एकाधिक बार भी, ऐसा निष्कर्ष अभिनवगुप्त ने निकाला है। कालिदास उसमें स्वतन्त्रता बरतते हैं, किन्तु इन अंगों का जो प्रयोजन भरत ने निर्दिष्ट किया है, उसकी रक्षा कालिदास के नाट्यों में है।

सर्वथा कालिदाससाहित्य की वाचिक अभिव्यक्ति को सही सही समझने के लिए जिस प्रकार महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य का अभ्यास अपेक्षित है उसी प्रकार चारों प्रकार के अभिनय की बरीकी को समझने के लिए नाट्यशास्त्र का भी। सूच्य कथा वस्तु के लिए कालिदास के तीनों नाटकों में १४ प्रवेशक, विष्कम्भक या मिश्रविष्कम्भक हैं। दृश्य कथावस्तु के लिए अंक। शाकुन्तल में ७ अंक हैं शेष दोनों नाटकों में पाँच पाँच अंक। सूच्य कथावस्तु को प्रस्तुति के लिए कभी कभी एकाधिक प्रवेशक लगातार भी दे दिए जाते हैं जैसा कि कालिदास के ही शाकुन्तल के पाण्डुलेखों में दिए शीर्षकों से स्पष्ट है।

सर्वथा कालिदास भरत के सौन्दर्यदर्शन और कलासौष्ठव के अतीव भास्वर प्रतिबिम्ब हैं।

प्रयोग की दृष्टि से कालिदास की तीनों नाट्यकृतियों में सर्वाधिक सरस है मालविकाग्निमित्र। अन्य दोनों नाट्यकृतियों में कालिदास पराधीन हो गए हैं उस प्रवृत्ति के जिसे भरत ने नाट्यधर्मी कहा है। 'नाट्यधर्मी' प्रवृत्ति में 'विभावन' नामक उस गुण की अनुभूति मानी गई है, जिसमें वस्तु का भानमात्र होता है। वस्तु का बोध चित्र, दारुकर्म या पुस्त के द्वारा कराया जाता है। पुस्त का अर्थ स्वयं भरत ने पुतला किया है। उसे विविध वर्णद्रव्यों से रँगा भी जाता है। कक्ष्या भेद के द्वारा रङ्गपीठ की वीथिकाओं में विशाल उद्यान, वन, विशाल पर्वतश्रेणियों, नदी आदि की कल्पना की जाती है। इन सबको भरत ने नाट्यधर्मी कहा था। कालिदास के विक्रमोर्वशीय का नाट्यविधान इसी प्रवृत्ति से आरम्भ होता है। आकाश में अप्सराओं का चीत्कार सुनाई पड़ता है और कारण बतलाया जाता है अप्सराओं की सखी उर्वशी का केशी नामक राक्षस द्वारा अपहरण।' इस घटना का स्थान है अन्तरिक्ष। पुरूरवा ईशानकोण में गए केशी का पीछा करने हेतु अपने रथ की गति इतनी तीव्र करा लेता है कि वह आगे गए गरुड़ को भी पकड़ लेता। उसके रथ के प्रहार से मेघ छिन्न भिन्न हो रहे हैं। चक्के

इतनी तेजी से घूम रहे थे कि उनके बीच नए अरे उत्पन्न हो गए थे, घोड़ों के गले के केश एक धार में दिखाई दे रहे थे और ध्वज का पट अपने अग्रभाग में भी उतना ही स्थिर दिखाई दे रहा था जितना ध्वजयष्टि के भाग में (१.५)। सखियाँ हेमकूट पर्वत के शिखर पर आरोहण का अभिनय करती हैं। हेमकूट पर ही पुरूरवा का रथ उतरता है। उसमें बेहोश उर्वशी और उसकी सहेली चित्रलेखा है। उर्वशी को होश आया तो उसने उसकी सखियों के विषय में पूछा तो राजा ने दिखलाते हुए कहा 'ये रहीं, सखियाँ, यहीं इस हेमकूट शिखर पर'। यह हुई रंगपीठ पर दिव्यस्थान की उपस्थापना। इसी अवसर पर उर्वशी और पुरूरवा की आसक्ति का सूत्रपात होता दिखलाया जाता है। मुनि भरत ने ऐसे प्रसङ्गों को दिखलाने के लिए 'लोकधर्मी' प्रवृत्ति का विशद प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार पुरूरवा चतुर्थ अंक में प्रमत्त होकर घूम रहा है। वहाँ उर्वशी लता बनकर पुरूरवा की चेष्टाएँ देख रही है। 'मयूर, वृक्ष, चक्रवाक, सागर सभी से पुरूरवा गुमी प्रिया का पता पूछ रहा है। अपभ्रंश की गाथाएँ भी गाई जा रही हैं। ३२वें अध्याय में उनका पर्याप्त विवेचन भरत कर चुके हैं। आगे गिद्ध संगममणि को लेकर आकाश में घूमता दिखलाया जाता है। यह अभिनय भी टेढ़ा है। शाकुन्तल में दुष्यन्त इन्द्र के रथ पर आरूढ है और स्वर्ग से उतर कर महर्षि मारीचि के हेमकूट पर्वत स्थित आश्रम में सिंहशावक को परेशान कर रहे मनुष्य शावक को देखता है। यह सब पुस्तविधान के द्वारा निर्मित क्रीडायोग्य सिंह शिशु का ही ध्यान दिलाते हैं। प्रथम अंक में भी भागता हिरन ऐसा ही नाट्यधर्मी विधान माना जा सकता है। परित्याग के पश्चात् मेनका नामक अप्सरा का प्रकट होना यदि दिखलाना होता तो वहाँ भी नाट्यधर्मी प्रवृत्ति को ही अपनाना पड़ता।

विक्रमोर्वशीय में ही चतुर्थ अंक के अन्त में उर्वशी ने कहा—'महाराज! राजधानी छोड़े अधिक समय बीत गया। जनता में असूया जाग सकती है मेरे प्रति ।। चलिए लौटें ।' राजा के स्वीकार कर लेने पर उर्वशी ने पुन: पूछा 'आप कैसे चलना चाहेंगे?' तो पुरूरवा ने जो उत्तर दिया उसका मंचोपस्थापन केवल नाट्यधर्मी प्रयोग से ही संभव है। उत्तर में कहा 'मेघ को विमान बना लो और उससे लौटो।' रथ भी कैसा जिसमें पताका भी होगी। वह बन जाएगी चमकती बिजली। ऊपर चमकता इन्द्रधनुष बन जाएगा बहुवर्णीचित्र। शाकुन्तल में षष्ठ अंक में मेघच्छन्न प्रासाद दिखलाया जाता है जिस पर इन्द्र के सारथि ने विदूषक की गरदन तोड़ने का प्रयास किया था और वह अदृश्य रूप में त्राहि त्राहि कर रहा था। इन सब नाटकीय प्रसङ्गों का प्रयोग लोकधर्मी प्रवृत्ति से नहीं, अपितु कक्ष्याविभाग में परिकल्पित स्थानों के उपयोग के द्वारा नाट्यधर्मी प्रवृत्ति से ही दिखलाया जा सकता है।



कालिदास : अपनी बात

परिशिष्ट

श्लोकानुक्रम तथा नामादि सूची

अकार्यचिन्ता	१३९	अदः शरण्यं	११४
अकाले शरदि	३०९	अद्य प्रभृत्य	४
अक्लिष्टबाल	२६८	अधिकारः फल	७६
अक्षरादि	१९९	अध्यापित	१२८
अगस्त्यचिह्ना	३०५	अध्याहारः स्मर	२५४
अग्निहोत्री प्रभुदयाल	५८	अनवाप्तमना	१५८
अङ्गैरन्तर्निहित	२७४	अनाघ्रातं	९३, १५३, २४५
अजस्य गृह्णतो	१६०	अनादिनिधनं	७९
अणिमादिगुणो	१५६	अनृते चेत् प्र	३७
अत आहर्तु	३२	अनेन तनु	३४ टि
अतिप्रबन्ध	२२४	अन्तर्गतप्रा	१६३, २२७
अतोऽत्र कि	२०३	अन्वयेष	१६७
अथ काश्चिद	२८	अपि प्रसन्नेन	२४३
अथ का तम	२२८	अप्रातिकूलि	२३६
अथ जातु	१०९	अप्राप्तानां	१७९
अथ दुहितर	२९	अप्यग्रणीर्म	२४१
अथ नयन	२०, ९९	अभिजनव	५१
अथ प्रभावो	१६७	अभिज्ञानशाकुन्तल	१४, ३७, ५६
अथ मधु	९९	अभिनन्द	५९
अथ सर्वस्य	२३२	अभिनवगुप्त	११, २५५ टि
अथाग्रहस्त	२०१	अभ्यक्तमिव	१०१
अथवा कृत	८	अभ्यासनिगृ	१४८
अथवा नैत	३०६	अमी वेदिं	५३
अथाऽनपोढा	१०२	अयमरविव	१०७
अथास्य गो	२८	अयुक्तरूपं	१६३
अथान्यत्	१७५	अय्यर सुब्रह्मण्यम	१०१, २६७
अथैकधेनो	२२१	अरण्यबीजाञ्जलि	२०२
अर्थो हि कन्या	५०	अरुणराग	३१४

अरुणद् यवन: २७२ टि
अर्चिता तस्य १०१
अर्थशास्त्र १२२, १२७
अर्थ: स एव १९८
अर्थ: सहृदय ९
अर्थान्तरन्यास १०५
अर्थो हि कन्या ५०
अरुणगिरिनाथ २१८
अवलोक २७४
अवाकिरन् ३००
अविजितं हि १२३
अव्युत्पत्ति २८७
अश्वघोष २४८
असंपदस्तस्य १६६
असौ महाकाल ३टि
अस्ताबल ६
अस्त्युत्तर २
अस्त्युन्नते २५१
अस्त्रं हरादा ६९
अस्य नार्थेन ७३
अस्य क्षोणिपते: २५५
अस्या: सदार्क २०२
अस्या: सर्ग ३६, १००
अहमप्यवेमि ३८
अहो अहो १९
अहो आलेख्य २६५
अहो एषा राजर्षे २६६
अहो धिक् ३०६
अहो बतासि १२६
आ: तत्रभवत्या २६८
आर्तत्राणाय व: १२६
आत्मनोऽस्य १९८
आत्मसंपद् २२५
आत्मानमात्म १५२
आत्मस्थितं २३७
आदाय कर्ण ३१
आदार्यकर्ण ३१
आदाय कर्ण ३४ टि
आदिपुराण १७३
आधारबन्ध २४२
आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, डा० रामजी उपाध्याय २४८
आनन्दकानने ८३
आपादपद्म ९७, २४९
आप्लुतास्तीर १६५, १७४
आभरणस्या २४४
कालिदास अकादमी २१७
आमुक्ताभरणा १६९
आर्यशूर २०६
आयुषो यौव ११०टि
आलम्बन २३९
आवर्जिता ३१२
आविर्भूते १००
आवृण्वतो ३११
आश्वाश्यैवं १५
आषाढस्य प्रशम १८६
आसारधारा २११
आस्ते दामो २५४
आस्वादवद्भि: ६७
आरूढमद्री २६
आविर्भूते १००
इत: स दैत्य: ६८
इति काले २०९
इति द्विजातौ ९२
इति भावयत २०८

इति शत्रुषु २७
इत्थं क्षितीशेन ८९
इत्थं नाग १२६
इत्थं विसंस्थु २०४
इत्थं व्रतं धा २२२
इत्थं स्थिति २०६
इन्द्रयमस्थान २२३
इमां काव्य २७०
इयं च सुतवा २०२
इयं तु द्वादशी १८१
इयं महेन्द्र २०७
ईश्वरकृष्ण ५, २१२
उग्गलिअ ५३, २७३
उत्तररामचरित ७६, २१२
उत्तरसीताचरित ११९, १३३, १७९
उत्तरोपत्यका २०९
उतुङ्गोदय २१८
उत्पश्यामि २७१
उत्थितस्तु १४५
उत्पतद्भि २११
उत्फुल्लस्थल ६
उदयति वि ६
उदयनवेन्दु ८
उद्धातः प्रण १५५
उद्दामोत्कलिकां २५६
उद्भट आचार्य १९७
उन्मीलल्लील २५३
उन्मूलितं २४४, २५७
उपमानस ५
उपाध्याय रामजी १७, २४८
उभे एव ३३
उभे ममा १२६
उरो भुवा २९२
उवाच च यतः २०९
ऋतुसंहार १३
ऋतेऽपि ३८
एकं पादम १४५
एकस्त्वं सर्व १६०
एकस्यैव तु १७९
एकातपत्र ८५
एकादश्यां १८१, १८३
एकैव मूर्त्ति १५४
एकैश्वर्य्यस्थितोऽपि १४०, १५६, २४१
एतद्धि न तपः २०३
एतन्मुनेर्मा २७९
एष आज ८
एषा कुसुम २६८
एषां गिरेः १७३
एषा मनो मे १५६
एकादश्यां जग १९५
ऐयर सुब्रह्मण्यम् १०१
ओमप्रकाशलाल
श्रीवास्तव ६१
कथं च शक्यो २२१
कदम्बकुटजश्च १९४
कण्ठश्रियं २९४
कलया सुभगं ८०
कल्पद्रुमा १६८
कल्पवृक्ष १७१
कविकुलगुरु १२
कविकुलचक्रवर्त्ती १२
कविताकामिनीविलास १२
कवीश्वर १२
कश्चित् कान्ता २
कस्यात्यन्तं १०५, २५६
कातर्यं केवला ६५

का त्वं शुभे २८
कामजं मृगया २८२
कामशास्त्र २७१
कामः शिवाद् ६९
कामं प्रत्या ३१८
कामायनी १२३
कायेन वाचा २४२
कारूपेश्वर २९०
कार्त्तिकेऽमल १८१
कार्त्तिकेय कुक्कुटवाहन ३
कार्या सैकत २६७
कालदास ३
कालिदास ४
कालिदासकालीन भूगोल ७१
कालिदास गिरां २८९
कालिदासपत्रिका १९६
कालिदासग्रन्थावली ३, ७० टि, २१७
कालिदासग्रन्थावली
सं०पं०सीतारामचतुर्वेदी ६१
कालिदाससंस्थान
वाराणसी ३
कालिदाससाहित्य में
अलङ्कार १०४ टि
कालोऽस्मि ३
काव्यलक्षण १०
काव्यस्यात्मा १०
काव्यालङ्कारकारिका ९५, २५७, २६०
काव्यालङ्कारसार २००
काव्येषु नाटकं ४८
किन्तु वध्वां २२२
किं मे लुलिअ १६६
किमित्यपा २०५
किं येन सृज १५५, १५८
कियतापि यत्र १९८
कीथ ए.बी. ६३, २१३
कुन्तक २१८
कुबेरगुप्तां ३०४
कुमारदास ३, २५६
कुमारविजयमहाकाव्यम् १७, २२ टि
कुमारसंभवम् (१–८) १७, १३
कुले प्रसूतिः २०४
कुशं द्विषाम १५६
कूटयुद्धविधि १२३
कृतं न कर्णा २६७
क्रियाऽत्र ६६
क्रियानिमि २४२
क्रियाप्रति ६६
क्रियाप्रबन्धा १६५
क्रिडापतत्रि ११९
क्रोधलोभ २२५
कौटिल्य १२७
क्लमं ययौ २०४
क्व सूर्यप्रभवो ८, १०५
क्षणमौत्सुक्य २०८
क्षीराब्धौ शेष १८१
क्षीरोदवेलेव ९९
क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय २४८ टि
क्षौमं केनचिदिन्दु १७४, ३२१
खण्डक्षोदमृदि २५५
खट्वाङ्ग दिलीप २६
गङ्गाप्रपाता ५
गच्छन्तीनां २८८
गत्युत्कम्पा १६५
गन्धुम्माइअ १६७
करुडपुराण १४५
गिरा अरथ २५७

गूढमन्त्र २२५
गृहिणी सचिवः २६०
गृहीतप्रति १२३
गोकुलनाथ २१६
गोमेदकेन १७५
गोरोचनानि २५१
घटकर्पर ७
घनश्याम २१३—१४
चतुर्वर्गफल १५७
चतुष्कपुष्प २९६
चन्द्रगुप्त ५, ८२
चन्द्रं गता २००
चन्द्रमौलि ४
चित्रकला २५५
चित्रगताया २६४
चित्रे निवेश्य २४५
चित्रे शिवस्य ७९
छायेयं तव २०५
जगत्त्रयी २५३
जगद्योनि १५७
जनयामास ४०
जयदेव प्रसन्नराघव १२
जयशङ्करप्रसाद ५८
जागृष्व जा १८१
जानकीहरण ३, २५६
जालोद्गीर्णैरु २९०
जिगमिषु ३०४
जिनसेन १७३
जीमूतस्तनित ७५
ज्योत्स्नाम्बु २११
ज्ञातास्वाद २८७
ज्ञानोदय (अगस्त, १९६९) १२१
ज्योतिर्विदाभरणम् १३
ततः कोपं ९२
ततः प्रकोष्ठे १६३
ततः सपर्या २८१, २९०
ततः स्फुर १६६, २२७
तत्कर्म २२८
तत्कृतानुग्र १७१
तत्र नागफ ११८
तत्र पूर्वम १९८
तत्र वाच्यः १०
तत्र हूणाव ६० टि, १३०
तत्राग्निमाधाय २०९
तत्रान्तरे २९७
तथा कामोऽस्य २०८
तथातितप्तं २०१
तथापि शस्त्र २२६
तथाविधं २१
तदङ्गनिःष्यन्द ८६
तद्रक्ष कल्याण ८५
तदाप्रभृत्यु २०७
तं धीरा सह ३२
तं वने विजने ४० टि
तं सन्तः श्रोतु ८
तन्नास्ति यन्न २१०
तन्वी श्यामा २४५
तपति तनु १०३
तमर्थमिव २५८
तमाहितौत्सुक्य २२२
तमृषिः पूजया १६१
तयोर्दिवस्पते १६६
तरङ्गभ्रूभङ्ग ९६ टि
तस्मात् स १६६
तस्मिन् काले ३०३
तस्मिन् गते २९०

तस्मिन् क्षणे २२८
तस्मिन्नद्रौ १८५
तस्मिन् विप्र ५, २३२
तस्मै कुशल १०६
तस्य स्थित्वा १८५
तस्यादिक्रोड २०९
तस्याऽयमन्त २७९
तं कृतप्रण ३१३
तां पुलोम १६६
तां रक्तधारा ११०
तां लोप्रकल्केन २९६
तां शशिच्छाय २१०
तां शिल्पिसंघा २८०
तां हंसमाला ९८
तात्पर्यमेव २३७
तां दृष्टिविषये ११७
तां देवतापि २२८
ताभिर्गर्भः २०
तारकवधम् १९
तालैः सिञ्जा २७३
तावत् ३००
तिवारी रमाशङ्कर ०९
तिवारी रामचन्द्र ६२
तिसृभिस्त्वम १५४
तुज्झ ण जाण १०३
तुलसीदास २५७
तेण दूवे वि ७५
तेनाष्टौ परि २६५
ते बहुज्ञस्य १०२
तेषामाविर २३२
तेषां महार्हा १६६
तौ सन्धिषु २७६
त्यागः सत्यं २२६
त्याजितैः फल १३०
त्वं रक्षसा ३१९
त्रेधा दुःखं २१५
त्रैलोक्यनाथ १५६
त्वचं स मेध्या १२८
त्वदङ्गमार्द २०५
त्वदावेशित १५५
त्वं रक्षसा भीरु २४७
त्वमेव हव्यं १६०
त्वं पितृणा १५७
त्वया प्रिया २०
त्वामामनन्ति १६१
त्वामालिख्य २६४
दक्षिणावर्त्तनाथ १७
दण्डनीतिरेवैका १२४
दण्डी १०
दत्तानन्दाः २२८
दर्पणे च १३६
दर्शनसुख २६९
दर्शं दर्शं १९१
दाक्ष्यं शौघ्र्यं २२५
दिवं यदि २०६
दिष्टान्त ३१६
दीपशिखा ६
दीर्घाक्षं श २४४
दुरितैरपि ११५, १२२
दुल्लहो पिओ २७३
दुःष्यन्तश्च ३८
दूरापवर्जि २२७
दृष्ट्वा स २१
देवव्रत ५
देवीभागवत १७३
दैत्यस्त्री ८१

द्रव: संघात १६०
द्विवेदी सदाशिवकुमार २२
द्विवेदी हजारीप्रसाद ४
द्विधा प्रयुक्तेन २७६
घनश्याम २१२
धनुर्भृतोऽप्य १७९, ३०६
धम्मपद ४
धिय: समग्रै: २२६
ध्वन्यालोकलोचन २११, ८५
न किलानुय १३८
न कृपणा प्र १३३
नदीनद्यन्तर ७७
न धर्म्मम ४
नन्दर्गीकर २४८ टि
नन्दवंश ३
नम:शिवा ३३
नमस्तस्मै ७५
नमस्त्रिमूर्त्तये १५४, १६०
नमो विश्व १५४
न मृगया २८२
नरेन्द्रदेव आचार्य ११८
नलोदय १३
नवकिसलय ३४ टि, १००
नवपलाश २५२
नवेन्दुना तन्न ९९
नवेषु (वनेषु) सा १०४
न हि बुद्धि १२५
नाटककार और काव्यकार कालिदास ९ टि
नन्दिनीविद्या १७६
नाट्यशास्त्र १२
नाट्यशास्त्र (अ३२) ३६, ७२
नाट्यानुशासन ७३
नानारत्नमयै: १७४
नाभिप्ररूढा १५७, ८१ टि
नारायण १२
निदानं जगतां २५७
निधानगर्भा ९८
निर्गतासु न वा ५७
निर्णयसिन्धु १८१ टि, १८३ टि
निर्मृष्ट ३०४
निर्वर्त्यते यै २४२
निवेद्येमं द्रुमं १७६
निशासु भा २८७
निशि स्वापो १९५
निष्कम्पवृक्षं २६१
निसर्गचित्रो २५०
नीवारपाकादि २४२
नृत्तं मयूरा ५३, २७२
नृपते: प्रति १३३
नेपथ्यदर्शिन १६९
नैवेन्दिराम ११६
नोर्ध्वमीक्षण १, ११२
नैषध १७३, २५२–२५५
न्यस्ताक्षरा २२९
न्यायकुसुमाञ्जलि १५९
पञ्चीकरण २३४
पण्डितराज २८६
पताका ७७
पतेद् यदि २०१
पत्यु: शिरश्चन्द्र १३६
पद्मं च निशि १९९
पयोधरै: पुण्य १६१
परस्परविरोधि ३७
पराभियोग २२५
परार्ध्यवर्णा ३
पर्यरक्षन्त ४०

पशुपतिरपि २०७
पश्य कल्पतरु १७०
पश्यन्ति ये १९४
पश्य पक्व फल १११
पश्य पश्चि १११
पाणिस्थित २१
पाण्डे गोविन्दचन्द्र ६२
पाण्डेय राजबली ६१
पाण्ड्योऽयमं १०२, ३१०
पातुं न प्रथमं ५१
पादानिन्दो ३०४
पानमक्षाः २८२
पुनर्नवा (उपन्यास) ४
पुरस्कृता २२७
पुरातनीं ब्रह्म २१
पुरा स दर्भा २७९
पुराणस्य कवे ६२
पुत्रो रघुस्त २६
पुष्टेन्द्रनीलवैदूर्य २०९
पुष्पं प्रवालोपहि २०१
पुष्यमित्र ३
पृथक्स्थिता ३३
प्रकरी ७७
प्रच्छन्ना शस्यते २१०
प्रजाराजा ६६
प्रजा स तन्त्रया १२४
प्रतायन्तां वाचो १९९
प्रतिकृति २६५
प्रतीयमानं पुन १०
प्रत्याहार १४७
प्रत्यर्थिभूता ३२
प्रत्यूषेषु ७
प्रतिकृतिरचना २६५
प्रत्यासन्ने नभ १८५
प्रथमोपकृतं ३१६
प्रबुद्ध ३०१
प्रभानुलिप्त ८१ टि
प्रभामहत्या १०१
प्रभावती २८
प्रयुक्तसत्कार २०३
प्रयोजनं कवेः २५९
प्रवरसेन ६
प्रवर्त्ततां ५४, १०८
प्रवालं कार १७५
प्रस्थितायां प्र २२९
प्रणानामनि १०७, १४४
प्रासङ्गिकं ७८
फुल्लुक्करं २९९
बन्धच्छेदं ११९
बभूव यस्य २०९
बहलरजसे २४०
बालार्कप्रति ३१२
बाहुभिर्वि ८१, १६६
ब्रह्मपुराण १८१
ब्राह्मं तु ७३
बृहद्रथ ३
भक्तियोगसु १५८
भवदनुग्रहपवित्रभाक् १३
भट्ट वसन्त ६८ टि
भयानकाभ्यां ३३
भरतमल्लिक १७
भर्तृमेण्ठ ६
भरतसिंह २१३
भरतस्तत्र २७७
भवः शर्वो रुद्रः २४०
भागीरथी ६२

भानु: सकृद् १०१
भारती कालि २८९
भावनोपनिषद् १७६
भावी त्वं ११३
भूत्वा चिराय ५२
भूर्जेषु मर्मरी २८२
भेदादभेदं ११०
भोगिभोगास ८१ टि
भोजराज २१९, २३७
भृकुटीकुटि ९२
मत्स्यपुराण १७४
मद्यतूर्यविभू १७३
मनोभिरुचि १७१ टि
मन्द: कवियश: ८७
मन्दाकिन्या: १६५
मन्दारकुसु १६५
मन्दारपुष्पै १६५
मनीषिता: २०३
मनोज्ञगन्धं २८४
मनो नवद्वार १४८
मरुत्प्रयुक्ताश्च ३००
मल्लिनाथ १४५, १८८, १८१
महर्धिनि कुले २०४
महाकवि (विरुद) १२
महाकवि कालिदास ५८
महाकवि वागियं कामधेनु: १७७
महातूर्य्यरवै १८३
महार्हशय्या २०४
महिम्न:स्तोत्र १५९
माइनकर ५, २१३
मातृगुप्त ७
मा निषाद १०
मामाकाशप्र १५६
मार्ग तावच्छृणु १४
मार्गैषिणी सा ९७
माघ २५०
मालविकाग्निमित्र १३, ३०
मिश्र राजेन्द्र ५, ११९
मुक्तशेषवि ८१ टि
मुक्तायशो १६९
मूर्त्तौ चित्रे वा २७०
मुद्रालङ्कार ८ टि
मुनिना भरतेन २३५
मूढं बुद्धमि ८७
मेढ: स्यामह० ५३
मूलं वा नील १७५
मृग्यश्च दर्भा २४७, ३२०
मृच्छकटिक १३८
मृणालिका २००
मेघदूत १३, १४
मेघदूत में शापावधि १८०
मेघसन्देश १४
मेघा गता १९४ टि
य: पूरयन् २८१
यच्च शब्देषु २६० टि
यतिपार्थिवं २७ टि
यतोऽभ्युदयनि ४
यतोऽभ्युदयो २७
यत्र कल्पद्रुमैरे १६९
यत्रौषधिप्रका २८८
यत् स लग्न २८३
यदपि तदपि १९९
यदि यथा ३२०
यदैव पूर्वे २०९
यद् ब्रह्म १४०
यद् यत् साधु २६६

यद्यहं वचना ३८
यद् वै पूर्व २१८
यवनीमुख ३०९
यस्मिन् कथान्त ७७
यस्मिन्नीश्वर १५६
यस्मिन् महीं १३८
यस्य त्वया व्रण २४६
यस्यां यक्षाः २८३, २९६
या दुग्धापि न २३०
या चैषा ९६
यामिनीदिवस ११२
यावत् प्रताप ३१४
यावदादिशति २९९
यावदेतानि १५७
यावद् भ्रियेत १४०
या सृष्टिः स्रष्टु २४०
यास्यत्यद्य ५०
युक्तामदा इरावती २८४
युगान्तकाल २०
युवा युगव्या २३४
यूथिका ७६
योगपट्टो २०५
रक्ताशोक ३४ टि
रघुवंश (१–१९) १३
रघुवंश (२२–३०) १३
रघुवंश २७१
रघुवंशदर्पण ४
रङ्गभङ्ग २०
रजोभिः स्यन्द १०५
रञ्जनसूरिदेव १९२
रत्नच्छाया २७०
रत्नद्वीपो १७६
रत्नाकर ६, २५१
रत्नावली १५६
रम्यान्तरः ५१
रसगङ्गाधर १०३ टि, २८६
रसान्तराण्येक १५५
रसोऽभिमानो २३८
राधाकृष्णन् सर्वपल्ली ११८
राम इत्यभि ३१६
रावणावग्रह १०५, १९४
रुदता कुत ११५
रूपभेदाः २७१
रेवत्यन्तो १८३
रेवाप्रसादद्विवेदी ६३
लग्नद्विरेफा ३११
लघुविवृति १७५
लिङ्गपुराण १७५
वत्सस्य ८९
वनान्त २११
वनेचराणां १०६
वन्दामहे ७९
वन्यवृत्ति २२६, ८७
वराहपुराण १८१
वल्मीकार्ध १०७
वल्लभदेव १७, १८२
वस्तुतः २५९
वहतो २५२
वागर्थाविव २, ७, १०२
वाग्गमी २२५
वाङ्मनः ११७
वापीष्विव ९८
वामेतर २६१
वाल्मीकीय रामायण १७४
विक्रम पत्रिका १८०
विक्रमोर्वशीयम् १३, ३५

विच्छित्ति	१६९	शाकुन्तल	४०
विदितं वो	३२, ७९, १५८	शाखानां वि	१७५
विद्योत्तमा	५	शापान्तो मे	१८०
विधेरमोघं	२२	शापोऽप्यदृष्ट	१०३
विनयन्ते	२८३	शाम्येत् प्रत्य	१२८
विनोचितेन	२०६	शिव: शिवां	३३
विमति पद	३२१	शिवराज्योदय (वर्णेकरकृत)	२८०
विमुच्य सा	३१२	शिवो रस	७९
विशिष्टाद्	२३८	शिशुपालवध	६, २५०
विशेषकान्त	२	शिष्यतां निधु	२६०
विषमोऽपि	२५०	शीर्णपर्णा	२००
विषयस्य (काव्यमीमांसा)	१७६	शुचौ चतुर्ण्णां	२०१
विष्णुधर्मो	२६०	शुचौ देशे	१४४
वीराद्भुत	२३६	शुद्धमाविल	११२
वीरैरनेकै:	३३	शुश्रूषस्व गुरू	५०
वीरराघव	२१३	शुश्रूषा श्रवणं	२२५
वृद्धोपदेश	२२५	शृङ्गारतिलक	१३
वृन्तश्लथं	३१३	शृङ्गारप्रकाश	१६, २३७
वेदान्तेषु	३	शृङ्गारवीर	२३६
वेदान्तपरिभाषा	८०	शैलानामव	१०६
वैवस्वतो मनु	८	शोक: श्लोक	२५९
व्यक्तिविवेक	११, १७१	शोधनात्	६६
व्यूढोरस्को	२३४	श्रिय: पद्मानि	८१ टि
व्रतराज	१८१ टि	श्रीमद्भगवद्गीता	१४४
शकटारम्	३ टि	श्रीश्रीहर्ष	२५२
शक्ति के वि	१२३	श्रुतबोध	१३
शङ्करदेव	१७	श्लिष्यन्ति	२५३
शब्दकल्पद्रुम	१८१ टि	श्लोकत्वमा	२५९
शब्दायन्ते	२८१	स कीचकै	२८१
शय्यां जहत्यु	३१३	सकृद् विवि	१२५
शरभङ्गम्	११ टि	स गां मदी	२२०
शशाम	२२३	स गौरीशि	२१०
शशिनमुप	९९	स चतुर्धा	४

सच्छिन्नमूल	१०४
सञ्चारपूता	९७, २२८, २५०
सञ्चारिणी	६
स तावाख्याय	११७
स तेजो वै	१०१, ३१३
स तत्र	३००
स तथेति	११५
सत्यामपि	१६१
सत्त्वात्मना	२३७
सतीमपि	३१८
स नन्दिनी	२२९
सन्तानकतरु	१६४
सन्तानकमयी	१६४
सन्तानकाकीर्ण	१६४, २९९
स पुरं	१७०
सप्तमाङ्के	२१७
सप्तर्षिकाङ्ग्रेस	७६
स पुरं पुरु	१७०
समतया	२२३
समाधि	१४९–१५१
सम्बन्धमा	७०
सम्वादो ह्यन्य	१९७
सम्मोहनं	१२७
संयुगे सां	१०९
सरसिज	१००
सरस्वतीतीर्थ	१७
सरस्वती स्वादु	१०
सर्वज्ञस्त्व	१५७
सर्वमेत	६६
सर्वस्तरतु	३७
संवादि	३१०
संवादो	१९७
स शङ्कर	२०
स सेनां	२४९
स स्थाणुः	२४१
स स्वयं च	२८३
स स्वयं प्र	२७६
सहकार	२६५
साक्षाद् दृ	१५५, १६०
साक्षी चैतन्य	८०
साङ्ख्यकारिका	२१४
साधु वयस्य	२६६
सा नीयमाना	१७२
सा संभवद्भिः	९८
सा सीतामङ्क	११८
साहित्यदर्पण	२८६
साहित्ये	२५७
सा हि प्रणय	१०१
सुतौ लक्ष्मण	२२७
सोऽधिकारम	२८३
सोऽर्थस्त	७०, २२०
सोऽहं तृष्णा	३२
सोऽहमिज्या	२२२
स्तम्भेषु यो	२७२
स्त्रीणामाद्यं	२८७
स्थाणुः स्थिर	२४१
स्थिताः क्षणं	२७२
स्थितप्रस्रब्धि	१४६
स्फुरता	३११
स्मरस्तथाभूत	२६१
स्वप्नवासव	१३७
स्वप्नेश्वर (सांख्यसारकर्ता)	२१३
स्वप्नो नु	३२३
स्वयंविशीर्ण	२००, २६४
स्वर्णं मीसक	२१८

स्वप्नेश्वर २१३

स्वातन्त्र्यसंभवम् ७९, ११३, ११४,११६

स्वातन्त्र्याय ३४

स्वामी करपात्रीजी ३३

स्विद्यतापि २०८

स्विन्नाङ्गुलि २६६

हंसश्रेणीषु २६

हठयोगप्रदीपिका १४६

हन्त शिवः ३३

हरविजय ६

हरस्तु किञ्चित् २०८, २६३

हरिर्यथै ९८

हरेणेव स्मर २०७

हविषे दीर्घ २२०

हस्तप्राप्य १६५

हस्तैरन्तर्नि २७४

हूण ३

हृदयमिषु २६४

हेमाद्रिभट्ट ४, १४५

हेमाम्भोज १७०

A Textual Study of Kumarasambhava Mss. 22

Eastern Book Linkers, Allahabad 5

Kalidasa and his age 62

Kalidasa His Arts and thoughts 5

Selected Sanskrit Inscriptions 57

Nature Humanbeing and Bliss 235



महामहोपाध्याय प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी की रचनाएँ

संक्षेप— कासंवा=कालिदाससंस्थान वाराणसी५; चौसंसी=चौखम्बासंस्कृतसीरीज,वाराणसी १; काहिविवि= काशीहिन्दूविश्वविद्यालय वाराणसी ५; सादि=साहित्य अकादमी, दिल्ली, संपसा=संस्कृतपरिषद्, सागर

महाकाव्य

१. **उत्तरसीताचरितम्**-१० सर्ग पद्य ६९९, १९९० हिन्दी अनुवाद, पञ्चम संस्करण कासंवा
२. **स्वातन्त्र्यसंभवम्**-३३ सर्ग, पद्य २६२०, हिन्दी अनुवाद, २००१, काहिविवि
३. **कुमारविजयम्** - ११ सर्ग, पद्य ९०२, हिन्दी अनुवाद, २००२, कासंवा

खण्डकाव्य

१. **शतपत्रम्** —पद्य ११५, हिन्दीअनुवादसहित, कासंवा, १९८७
२. **प्रमथः** —९ काव्य, पद्य ३५३, कासंवा, १९८८
३. **श्रीरेवाभद्रपीठम्**—१५३पद्य, I संस्करण,१९८८ II संस्करण—कासंवा हिन्दीअनुवादसहित,२००२
४. **संस्कृतहीरकम्**—५६० पद्य, १९८९, काहिविवि, ऐतिहासिक काव्य
५. **शकटारम्**—१२१ पद्य, नेल्सनमण्डेलामुक्तिकाव्य, कासंवा, २०००
६. **शरभङ्गम्**—१११ पद्य, अध्यात्मरहस्यकाव्य, कासंवा, २००१
७. **मतान्तरम्**—११३ पद्य, युगविडम्बनाकाव्य, कासंवा, २००१
८. **शरशय्या—क. सुगतो ब्रवीति**—११७ पद्य, २००२ बुद्धमूर्त्तिध्वंसभर्त्सना, कासंवा,
ख. वृद्धकुमारि!—१२९ पद्य, मुगलशाहजादियों की मनोदशा, कासंवा,२००२
ग. शरशय्या—१०३ पद्य, भीष्म की परिदेवना, २००२, कासंवा,
क्रमांक ५ से ८ तक हिन्दी अनुवाद भी
९. **अवदानलतिका**—२३०पद्य, ६ जैनों और ६ विप्रों का आज तथा
१०. **अमरीकावैभवम्** आदि प्रकाशनाधीन

नाटक

१. **यूथिका** ४ अङ्क, १९७६, कासंवा
२. **सप्तर्षिकाङ्ग्रेसम्** १० अङ्क, २०००, कासंवा

स्वरचित नवीन शास्त्र

१. **काव्यालङ्कारकारिका**—संस्करण-२ कासंवा,२००१,१.हिन्दी,२.अंग्रेजी अनुवादसहित
२. **नाट्यानुशासनम्**— १—५ भाग- **१. नाट्यानुशासनम्, २. भरतदर्शनम्, ३. नाट्यशारीरकम्, ४. कलासमाधिः, ५. रसभोगः**
सभी हिन्दी अनुवाद सहित, कासंवा, १९९६.
३. **साहित्यशारीरकम्**—साहित्यशास्त्र के इतिहास का नवीनक्रम, संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९८

कथा — १. त्रिपादी, २. कोऽसौ, ३. कस्य दोषः, सादि

मोनोग्राफ

१. आनन्दवर्धन—हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७३
२. भारतीय काव्यसमीक्षा में अलङ्कारसिद्धान्त—मेकमिलनएण्डकम्पनी, दिल्ली, १९८०
३. साहित्यसन्दर्भाः—कासंवा, १९७०, २००४
४. कालिदास मानवशिल्पी—महाकवि, कासंवा, १९७३
५. कालिदास : अपनी बात, कासंवा, २००४

शेष पिछले पृष्ठ पर